शारदातनय का भाव प्रकाशन

विवेचनात्मक अध्ययन

डॉ. शशि तिवारी

शारदातनय का भावप्रकाशन

विवेचनात्मक अध्ययन

डा० शशि तिवारी

शारदातनय का भावप्रकाशन

विवेचनात्मक अध्ययन

डा० शशि तिवारी

कैशिकी प्रकाशन, आगरा
१६८४

© शशि तिवारी

प्रथम संस्करण १९८४
मूल्य ७०)

कौशिकी प्रकाशन
मदिया कटरा,
आगरा-282002

महेन्द्र गोस्वामी द्वारा
दी कॉरोनेशन प्रेस,
छिली ईंट रोड,
आगरा में मुद्रित

विषय-सूची

संकेत-सूची	पृष्ठ
अध्याय १. विषय-प्रवेश	१
अध्याय २. शारदातनय का व्यक्तित्व एवं कृतित्व	१६
१. शारदातनय का जन्मस्थान एवं जीवनवृत्त।	१६
२. शारदातनय का समय	१८
३. शारदातनय का व्यक्तित्व	२३
४. शारदातनय की रचनाएँ	२४
५. भावप्रकाशन का प्रतिपाद्य विषय	२६
अध्याय ३. शब्द-शक्तियों का विवेचन	३०
१. शब्द की वृत्तियाँ (शक्तियाँ)	३४
२. अभिधा का स्वरूप	३६
३. लक्षणा और उसके विभाग	३८
४. व्यंजना का स्वरूप (शाब्दी व्यंजना एवं आर्थी व्यंजना)	४३
५. तात्पर्य-शक्ति का निरूपण	४४
६. ध्वनिकाव्य एवं गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण	४७
अध्याय ४. भावों का निर्णय एवं वर्गीकरण	५२
१. भाव का सामान्य स्वरूप एवं विभाग	५२
२. विभाव का लक्षण एवं भेद-निरूपण	५४
३. अनुभाव का लक्षण एवं भेद-निरूपण	५५
४. स्थायीभाव का लक्षण एवं भेद-निरूपण	५९
५. व्यभिचारी भाव का लक्षण एवं भेद-निरूपण	६१
६. सात्त्विक भाव का लक्षण एवं भेद-निरूपण	६४
७. भावों का रस से सम्बन्ध	६८
८. शारदातनय का भाव-विषयक दृष्टिकोण	७०
अध्याय ५. रस-विषयक मान्यता	७८
१. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	७८
२. रस का स्वरूप	८७

३. रस के विभाग (संख्या) एवं भेद ६३
४. शृंगाररस का महत्त्व ११७
५. शारदातनय का रस-विषयक दृष्टिकोण १२१
अध्याय ६. **नायक-नायिका के भेद एवं उनकी अवस्था का विवेचन** १२४
१. नायक तथा उनके भेद १२५
२. उपनायक तथा उन (पूर्ववर्णित नायकों) के सहायक १२६
३. नायिका तथा उनके भेदों का विवेचन १३२
४. नायिका के यौवन, कोप, चेष्टा आदि का वर्णन १३७
५. नायिका की सहायिकाएँ १४०
६. उपसंहार १४१
अध्याय ७. **नाट्य का शरीर** १४३
१. नाट्य का सामान्य लक्षण १४३
२. नाट्य, नृत्त एवं नृत्य १४४
३. नाट्य का संगीत से सम्बन्ध १४७
४. नाद, वर्ण, श्रुति, स्वर आदि के सम्बन्ध में विचार १५०
५. गीति और छन्द १६६
६. नाट्य वस्तु का विवेचन १३८
७. पंच अवस्थाएँ, पंच अर्थप्रकृतियाँ, पंच संधियाँ १७१
८. उपसंहार १७६
अध्याय ८. **नृत्य भेद तथा नाट्य प्रयोग** १८१
१. नृत्य का स्वरूप एवं उसके भेद (तोटक, नाटिका आदि) १७८
२. नाट्य-प्रयोग के प्रकार १६२
३. समीक्षा २०५
अध्याय ९. **दशरूपक तथा उनके भेद** २०७
१. दशरूपक-लक्षण २०८
२. दशरूपकों की संख्या (नाटक, प्रकरण आदि) २२४
३. चार वृत्तियाँ २२५
(भारती, सात्वती, कैशिकी, आरभटी)
४. प्रस्तावना, विष्कम्भक आदि २२७
५. विभिन्न मतों की समीक्षा २२६
अध्याय १०. **नाट्यशास्त्र को शारदातनय की देन** २३३
मूल्यांकन २३५
परिशिष्ट : सहायक ग्रन्थों की सूची २४०

प्राक्कथन

भारतीय नाट्यशास्त्र को जिन मनीषियों ने अपनी अकाट्य प्रतिभा, अनुपम मनीषा, अलौकिक पाण्डित्य एवं असाधारण विवेचना कौशल से विभूषित कर प्रौढ़, लोकप्रिय एवं व्यापक बनाने का विपुल प्रयास किया है, उनमें 'शारदातनय' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'भावप्रकाशन' शारदा-सुत शारदातनय की प्रमुख कृति है। उन्होंने यह अनुपम एवं अद्वितीय ग्रन्थ लिखकर अपने रचना-कौशल एवं प्रगल्भ पाण्डित्य का प्रवर परिचय दिया है। उनका विशाल ज्ञान, विविधता एवं मौलिकता ही उनकी प्रखर प्रतिभा का प्रमाण हैं। नाट्यशास्त्र का प्रमुखतम एवं उपयोगी ग्रन्थ होने पर भी इनका 'भावप्रकाशन' अभी तक शोध के क्षेत्र से उपेक्षित ही रहा है। अपने शोध-प्रबन्ध द्वारा इस कमी को पूर्ण करने की दृष्टि से ही मैंने उक्त विषय पर शोध का संकल्प किया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का अनुसंधेय विषय है कि नाट्यशास्त्र के क्षेत्र में शारदातनय की मौलिक देन क्या है? उनका परवर्ती आचार्यों पर क्या प्रभाव पड़ा है? और उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के किन विचारों का आकलन किया है? वस्तुतः जब तक शारदातनय तथा उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों की नाट्यशास्त्र विषयक मान्यताओं का तुलनात्मक विश्लेषण नहीं किया जाय, तब तक उनके ग्रन्थ का सच्चा मूल्यांकन नहीं हो सकता। अतः उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों के विचारों के साथ तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत करते हुए भारतीय नाट्यशास्त्र में उनकी मौलिक देन एवं स्थान निर्धारित करना इस शोध-प्रबन्ध का उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये इस शोध-प्रबन्ध में उनके सिद्धान्तों के स्वरूप एवं महत्त्व का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध दस अध्यायों में विभाजित है। इसके 'प्रथम अध्याय' में सर्वप्रथम नाट्य-परम्परा के उद्गम एवं विकास का अन्वेक्षण किया गया है। साथ ही आद्य नाट्याचार्य भरत, उनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। 'द्वितीय अध्याय' में शारदातनय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अनुशीलन हुआ है। इसके साथ ही भावप्रकाशन के प्रतिपाद्य विषय की सामग्री का निर्वचन भी किया गया है। शोध-प्रबन्ध के 'तृतीय अध्याय' में मैंने शब्द शक्तियों

का विवेचन प्रस्तुत किया है, क्योंकि आगे आने वाले 'रस' की सिद्धि के लिये 'व्यंजना' का निरूपण अनिवार्य हो गया था। 'चतुर्थ अध्याय' में 'भावों' का स्वरूप एवं वर्गीकरण किया गया है जिसके अन्तर्गत भाव, विभाव अनुभाव, स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव एवं सात्विकभाव का विशद विवेचन तथा भावों का रस के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। शारदातनय ने भाव एवं रस का अटूट एवं गहनतम सम्बन्ध माना है। भाव एवं रस—इन दो तत्त्वों में शारदातनय की विशिष्ट रुचि है। अग्रिम अर्थात् 'पंचम अध्याय' में रस की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बताते हुए रस का स्वरूप, विभाग (संख्या), महत्त्व आदि का निरूपण मैंने प्रस्तुत किया है। साथ ही शारदातनय के रस-विषयक दृष्टिकोण पर भी सम्यक् रूप से विचार किया है। तत्पश्चात् 'षष्ठ अध्याय' में नायक-नायिका, उपनायक, सहायक, सखी आदि अनेक पात्रों के भेद, स्वभाव एवं उनकी विविध अवस्थाओं का निरूपण किया है। विभिन्न मतों का प्रदर्शन करते हुए शारदातनय का पात्र-विषयक दृष्टिकोण निर्धारित किया गया है। 'सप्तम अध्याय' में 'नाट्य का शरीर' सुगठित किया गया है जिसके अन्तर्गत नाट्य के सामान्य लक्षण के अतिरिक्त नाट्य, नृत्त एवं नृत्य का स्वरूप एवं परस्पर सम्बन्ध भी दिग्दर्शित हुआ है। शारदातनय ने विशेष रूप से संगीत (गीत, वाद्य, नृत्य) को रंगशाला का प्रमुखतम एवं आवश्यक तत्त्व माना है। उनके इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में संगीत का नाट्य से स्वाभाविक एवं महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया है। इसी संदर्भ में संगीत के विविध विषयों यथा—नाद, वर्ण, श्रुति, स्वर, गीति, छन्द आदि पर भी समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किये हैं। इसी अध्याय में नाट्यवस्तु का विवेचन, पंच अवस्थाओं, पंच संधियों एवं पंच अर्थप्रकृतियों का निरूपण प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् इस विषय में अन्य मतों की समीक्षा करते हुए शारदातनय के समन्वयात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। इस शोध-प्रबन्ध के 'अष्टम अध्याय' में नृत्यभेदों अर्थात् उपरूपकों के स्वरूप एवं विभाग (संख्या) के विषय में विभिन्न मत प्रस्तुत करते हुए शारदातनय द्वारा प्रतिपादित सर्वाधिक संख्या का निर्वचन हुआ है। इसी अध्याय में नाट्य-प्रयोग के विविध प्रकारों का विस्तार से आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत हुआ है। 'नवम अध्याय' में दशरूपकों का लक्षण एवं संख्या के विषय में विभिन्न मतों का तुलनात्मक प्रस्तुतीकरण किया गया है। इसी प्रसंग में भारती आदि चार वृत्तियाँ, प्रस्तावना, विष्कम्भक आदि भी निरूपित किये गये हैं। इस अध्याय के अन्त में विभिन्न मतों का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए शारदातनय की स्वस्थ विचारधारा का परिशीलन किया गया है। 'दशम अध्याय' में मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। सबसे अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत सहायक सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची दी गई है।

"शारदातनय के भावप्रकाशन का विवेचनात्मक अध्ययन तथा भारतीय नाट्यशास्त्र को उसकी देन" नामक यह शोध-प्रबन्ध डॉ. पी. एन. द्विवेदी के कुशल निर्देशन में आगरा विश्व विद्यालय द्वारा पी-एच. डी. की उपाधि हेतु स्वीकृत किया गया, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। प्राप्त सुझावों के अनुसार इस शोध-प्रबन्ध में यथासम्भव संशोधन भी करने का मैंने प्रयास किया है। इसके प्रकाशन हेतु "विश्व विद्यालय अनुदान आयोग" द्वारा जो अनुदान दिया गया एतदर्थ आभार प्रगट करती हूँ। इसके अतिरिक्त डॉ. विद्यानिवास मिश्र के आशीर्वाद के फलस्वरूप प्रकाशन का यह अनुष्ठान पूर्ण हुआ है, उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञ हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध में मैंने जिन आचार्यों के ग्रन्थों से सहायता ग्रहण की है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करते हुए उन्हे प्रणाम करती हूँ। अन्त में दी कॉरोनेशन प्रेस के संचालक श्री महेन्द्र गोस्वामी भी साधुवाद के पात्र हैं, जिनके सहयोग से यह शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुआ है।

आश्विन, सम्वत् २०४१ — शशि तिवारी

अध्याय १

विषय-प्रवेश

नाट्य-परम्परा का उद्‌गम एवं विकास

भारतीय साहित्य-परम्परा में नाट्य-परम्परा सर्वाधिक प्राचीन है। इस परम्परा का उद्‌गम कब हुआ, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु नाट्योद्भव के इतिहास का स्पष्ट विश्लेषण भारतीय वाङ्‌मय में उपलब्ध हो जाता है। प्राचीन काल में जन-रंजन के लिये इस नाट्य-कला का उद्‌गम हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। नाट्य-परम्परा का उपलब्ध प्रथम ग्रन्थ भरत-कृत नाट्यशास्त्र है, किन्तु भरत मुनि से पूर्व भी नाट्य एवं नाट्यशास्त्रियों का अस्तित्व निस्सन्देह विद्यमान था। नाट्यशास्त्र के आनुवंशिक श्लोक एवं आर्यायें भरत-पूर्व आचार्य-शिष्यों की परम्परा की ओर संकेत करती हैं। स्पष्ट है कि इन आर्यायों तथा श्लोकों से युक्त नटसूत्र भरत से पूर्व विद्यमान थे।

नाट्यशास्त्र में नाट्य के उद्‌गम का मूल स्रोत चारों वेदों को माना गया है। एक समय भरतमुनि से आत्रेय आदि ऋषियों ने आकर पूछा, 'यह वेद-सम्मत नाट्य-वेद कैसे उत्पन्न हुआ? किसके लिये हुआ?'[1] उत्तर में भरत मुनि ने कहा कि जब वैवस्वत मनु के त्रेतायुग में घोर अव्यवस्था तथा दुराचार फैल गया और दानवों, यक्षों, गन्धर्वों एवं नागों ने जम्बूद्वीप पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया, तब देवतागण इन्द्र को प्रतिनिधि बनाकर ब्रह्मा के पास गये। उन्होंने ब्रह्मा से एक ऐसे पंचम-वेद के निर्माण की संस्तुति की, जो सार्ववर्णिक हो। ब्रह्मा ने इन्द्र को विदा करके समाधिस्थ होकर चारों वेदों का स्मरण किया तथा संकल्प किया कि 'मैं ऐसे पंचम-वेद का सृजन करता हूँ, जो धर्म, अर्थ, मोक्ष यश एवं उपदेश का दाता हो, लोक के भावी कर्मों का अनुदर्शक हो, सर्वशास्त्रार्थ

---

१. ना० शा० चौ० १।४

से सम्पन्न हो तथा समस्त शिल्पों का प्रदर्शक हो।'[1] ऐसे पंचम-वेद के सृजन के लिए ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस तत्त्व का ग्रहण किया। इस प्रकार ब्रह्मा ने चारों वेदों से सम्बद्ध ललितात्मक नाट्यवेद की रचना की।[2] तदनन्तर इस नाट्यवेद की शिक्षा ब्रह्मा ने भरत को दी तथा कहा कि वे अपने पुत्रों के साथ पृथ्वी पर इस वेद का प्रयोग एवं विस्तार करें। नहुष के अनुनय-विनय करने पर भरत ने अपने पुत्रों को नाट्य प्रयोग के हेतु प्रेषित किया, जिन्होंने विवाह एवं सन्तानोत्पति करके नाट्यप्रयोग का विकास किया।[3]

नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्योत्पत्ति विषयक इस विचारधारा का अनुसरण अभिनयदर्पण, नाटकलक्षणरत्नकोष तथा रसार्णवसुधाकर में किया गया है।[4] किन्तु विशेष उल्लेखनीय है कि "भावप्रकाशन" में नाट्योत्पत्ति की कथा नाट्यशास्त्र से सर्वथा भिन्न है। उसके अनुसार नाट्यवेद के आविष्कर्त्ता भगवान शंकर हैं। समस्त चराचर जगत् की सृष्टि के पश्चात् विश्रान्ति-हेतु ब्रह्मा विष्णु के समीप जाते हैं। विष्णु उन्हें शंकर के पास भेज देते हैं। शंकर स्वरचित नाट्यवेद की शिक्षा नन्दिकेश्वर को देकर उन्हें आज्ञा प्रदान करते हैं कि वे उस सम्पूर्ण नाट्यवेद को ब्रह्मा को सिखायें तब नन्दिकेश्वर उस नाट्यवेद की अशेष शिक्षा ब्रह्मा को प्रदान करते हैं। ब्रह्मा भरत को बुलाकर मनु के साथ पृथ्वीलोक पर नाट्यवेद के प्रयोग एवं विस्तार करने की आज्ञा प्रदान करते हैं।[5] इस प्रकार 'भावप्रकाशन' के अनुसार नाट्यवेद का सम्बन्ध किसी एक विशिष्ट भरत से न होकर अनेक भरतों से है। साथ ही भूमिलोक पर नाट्य को अवतरित कराने का श्रेय नाट्यशास्त्र की भाँति नहुष को नहीं; अपितु मनु को है।

जहाँ तक वेदों को नाट्योद्गम के स्रोत मानने का प्रश्न है तो, वास्तव में वेदों में नाट्य के तत्त्व—पाठ्य (संवाद), गायन, अभिनय तथा रस के दर्शन प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के पन्द्रह सूक्तों में पुरुरवा-उर्वशी संवाद, यम-यमी संवाद इन्द्र-अदिति संवाद, इन्द्र-इन्द्राणी, इन्द्र-मरुत, अगस्त्य-लोपामुद्रा आदि अनेक संवाद प्राप्त होते हैं।[6] यजुर्वेद पात्र एवं अभिनय की दृष्टि से पूर्ण है। इसमें सूत, शैलूष, कारि (विदूषक),

१. ना० शा० चौ० १।८-१५.
२. वही १।१७-१८.
३. वही ३६।६०-६४.
४. अभि० द०—श्लोक २, ७, ८ ; र० सु० १।४५-५४.
५. भा०प्र०, पृष्ठ २८४-२८५। (गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ नं ४५) सन् १९६८
६. ऋ० वे०—६।१८।५, १०।१०।७, १०।१०।१४, १०।१८।१०७, १०।८६।६, १०।९५।२.

कुब्ज तथा वामनादि का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] हाँ, इन सब के लिए वहाँ 'नट' शब्द का प्रयोग नहीं है; इसीलिए स्पष्ट है कि उस समय नाट्य वैदिक परिधियों से बाहर स्वतन्त्र रूप से विकसित होने में सतत प्रयत्नशील था। सामवेद तो संगीत का भण्डार ही हैं। पूर्व तीनों वेदों के सारभूत अथर्ववेद में रस-तत्त्व का प्राधान्य स्वतः सिद्ध है।

ब्राह्मण तथा सूत्रकाल तक आते-आते नाट्य-परम्परा अधिकाधिक विकासोन्मुखी हो चली थी। कौशीतकी ब्राह्मण में गीत-नृत्य एक विशेष एवं स्वतंत्र कला के रूप में वर्णित हैं।[2] शांखायन आरण्यक में वर्षा एवं कृषि की अनुकूल समृद्धि के लिए इन्द्र की अराधना एवं उस अराधना के हेतु अग्निवेदी के चारों ओर गायन, वादन तथा नृत्य होते थे।[3] सूत्रकाल में इस कला के विधि-निषेध की योजना भी होने लगी थी।[4] शनैः शनैः यह नाट्य-परम्परा वैदिक क्षेत्र से आगे बढ़कर लोक-परम्परा के साथ संवलित होकर अपने गौरव तथा विकास का मार्ग प्रशस्त करती रही। इस मार्ग में वेद, धर्म, सभ्यता, संस्कृति एवं संस्कार इत्यादि के पाथेय से नाट्य-पथिक को बल मिलता रहा और कालान्तर में वह अपने लक्ष्य अर्थात् पूर्ण विकसित रूप को प्राप्त कर सका।

शारदातनय ने जो नाट्योद्गम की परम्परा भगवान् शिव से आविष्कृत मानी है, वह वैदिक तथा लौकिक—दोनों भावभूमियों पर अलंकृत है। इस सन्दर्भ में यह विचारणीय हो उठता है कि जब भरत तथा उनके परवर्ती अनेक विद्वान् नाट्य की उत्पत्ति ब्रह्मा से मान चुके थे, तब शारदातनय नाट्य की उत्पत्ति शिव से मानने के प्रति क्यों उत्सुक एवं प्रेरित हुए? तार्किक दृष्टि से विचार करने पर शिव के द्वारा नाट्योत्पत्ति एक शाश्वत सत्य सिद्ध होता है। क्रमशः उद्धत एवं सुकुमार प्रकृति से युक्त होने के कारण ताण्डव एवं लास्य नृत्यों का सम्बन्ध शिव तथा पार्वती से रहा है।[5] नृत्य की योजना नाट्य के लिए अनुपेक्षणीय है। नाट्य, नृत्य एवं नृत्त परस्पर संवलित रहते हैं। नाट्य का पूर्वरूप शिव-पार्वती का

---

१. नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं, नर्मायरेमं, हासाय कारिम्, असादभ्योकुब्जं प्रमुदेवामनम्......।

—यजु० ३०।६, ८, १०, १४, २०.

२. कौशी० ब्रा० २९।५.

३. शाखा० आ०, पृ० ७२।

४. पार० गृह्य सू०—२, ७, ३.

५. (क) भा० प्र०, पृ० २९६ पं० २०-२२, पृष्ठ २९७ पं० १-५.

(ख) ना० शा० चौ० ४।२४६-४७.

ताण्डव-लास्य ही है। नाट्य के उद्गम में शिव के नटराज-रूप के उत्तरदायित्व एवं सहयोग की परिकल्पना जितनी समीचीन प्रतीत होती है, उतनी लिंग-रूप की नहीं ; यद्यपि शिवलिंग-पूजा की पद्धति भी अत्यन्त प्राचीनकाल से ही चली आ रही है।[१] मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा के उत्खनन में प्राप्त शिवलिंग इसके पुष्ट प्रमाण हैं।[2] अतः शिव का लिंग-रूप भी नाट्योद्गम में सहयोगी रहा हो, यह सम्भव है।[३] वैसे शिव का कोई भी रूप रहा हो—लिंगरूप अथवा नटराज-रूप, हैं तो दोनों ही शिव से सम्बद्ध। यदि समूची दृष्टि से अवलोकन किया जाय, तो नृत्य एवं नाट्य के उद्भव का सम्बन्ध शिव से ही है। वे अपने विविध रूपों के द्वारा नृत्य-नाट्य कला को चतुर्दिक मुखरित करते हैं, तभी तो इस नाट्य-परम्परा की व्यापकता और भी आलोकित हो उठती है। अतः वैदिक एवं लौकिक भाव-भूमि के परिप्रेक्ष्य में शिव को नाट्यवेद का आविष्कर्त्ता मानकर शारदातनय ने अपनी गुणग्राहकता का अनूठा परिचय दिया है।

आद्य नाट्याचार्य भरत

भारतीय वाङ्मय में नाट्यशास्त्र का अपना विशेष एवं शाश्वत महत्त्व है। नाट्यशास्त्र के साथ नाट्याचार्य भरत का नाम उसी प्रकार जुड़ा है, जिस प्रकार पुष्प के साथ सौरभ अथवा सूर्य के साथ प्रकाश। काव्य-क्षेत्र में भरत की प्रामाणिकता सर्वत्र मान्य है। उनका नाट्यशास्त्र विश्व-साहित्य की एक अमर कृति है। परन्तु 'भरत' नाम के विषय में विद्वानों के विभिन्न अभिमत प्राप्त होते हैं। सभी ने अपनी-अपनी जिज्ञासा को विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत करके शान्त किया है। एक पक्ष भरत को किसी एक व्यक्ति का नाम मानता है ; जबकि दूसरे पक्ष के मतानुसार भरत किसी जाति-विशेष, वंश-परम्परा अथवा किसी सम्प्रदाय-विशेष का नाम रहा होगा। वैदिक काल में 'भरत' नाम जातिवाचक रहा।[४] ऐतरेय ब्राह्मण

---

1. Primitive religion seeks with Phallic symbolism. Modern religion retains at the imagery and refines the symbol.

—Religion and Psychology. p. 15.

2. The Shakta Pithas : Journal of Royal Asiatic Society, Bengal. Vol. 14/1, page 105-106 (D C. Sarcar), 1948.
3. But whatever may be his actual character in relation to drama, the pre-Aryan Siva's connection with the origin of dramas seems torest on more or less solid grounds.

—"Contribution to the History of the Hindu drama"
—M. M. Ghosh page. 7.

४. यद्वंगत्वा भरताः संतरेयुः गव्यन् ग्राम इषितः इन्द्रजूतः।

—ऋ० वे० ३।३३।११-१२.

में दुष्यन्त-पुत्र भरत के राज्याभिषेक का उल्लेख है, जो कि भरतवंशी राजा थे ।[1] इनके अतिरिक्त दशरथ-पुत्र भरत भी हो चुके हैं । किन्तु इन दोनों भरतों का नाट्यशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है ; क्योंकि इनका सम्बन्ध राजवंश से था, जबकि नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत तो सर्वसम्मति से 'मुनि' हैं ।

ऋग्वेद में 'भृ' धातु से व्युत्पन्न 'भरत' शब्द का प्रयोग मिलता है । एक स्थान पर अग्नि को 'भारत' विशेषण से विभूषित किया गया है ।[2] नाट्यशास्त्र में भरतपुत्रों तथा नट, सूत्रधार इत्यादि नाट्य-प्रयोक्ताओं के लिए 'भरतानां' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है ।[3] शारदातनय के मत में ऐसा इसलिए है कि ये नाट्य-प्रयोक्ता नानाविध भाषा, वर्ण, उपकरण, प्रकृति, वेश, वय, कर्म, चेष्टाओं को धारण (भरण) करते हैं, इसीलिए भरत कहलाते हैं ।[4] स्मृति ग्रन्थों में भी नाट्य-शिल्पियों के लिए 'भरत' शब्द का प्रयोग हो चुका है ।[5] भरत शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में शारदातनय एक पौराणिक आधार भी प्रस्तुत करते हैं कि ब्रह्मा ने नाट्यवेद के ज्ञान को भरण अर्थात् धारण करने का आदेश मुनियों को दिया था, अतएव वे भरत कहलाये । इससे सिद्ध हो जाता है कि भरत एक नहीं, अनेक थे । इसीलिए शारदातनय भरतैः, भरतादिभिः, भरताः, भरतान् जैसे बहुवचनान्त पदों का प्रयोग करते हैं ।[6] इससे यह सम्भव जान पड़ता है कि नाट्यशास्त्र का प्रणयन भरतों की वंशपरम्परा के हाथों परिमार्जित होता रहा । प्रसिद्ध आधुनिक विद्वान् स्वर्गीय पी० वी० काणे का भी यही विचार है ।[7]

इस विषय में अभिनवगुप्त का यह अभिमत है कि नाट्यशास्त्र का प्रणयन एक 'भरत' के द्वारा हुआ । अतः भरत अनेक नहीं थे । उनके अनुसार नाट्-यशास्त्र के अन्त में प्रयुक्त 'भरतान्' पद के प्रयोग का तात्पर्य भरत के शिष्यों से है ।[8] किन्तु शारदातनय के अनुसार षट्सहस्र श्लोकों से युक्त नाट्यशास्त्र की

---

१. ऐत० ब्रा० ८।४।२३.

२. त्वं न असि भारत अग्ने । —ऋ० वे० ३।७।५.
सा० भा० ४।२५।४.

३. ना० शा० चौ० ३६।७० ; का० मा० सं० १।२४, ३६, ६६-६९.

४. भा० प्र०, पृ० २८८ पं० ३-४ ।

५. यथा हि भरतो वर्णै वर्णयत्यात्मानस्तनूम । — याज्ञ० स्मृ० ३।१६२.

६. भा० प्र०, पृ० ३९ पं० १७; पृ० २०६ पं० ४ ; पृ० २५५ पं० १ ; पृ० २८४ पं० २, पृ० २८६ पं० २-५, १८ ; पृ० २८७ पं० ७ ।

७. भूमिका—सा० द०, पृ० ७-८ ।

८. मध्ये षट्त्रिंशत् अध्याय्यां यानि प्रश्नप्रतिवचनयोजनानि तानि तच्छिष्यवचनान्येवेत्याहुः । तच्च असत् । एकग्रन्थस्य अनेककर्तृवचनसन्दर्भमयत्वे प्रमाणाभावात् ।
—अ० भा० भाग १, पृ० ९.

रचना से पूर्व द्वादशसहस्र श्लोकों से युक्त नाट्यशास्त्र की रचना किसी आदि-भरत अथवा वृद्धभरत ने की।[1] यह भी सम्भव है कि इस ग्रन्थ का नाम 'आदि-भरतम्' ही रहा हो ; क्योंकि भरत से सम्बद्ध प्राप्य पाँच नामों (आदिभरतम्, मार्तंविगभरतम्, अर्जुनभरतम्, हनुमद्भरतम् तथा नन्दिभरतम्[2].) में से यह एक है। नाट्यशास्त्र के वर्तमान उपलब्ध संस्करणों में पूरे षट्सहस्र श्लोक अप्राप्य हैं। अस्तु, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस नाट्यशास्त्र केपूर्व भी द्वादशसहस्र श्लोकयुक्त 'आदिभरतम्' अथवा 'नाट्यवेद' नामक ग्रन्थ रहा होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी न किसी रुप में नाट्यविषयक सामग्री अवश्य विद्यमान रही होगी, जिसके आधार पर 'नाट्यशास्त्र' जैसे उत्तम ग्रन्थ का निर्माण हो सका। अतः द्वादशसहस्र श्लोकयुक्त नाट्यग्रन्थ की जो पुष्टि शारदातनय ने प्रस्तुत की है, वह निरर्थक नहीं कही जा सकती। यह और बात है कि नाट्यशास्त्र के रचनाकाल में द्वादशसहस्र श्लोकों में से केवल षट्सहस्र श्लोक ही प्राप्य रहे हों, जिनकी संख्या आज उतनी भी नहीं रह गयी है। स्वयं भरतमुनि ने भी आनुवंश्य श्लोकों एवं आर्याओं का ऋण-ग्रहण स्वीकार किया है,[3] अतः अधिक सम्भव है कि वर्तमान उपलब्ध नाट्यशास्त्र एक संग्रह-ग्रन्थ हो।

शारदातनय को 'पंचभारतीयम्' नामक एक ग्रन्थ के अस्तित्व का भी पता है। ऐसा जान पड़ता है कि इसमें आदिभरत, मार्तंविगभरत, अर्जुनभरत, हनुमद्भरत तथा नन्दिभरत—इन पंच भरतों के सिद्धान्तों का समवेत सम्पादन हुआ होगा। ये पाँचों भरतमुनि के पाँच पुत्र भी हो सकते हैं। नाट्यशास्त्र में भरत के पुत्रों की जो संख्या 'सौ' बताई गई है, उसमें से पाँच पुत्र ये भी हो सकते हैं तथा शेष ९५ अन्य रहे होंगे। सम्भवतः 'भरत' नाम की उपाधि का प्रचार हो गया होगा जो भरत मुनि के पुत्रों एवं शिष्यों के लिये भी कालान्तर में प्रयुक्त की जाने लगी होगी। किन्तु इस सबसे पूर्व भरत नाम का एक व्यक्तित्व अवश्य विद्यमान रहा होगा, जिसके विषय में हम आद्यनाट्याचार्य भरत की परिकल्पना कर सकते हैं। कालान्तर में यह व्यक्तित्व इतना व्यापक हो उठा होगा कि 'भरत' के नाम पर

---

१. भा० प्र०, पृ० २८७ पं० ९-१२।

२. 'सङ्गीत परम्परा और भरतार्णव'—ले० डॉ० पारसनाथ द्विवेदी (भारतीय साहित्य, अंक १-२, पृ० ६९, क० मुंशी हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा, सन् १९६९.)

३. ना० शा० गा० ओ० सी० भाग १, पृ० २८९, २९३, ३१४, ३१८, ३२२।

जाति का गठन हो गया और भरत के पुत्र, शिष्य एवं नाट्यप्रयोक्ताओं को भी 'भरत' नाम से विभूषित किया जाने लगा। फलस्वरुप शारदातनय जैसे विद्वान् 'भरत' पद का बहुवचनान्त प्रयोग करने के लिये प्रेरित हुए हों, तो कोई आश्चर्य नहीं।

भरत के पूर्ववर्ती नाट्याचार्य

भरतमुनि से पूर्व भी नाट्य एवं नाट्यशास्त्रियों के अस्तित्व की प्रमाण–पुष्टि के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। नाट्यशास्त्र में उल्लिखित अनेक आचार्यों, आनुवंश्य श्लोकों एवं आर्याओं के उद्धरण जिन नटसूत्रों तथा भिक्षुसूत्रों से ग्रहण किये गए होंगे,वे पाणिनि की अष्टाध्यायी में परिलक्षित होते हैं। इन सूत्रों के ही सन्दर्भ के साथ 'शिलाली 'तथा 'कृशाश्व' का भी नामोल्लेख है।[१] कीथ, हिलब्राण्ट तथा सिल्वन लेवी इत्यादि पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार ये सूत्र अवश्य ही पहले ग्रन्थ-रूप में रहे होंगे।[2] बहुत सम्भव है कि कालान्तर में इनका अस्तित्व नाट्य-शास्त्र में ही घुलमिल गया होगा। शिलाली एवं कृशाश्व नामक आचार्यों की पुष्टि अमरकोश के द्वारा भी होती है।[३] काशिकावृत्ति में भी इन आचार्यों की चर्चा हुई है।[४] इन प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि भरत से पूर्व नटसूत्रों तथा भिक्षु-सूत्रों के रचनाकार आचार्य अवश्यमेव विद्यमान थे तथा सूत्रों, अनुवंश्य श्लोकों, आर्याओं एवं कारिकाओं के रूप में नाट्यग्रन्थ भी अवश्य रहे होंगे[५], जिन्हें वैदिक वाङ् मय का सम्मान प्राप्त था।

नाट्यशास्त्र के वर्तमान संस्करणों में स्थान-स्थान पर अनेक आचार्यों के नामों को समादृत किया गया है, यथा –नारद, स्वाति, गुह, तण्डु, नन्दि, बृहस्पति पूर्वाचार्य इत्यादि। ये आचार्य भरत से पूर्व ही नाट्य-विषयक कृतियों का प्रणयन कर रहे थे।[६] नाट्यशास्त्र के अन्त में कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य तथा धूर्तिल नामक चार प्राचीन नाट्याचार्यों का भी नामोल्लेख हुआ है।[७] इनमें से वात्स्य,

---

१. पाराशर्य – शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः।
कर्मन्दकृशाश्वादिनिः। —अष्टा० ४।३।११०–१११.

२. संस्कृत ड्रामा –ए० बी० कीथ, पृ० २६०।

३. अ० को० पं० १६५२–५३

४. चरणात् धर्माम्नाययोः तत् साहचर्यात् नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव भवति। —सि० को० पृ० २६६.

5. Seven words in Bharat, what they signify. –K M. Varma.

६. ना० शा०चौ० १।५२, ३२।१, ३३।३–५ ; का० मा० सं० ४।१७, १५।११०, ३२।१, ३३।३.

७. ना० शा० चौ० ३६।७१

शाण्डिल्य तथा धूर्तिल तो भरत के पूर्वाचार्य हैं। किन्तु कोहल के विषय में कतिपय मतभेद हैं। एक वर्ग कोहल को भरत का पूर्ववर्ती मानता है, जबकि दूसरे वर्ग के मतानुसार कोहल परवर्ती थे क्योंकि वे भरतपुत्रों में सर्वाधिक प्रमुख आचार्य थे। केवल इस आधार पर कि अभिनवगुप्त ने कोहलाचार्य के मत का उल्लेख अभिनव भारती में कई स्थलों पर किया है,[1] कोहल को भरत का पूर्ववर्ती कहना तात्त्विक नहीं है। क्योंकि नाट्यशास्त्र में भरत के सौ पुत्रों में से कुछ प्रमुख नामों में एक नाम कोहल का भी परिगणित किया गया है।[2] इस स्थल पर 'केहालं' पाठ दिया हुआ है, किन्तु इसके लिये पाठभेद उत्तरदायी हैं। 'केहालं' को 'कोहले' पाठ के रुप में देखना अधिक उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त कोहल के परवर्तित्व के लिए एक और भी प्रमाण प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र के अन्त में -भरत से छूटा हुआ भाग कोहल कहेंगे – ऐसा वर्णन है।[3] ऐसा जान पड़ता कि कोहल ने भरत के काल में ही नाट्यविषयक सामग्री को प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया होगा तथा उनका अस्तित्व भरत के पश्चात् भी विद्यमान रहा होगा। इसीलिये कुछ विषयों के विषय में कोहल के विचार भरत के समान अथवा असमान भी हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। अतः अभिनवगुप्त ने कोहल के मतों का उद्धरण देते हुए उन्हें भरत से पूर्ववर्ती सिद्ध करने का जो प्रयास किया है, वह समीचीन प्रतीत नहीं होता।

धूर्तिल, शाण्डिल्य तथा वात्स्य भरत के पूर्ववर्ती तो रहे होंगे, किन्तु उनके ग्रन्थों का नामोल्लेख नाट्यशास्त्र में प्राप्त नहीं होता। इनके अतिरिक्त पद्मभू, वासुकि, व्यास, द्रुहिण, आंजनेय, मारुति इत्यादि अन्य प्राचीन नाट्याचार्यों का उल्लेख अभिनवभारती[4], दशरूपक[5], संगीतरत्नाकर[6] तथा भावप्रकाशन[7] में उपलब्ध होता

---

१. (क) इत्येषा – – –कोहल प्रदर्शिता नान्दी उपपन्ना भवति

– अ० भा० अध्याय १, पृ० १३७

(ख) अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेन एकादशांगत्वमुच्यते। न तु भरते।

– आ० भा० अध्याय ६, पृ० ४१६.

(ग) तदुक्तं कोहलेन। – – – यथोक्तं न कोहलेन।

– अ० भा० बड़ौदा सं० – पृ० १८०,१८२.

२. ना० शा० चौ० १।२५।२६.

३. शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति।

– ना० शा० चौ० ३६।६५.

४. अ० भा०, पृ० ९।

५. द० रू० ४।३७-३८.

६. सं० र० १।१५-१७.

७. भा० प्र०, पृ० ४७ पं० १०-१२ ; पृ० ११४ पं० १९ ; पृ० १५२ पं० १७, पृ० २३९ पं० १; पृ० २५१ पं० २०-२३।

है। ये प्राचीन नाट्याचार्य भी भरत के पूर्ववर्ती ही माने जा सकते हैं, क्योंकि नाट्यशास्त्र में इनके नाम की परिगणना भरतपुत्रों में न होने से इन्हें भरत का परवर्ती नहीं कहा जा सकता है।

भरत के परवर्ती नाट्याचार्यों का संक्षिप्त परिचय

कोहल—भरत के परवर्ती नाट्याचार्यों की परम्परा भरतपुत्रों से ही प्रारम्भ होती है, उनमें से 'कोहल' सर्वप्रमुख हैं। इनका नामोल्लेख नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त उसके परवर्ती ग्रन्थों यथा—अभिनवभारती, संगीतरत्नाकर, भावप्रकाशन तथा रसार्णव सुधाकर में भी प्राप्त होता है।[1] कोहल ने भरतमुनि के नाट्यसिद्धान्तों का निरूपण विस्तार से किया था। यही नहीं, कतिपय विषयों के जो भाग भरत ने छोड़ दिए थे, उनका भी कथन कोहल ने बाद में किया।[2] इनके द्वारा रचित ग्रन्थ अपने पूर्ण रूप में आज प्राप्य नहीं है। 'कोहमतम्' तथा 'कोहलरहस्यम्' नामक दो ग्रन्थों के द्वारा उनके नाट्यसिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है।

दत्तिल—दत्तिल का पाठभेद 'दन्तिल' भी मिलता है।[3] दत्तिल का नामोल्लेख अभिनवभारती, संगीतरत्नाकर, रसार्णवसुधाकर तथा कुट्टनीमतम् में प्राप्त होता है।[4] कामसूत्र में जिन 'दत्तक' की चर्चा है, वे भी दत्तिल ही रहे होंगे।[5] प्रथम शती ईस्वी के एक शिलालेख में दत्तिल की चर्चा है।[6] दत्तिल गांधर्वशास्त्र के रचियता थे।[7] इन्होंने नाट्य के अतिरिक्त संगीत के ग्राम-मूर्च्छना आदि अनेक विषयों पर भी अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए थे।

शाण्डिल्य तथा वात्स्य—नाट्यशास्त्र के अन्त में उपलब्ध उल्लेखों से शाण्डिल्य एवं वात्स्य भरत के पूर्ववर्ती ही सिद्ध होते हैं।[8] किन्तु नाट्यशास्त्र के प्रारम्भ में नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में भरतपुत्रों की गणना के अवसर पर इन दोनों आचार्यों का

---

१. ना० शा० चौ० १।२६, ३६।६५, ७१ ; अ० भा० अ० १ पृ० १३७, अ० ६, पृ० ४१६, सं० र० १।१५ ; भा० प्र० पृ० २१० पं० १२, पृ० २३६ पं० १९ ; र० सु० १।५१.

२. ना० शा० चौ० ३६।६५.

३. ना० शा० चौ० १।२६.

४. अभि० भा० भाग १, पृ० २०३ ; सं० र० १।१६ ; र० सु० १।५१ ; कुट्ट० म० पृ० ८७७।

५. कामसूत्र १।१।१२, ६।२।५५, ६।३।४४.

६. भरत का संगीत-सिद्धान्त, पृ० २९३।

७. जर्नल आफ् आंध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी—ले० रामकृष्ण कवि, पृ० २४ तृ० सं०।

८. ना० शा० चौ० ३६।७१.

नामोल्लेख होने से इन्हें परवर्ती भी माना जा सकता है ।[1]

तुम्बुरू—नाट्यशास्त्र, वाल्मीकि-रामायण तथा संगीतरत्नाकर जैसे ग्रन्थों में तुम्बुरू का नामोल्लेख नारद के साथ ही हुआ है[2] ; इस आधार पर इन्हें भरत का पूर्ववर्ती माना जा सकता है। किन्तु यदि ऐसा होता तो भरत इनका भी नामोल्लेख धूर्तिल के ही साथ कर सकते थे। अतः तुम्बुरू की गणना भरत के परवर्ती आचार्यों में ही करना उपयुक्त है।[3] शार्ङ्गदेव ने तुम्बुरू के नाम की परिगणना रम्भा, विश्वावसु, वायु, नारद इत्यादि स्वर्गिक विभूतियों के साथ की है[4] ; अतः ये भी नारदादि की भाँति वीणावादक गंधर्व एवं संगीत-नाट्य के ज्ञाता रहे होंगे। अभिनवगुप्त ने भी तुम्बुरू की चर्चा की है।[5]

नखकुट्ट-अश्मकुट्ट—इनका विवरण भरतपुत्रों के प्रसंग में आता है। पाठभेद से इनके नामतरुकुट्ट व आत्मकुट्ट भी मिलते हैं।[6] सागरनन्दी ने नलकुट्ट एवं अश्मकुट्ट का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है।[7] आचार्य विश्वनाथ ने प्रस्तावना के प्रकार बताते हुए नखकुट्ट के श्लोक उद्धृत किये हैं।[8]

शातकर्णी—ये आचार्य प्रमाणिक तो सिद्ध हो जाते हैं,[9] किन्तु इनके नाम का भी पाठभेद परिलक्षित होता है। नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में भरतपुत्रों में 'शालिकर्ण' नाम का उल्लेख है।[10] 'ल' और 'त' का पाठभेद हो जाना कोई अधिक आश्चर्य का विषय नहीं है। रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में शातकर्णी नामक 'मुनि' की चर्चा हुई है।[11] यह भी सम्भव है कि ये नाट्य के ज्ञाता कोई 'नृप' रहे हों ; क्योंकि वि० पू० प्रथम शताब्दी से द्वितीय शताब्दी तक के काल में प्राप्य अधिकांश शिलालेखों में शातकर्णी का नाम उत्कीर्ण पाया गया है।[12]

---

१. ना० शा० चौ० १।२६.
२. भरत का संगीत-सिद्धान्त, पृष्ठ २६३ ।
३. भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनय दर्पण, पृष्ठ २१ ।
४. वायुर्विश्वावसु रम्भार्जुनो नारदतुम्बुरू। —सं० र० १।१६.
५. तुम्बुरुणेदमुक्तम् – अ० भा० अध्याय ४, पृ० १६३.
६. ना० शा० का० मा० १।३३ ; चौ० १।३५.
७. ना० ल० को० पं० ८३, ४२७, २७६६, २७७५, २६०४ ।
८. सा० द० ६।३६-४०.
९. ना० ल० को० (रुचिपति की टीका) पृ० ७ ।
१०. ना० शा० चौ० १।२६.
११. रघु० १३।३८-४०.
१२ सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स—पृ० १६१-२०७.

वादरायण-गौतम—इन दोनों का नामोल्लेख नाट्यशास्त्र में भरतपुत्रों के रूप में हुआ है। इसी प्रसंग में एक 'वादरि' नामक भरतपुत्र की गणना 'कपिजलि' के नाम के साथ भी अभिलक्षित होती है।[1] सम्भवतः यह वादरि तथा वादरायण एक ही व्यक्ति रहे हों, किन्तु तब एक ही प्रसंग में दो प्रकार से दो स्थलों पर वादरि तथा वादरायण क्यों लिखा हुआ होता? अधिक सम्भव है कि वादरि वादरायण से भिन्न ही भरतपुत्र रहे होंगे। वादरायण का नाम सागरनन्दी ने भी उद्घृत किया है।[2]

मतंग-कात्यायन—इन दोनों आचार्यों की गणना भरतपुत्रों में तो नहीं की गयी है; तथापि अभिनवभारती, नाटकलक्षणरत्नकोश तथा संगीतरत्नाकर में इनका मतोल्लेख होने के कारण ये भरत के परवर्ती आचार्य ठहरते हैं।[3] मतंग का 'बृहद्देशी' बहुविख्यात ग्रन्थ है; जिसमें भरत के नाट्य एवं संगीतविषयक अनेक सिन्द्धातों का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में मतंग ने कोहल, दत्तिल, याष्टिक, विश्वावसु, विशाखिल इत्यादि आचार्यों की चर्चा की है। अतः ये समस्त आचार्य मतंग से तो पूर्ववर्ती रहे होंगे, किन्तु भरत से परवर्ती।

घण्टक-राहुल—अभिनवगुप्त ने इन दोनों आचार्यों के उद्धरण दिए हैं। अतः इन नाट्याचार्यों की भी सत्ता प्रमाणिक है, जिन्होंने भरत के नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की व्याख्या की होगी। राहुल का ग्रन्थ 'भरतवार्त्तिकम्' हैं, क्योंकि इसी ग्रन्थ से श्लोक उद्घृत करते हुए अभिनवगुप्त ने राहुल का नामोल्लेख किया है।[4] राहुल की चर्चा सागरनन्दी ने भी की है।[5] संगीतरत्नाकर में 'राहल' नामक आचार्य का नाम अभिलक्षित होता है।[6] 'राहल' तथा 'राहुल' का तात्पर्य एक ही व्यक्ति के नाम से है, ऐसा जान पड़ता है। किंचित् पाठभेद भी तो बहुधा उपस्थित हो ही जाता है।

---

१. ना० शा० चौ० १।२८, ३२.

२. ना० ल० को० १९९२-९४, २७७०-७१.

३. अ० भा० अध्याय १४ पृ० २४५-४६ ; ना० ल० को० १४८४-८५ ;
सं० र० १।१५.

४. घण्टकादयस्त्वाहु : ।
यथोक्तं राहुलेन ।
—अ० भा० भाग २ पृ० ४३६, अध्याय ४, पृ० ११३, १७०.

५. ना० ल० को० श्लोक—२८७३-७५.

६. सं० र० १।१७.

गर्ग-शकलीगर्भ-वार्तिककार—गर्ग को नाट्यकार के रूप में सागरनन्दी ने उद्धृत किया है।[1] शकलीगर्भ का नाम अभिनव गुप्त ने उल्लिखित किया है।[2] अतः ये दोनो ही भरत के परवर्ती कोई नाट्याचार्य हुए हैं। 'वार्त्तिक' नामक ग्रन्थ के प्रणेता हर्ष तथा हर्ष विक्रम को ही 'वार्त्तिककार' कहा गया है। अभिनव गुप्त ने इनकी चर्चा अनेक स्थलों पर की है।[3] हर्ष का यह 'वार्त्तिक' नामक ग्रन्थ नाट्यशास्त्र की व्याख्या नहीं, अपितु उनकी स्वतन्त्र रचना है। वैसे इस ग्रन्थ में नाट्यविषयक सामग्री का अभाव नहीं है, इसीलिए तो त्रोटकलक्षणनिरूपण के अवसर पर शारदातनय ने हर्ष का मत प्रस्तुत किया है।[४]

सुबन्धु—ये भी भरत-परवर्ती प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, जिनका मतोल्लेख शारदातनय ने नाटक-वर्णन के प्रसंग में किया है।[५] ऐसा जान पड़ता है कि ये सुबन्धु तथा 'वासवदत्ता' के रचयिता सुबन्धु एक ही व्यक्ति हैं।

मातृगुप्त—ये भी भरत-परवर्ती नाट्याचार्य हुए हैं, जिनका नामोल्लेख भावप्रकाशन में हुआ है।[६] इसके अतिरिक्त राजतरंगिणी एवं अभिज्ञानशाकुन्तल में भी मातृगुप्ताचार्य के उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं।[७] संगीतरत्नाकर तथा नाट्यप्रदीप में मातृगुप्ताचार्य के नाम की गणना तथा उनके मतोल्लेख प्राप्त होते हैं।[८]

कीर्तिधर—इनका नामोल्लेख अभिनवगुप्त ने किया है।[९] ये नाट्यशास्त्र के

---

१. ना० ल० को श्लोक–३२२६.

२. अ० भा० मा० २, पृ० ४५२।

३. वार्तिककृताप्युक्तम्····।
   यद्वार्त्तिकम्····।
   श्रीहर्षस्तु····।
   उक्तं च वार्त्तिके···। —अ० भा० भाग० १, पृ० १७०, १७२, २०९, २१०.

४. भा० प्र० पृ० २३८ पं० ५.

५. वही पृ० २३८ पं० १५.

६. भा० प्र० पृ० २३४ पं० २२.

७. (क) राज० त०—३।१२५, २६०-६२, ३२०-२३.
   (ख) अभि० शा० (राघवभट्ट कृत टीका) पृ० ४, ५, ९, १५, २७.

८. (क) सं० र० १।१७ ;
   (ख) अस्यव्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः षोडशांघ्रिपदापीयममुदाहृता।
   —ना० प्र० (ना० शा० के ५।२५ व २८ श्लोक की व्याख्या के प्रसंग में)

९. अ० भा० अध्याय ६ तथा १९.

व्याख्याता थे। संगीतरत्नाकर में इनके नाम की परिगणना अभिनवगुप्त के साथ ही की गई है।[1] ये नाट्य के साथ-साथ संगीत-विषयों के भी पूर्ण ज्ञाता थे, तभी तो शार्ंगदेव ने इनका स्मरण किया है।

भट्टलोल्लट-शंकुक-भट्टनायक—इन तीनों आचार्यों ने भी नाट्यशास्त्र की टीकायें लिखी होंगी ; क्योंकि इनके उद्धरण अभिनवभारती[2] तथा अन्य परवर्ती ग्रन्थों यथा काव्यप्रकाश एवं भावप्रकाशन में भी प्राप्त होते हैं।[3] किन्तु खेद का विषय है कि इन तीनों आचार्यों के ग्रन्थ आज अपने मूल रूप में प्राप्य नहीं हैं।

उद्भट-भट्टयन्त्र—उद्भट का नाम अभिनवगुप्त ने उद्घृत किया है।[4] संगीत-रत्नाकर में लोल्लट तथा शंकुक के नाम के साथ ही उद्भट को भी स्मरण किया गया है[5], अतः लोल्लट, शंकुक एवं भट्नायक की भाँति उद्भट को भी नाट्यशास्त्र का व्याख्याकार माना जाना चाहिए। शारदातनय ने वृत्तिवर्णन के अवसर पर उद्भट के मत की चर्चा की है।[6] अभिनवभारती में भट्टयन्त्र नामक एक आचार्य का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[7] सम्भवतः इन्होंने भी नाट्यशास्त्र पर व्याख्यापरक टीका लिखी होगी, जो दुर्भाग्यवश आज अनुपलब्ध है।

अभिनवगुप्त—इनके द्वारा रचित नाट्यशास्त्र की व्याख्या 'अभिनवभारती' के रूप में आज पूर्ण प्रकाशित उपलब्ध है। इसकी समस्त पाण्डुलिपियाँ दक्षिण भारत में प्राप्त हुई हैं।[8] अभिनवभारती का मतोल्लेख तथा स्मरण शार्ंगदेव तथा शारदा-

---

१. सं० र० १।१६.

२. (क) अ० भा० भाग १ पृ० २०६, २६४, २७७, २९८ ; भाग २ पृ० १३४, १९६, ४१५, ४२३, ४३६, ४४२ (भट्टलोल्ट के उद्धरण)
   (ख) अ० भा० भाग १ पृ० ७४, २१७, २७४, २८५, २९३, २९८, ३१८, भाग २ पृ० ४११, ४३६ (शंकुक के उद्धरण)
   (ग) अ० भा० भाग १ पृ० ४, २६, २७८, भाग २ पृ० २९८ (भट्नायक के उद्धरण)।

३. (क) का० प्र० चतुर्थ प्रकाश (रसप्रकरण)
   (ख) भा० प्र० पृ० ५०, ५१, ५२, पं० १८, ६, ५.

४. निर्देशे चैतृतक्रमव्यत्यासनादित्योद्भटाः। —अ० भा० अध्याय ६, पृ० २६४.

५. सं० र० १।१६.

६. भा० प्र० पृ० १२ पं० ६.

७. हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोयटिक्स–काणे, पृष्ठ ४८।

८. सं० र० १।१६.

तनय ने उन्मुक्त लेखनी से किया है।[1] अभिनवभारती के अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन, मालिनीविजयवार्त्तिक, परमार्थसार, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्षिणी, परात्रिंशिकाविवरण, बोधपंचदर्शिका, तन्त्रालोक, भगवद्गीतार्थसंग्रह इत्यादि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन विभिन्न विषयों के आधार पर किया है।

भोज—इनके 'शृंगार प्रकाश' के 'द्वादश प्रकाश' में नाट्य का विवरण प्राप्त होता है। शेष प्रकाशों में साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी विविध विषयों का निरूपण है। इन्हीं का द्वितीय ग्रन्थ 'सरस्वतीकण्ठाभरण' है, जिसके पंचम परिच्छेद में नाट्य-सामग्री उपलब्ध होती है। शारदातनय ने भोज का अभिमत अनेक संदर्भों के अन्तर्गत समादृत किया है।[2]

धनंजय—इन्होंने नाट्यशास्त्र के आधार पर 'दशरूपक' नामक नाट्यपरक ग्रन्थ की रचना की है। इसके चार प्रकाशों में वस्तुविभाग, अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों, नाट्य-संधियों, नायक-नायिका-भेद तथा रस इत्यादि नाट्यविषयक सामग्री का सम्यक रूप में विवेचन हुआ है।

धनिक—ये धनंजय के लघु भ्राता थे, जिन्होंने दशरूपक पर 'दशरूपकावलोक' नामक टीका-ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'काव्य-निर्णय' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा था।[3]

सागरनन्दी—नाट्यशास्त्र का आधार ग्रहण करके इन्होंने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक नाट्यविषयक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह ग्रन्थ कारिका-रूप में लिखा गया है। इसकी पाण्डुलिपि पाश्चात्य विद्वान् सिल्वां लेवी को नेपाल में प्राप्त हुई थी।[4]

रुय्यक—ये काश्मीरी विद्वान् थे, जिन्होंने 'नाटक-मीमांसा' तथा 'साहित्य-मीमांसा' नामक ग्रन्थों के अतिरिक्त अलंकार-सर्वस्व, अलंकार-वार्त्तिक, अलंकारानुसारिणी इत्यादि ग्रन्थ अलंकारशास्त्र पर भी रचे। साथ ही व्यक्तिविवेक तथा काव्यप्रकाश पर टीका ग्रन्थ भी लिखे।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र—इन दोनों विद्वानों ने मिलकर 'नाट्यदर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो कि नाट्य-विषयक सामग्री से भरपूर है। यह ग्रन्थ कारिका रूप में लिखा गया है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त रामचन्द्र ने स्वतन्त्र रूप से लगभग सौ ग्रन्थों की भी रचना की।

---

१. भा० प्र०, पृ० ८२, पं० ५-६, ८ ; पृष्ठ १६० पं० १० ; पृ० १६४ पं० ५.
२. भा० प्र०, पृ० १५२, २४५ पं० ३, १०.
३. 'यथाऽवोचाम काव्यनिर्णये'—दशरूपकावलोक—प्रकाश ४.
४. जरनल आफ् एशियाटिक सोसायटी, पृष्ठ २१०।

शारदातनय—नाट्यशास्त्रीय परम्परा में शारदातनय का अपना विशेष महत्त्व है, जिसका श्रेय उनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' को है। श्लोकबद्ध इस ग्रन्थ में दस अध्याय हैं, जिनमें नाट्य-विषयक सामग्री का आगार सुरक्षित है। इस ग्रन्थ में अन्य अनेक ग्रन्थों तथा विद्वानों का साक्ष्य भी परिलक्षित होता है। शारदातनय ने अनेक ऐसे नाटकों का नामोल्लेख किया है, जो उनके पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती आचार्यों ने नहीं किया है।

शिंगभूपाल—यह शारदातनय के परवर्ती हैं। इनका रसार्णवसुधाकर अधिकांशतः साहित्यशास्त्र विषयक सामग्री से ओतप्रोत है, जिसमें नाट्यविषयक सामग्री भी प्राप्य है। इनका एक अन्य ग्रन्थ नाटक-परिभाषा पूर्णरूप से नाट्य-विषय पर रचा गया है।

विश्वनाथ—इनके प्रख्यात ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' के षष्ठ परिच्छेद में नाट्य-विषयक सामग्री का प्रतिपादन नाट्यशास्त्र के आधार पर किया गया है। नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त अन्य अनेक ग्रन्थों के भी उद्धरण साहित्य-दर्पण में ग्रहण किए गए हैं।

विद्यानाथ—इनके ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में नौ प्रकरण हैं। इनमें से तृतीय प्रकरण म नाट्य-विषयों का निरूपण किया गया है। ये काकतीय वंशोय राजा प्रतापरुद्र के आश्रय में थे ; अतः इन्होंने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा हेतु इस ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इन्होंने 'प्रतापरुद्रकल्याण' नामक एक नाटक भी लिखा, वह भी राजा प्रतापरुद्र की ही संस्तुति-रूप ही है।

रूपगोस्वामी—इनके मुख्य तीन ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—नाटकचन्द्रिका, उज्ज्वल-नीलमणि तथा हरिभक्तिरसामृतसिंधु। ये पन्द्रहवीं शताब्दी के वैष्णव आचार्य हैं। इन्होंने 'नाटकचन्द्रिका' में नाट्यशास्त्र के आधार पर नाटक-लक्षण तथा उनके उदाहरणों का विवेचन किया है, हाँ, उदाहरण वैष्णव ग्रन्थों से ग्रहण किये हैं।

इस प्रकार भरत के परवर्ती नाट्याचार्यों के उपर्युक्त विवेचन से उनका प्रामाणिकत्व तो सिद्ध है ही। उनमें से कुछ तो भरत-पुत्रों के अन्तर्गत आते हैं, कुछ भरत की शिष्य-परम्परा में तथा शेष भरत के परवर्ती काल के अन्य स्वतन्त्र आचार्य हुए हैं। इन समस्त नाट्याचार्यों ने या तो नाट्यशास्त्र की व्याख्या विषयक टीका-ग्रन्थों का प्रणयन किया, या फिर स्वतन्त्र रूप से नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की है। इनमें 'शारदातनय' तथा उनके ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' पर आगे विस्तार पूर्वक विचार किया जा रहा है, जो कि हमारे शोधकार्य का अभीष्ट विषय है।

द्वितीय अध्याय

शारदातनय का व्यक्तित्त्व एवं कृतित्व

शारदातनय का जन्मस्थान एवं जीवनवृक्ष

शारदातनय के जन्मस्थान के विषय में एक सामान्य धारणा विद्वदवर्ग में प्रचलित है कि उनका निवास कश्मीर में था। उनके ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' के आरम्भ में मंगलाचरण के पश्चात् उनकी जन्मभूमि की स्थिति का संकेत है। उसके अनुसार आर्यावर्त देश में मेरूत्तर नामक एक महान् जनपद था। उसके दक्षिण भाग में माठरपूज्य अथवा माठरपूजा नामक एक ग्राम था, जिसमें एक सहस्र विप्र निवास करते थे। इसी ग्राम में काश्यप-वंश का लक्ष्मण नामक एक द्विज भी निवास करता था।[1] यह लक्ष्मण ही शारदातनय का प्रपितामह था। अपनी पूर्वज-परम्परा का मूल स्थान बताते हुए शारदातनय ने कश्मीर नामक जनपद का तो कहीं उल्लेख ही नहीं किया है, और मेरूत्तर एवं कश्मीर एक नहीं हो सकते; क्योंकि दक्षिण भाग की ओर ग्राम की स्थिति निर्धारित की गई है। 'भाव-प्रकाशन' की पाण्डुलिपियाँ भी दक्षिण में ही प्राप्त हुई हैं, चाहे भले ही वे बाद में बड़ौदा ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट में स्थापित कर दी गई हों! यदि भाषा विज्ञान के आधार पर आर्यावर्त देश में मेरूत्तर जनपद को आधुनिक 'मेरठ' भी समझ लिया जाय,[2] तो भी कश्मीर मेरठ से एक भिन्न ही स्थान सिद्ध होता है। मेरठ एवं कश्मीर समीपवर्ती भी नहीं हैं। हां यह हो सकता है कि अपनी अपूर्व

---

१. आर्यावर्ताह्वये देशे स्फीतो जनपदो महान्।
मेरूत्तर इति ख्यातस्तस्य दक्षिणभागतः॥
ग्रामो माठरपूज्याख्यो द्विजसाहस्रसम्मितः।
तत्र लक्ष्मणनामासीद्विप्रः काश्यपवंशजः॥ —भा० प्र० पृ० १ पं० ११-१४.

२. जर्नल आफ द आंध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी। द्वितीय भाग, पृ० १३२।

प्रतिभा के आधार पर शारदातनय को कश्मीर प्रदेश का राजाश्रय प्राप्त हो गया हो तथा वे दक्षिण से आकर यहीं बस गए हों। जीवन के अन्तिम काल में जन्म-भूमि का आकर्षण उन्हें पुनः दक्षिण की ओर वापस ले आया होगा। फलस्वरूप उनके ग्रन्थ की पाण्डुलिपियां दक्षिण में ही उपलब्ध हो सकीं।

शारदातनय ने मेरूत्तर के दक्षिण भाग में स्थित जिस माठरपूज्य नामक ग्राम का उल्लेख किया है, वह दक्षिण का 'मातापूषी' नामक ग्राम हो सकता है। यह मातापूषी एक गोत्र सूचक उपनाम था, जो दक्षिण भारत के कुछ ब्राह्मणों के मध्य प्रचलित हो गया था। इसी के आधार पर ग्राम का नाम 'मातापूषी' हो गया। मेरूत्तर नामक जनपद तो निस्सन्देह वर्तमान 'उत्तरमेरू' नामक ग्राम है जो मद्रास के निकट छेंगलेपत जिले से लगभग बीस मील की दूरी पर स्थित है। इसे 'उत्तर मेरूर' भी कहते हैं। प्राचीन 'मेरूत्तर' नाम का विपर्यास कालान्तर में 'उत्तरमेरू' हो गया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।

शारदातनय का जन्म कश्यप-गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनकी वंश-परम्परा में प्राचीनतम नाम 'लक्ष्मण' प्राप्त होता है, जो शारदातनय का प्रपितामह था। यह लक्ष्मण अत्यन्त विद्वान व्यक्ति था। उसने भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने के लिए तीस वैदिक बलियज्ञों का अनुष्ठान किया तथा 'वेदभूषण' नामक एक वैदिक भाष्य लिखा। उसका पुत्र श्रीकृष्ण (शारदातनय का पितामह) भी सम्पूर्ण वेदों एवं अखिल शास्त्रों का अध्येता था।[1] पाठभेद से इसका नाम श्रीकण्ठ भी हो सकता। उसने पुत्र-प्राप्ति की कामना से वाराणसी में महादेव की आराधना की। उनकी कृपा से श्रीकृष्ण ने भट्टगोपाल नामक सुन्दर पुत्र की प्राप्ति की। भट्टगोपाल को अष्टादश विद्याओं पर समान अधिकार प्राप्त था। उन्होंने शारदा देवी को सिद्ध करके अत्यन्त गुणवान पुत्र-रत्न प्राप्त किया, जिसका नाम शारदा देवी के ही नाम पर 'शारदातनय' (सरस्वती का पुत्र) रखा गया।[2]

शारदातनय के गुरू का नाम 'दिवाकर' था। ये दिवाकर नाट्यवेद के पूर्ण ज्ञाता तथा किसी नाट्यशाला (रंगशाला) के प्रबन्धक थे। उन्होंने सदाशिव, शिव, गौरी, वासुकि, नारदमुनि, कुम्भ, व्यास, भरत तथा उनके शिष्यों के नाट्य-विषयक मत-मतान्तरों की सम्यक शिक्षा शारदातनय को प्रदान की।[3] ये दिवाकर वे ही दिवाकर होंगे, जिनका वर्णन 'मेघसंदेश' की समालोचना 'विद्युत्लता' के लेखक पूर्णसरस्वती द्वारा किया गया है; क्योंकि 'विद्युत्लता' में वर्णित दिवाकर की

---

१. भा० प्र० पृ० १ पं० १५–१८।
२. वही पृ० २ पं० १–५।
३. वही पृ० २ पं० १४–१६।

पंक्तियों तथा 'भावप्रकाशन' में उद्धृत पंक्तियों में साम्य दृष्टिगोचर होता है।[१] विद्युत्लता के अतिरिक्त अन्य किसी ग्रन्थ में दिवाकर का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

मम्मट-प्रणीत 'काव्यप्रकाश' के अनेक टीकाकारों में से एक भट्टगोपाल नामक टीकाकार भी हुए हैं ;[२] किन्तु यह भट्टगोपाल शारदातनय के पिता से भिन्न व्यक्ति हैं। दोनों को अभिन्न ठहराना युक्तियुक्त नहीं है ; क्योंकि कुमारस्वामि तथा अन्य लेखकों ने टीकाकार भट्टगोपाल का समय पन्द्रहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित किया है। जब शारदातनय बारहवीं शताब्दी में ही हो गए थे, तो क्या उनके पिता उनसे परवर्ती-काल में हुए होंगे? अतः शारदातनय के पिता भट्टगोपाल के साथ टीकाकार भट्टगोपाल के साम्य की सम्भावना एक हास्यास्पद दुराग्रह ही कही जा सकती है।

शारदातनय का समय

पाश्चात्य विद्वान मेक्डोनल के शब्दों में "भारतीय वाङ्मय में इतिहास एक क्षीण बिन्दु के समान है",[३] तभी तो कालिदास जैसी अनेक महान् विभूतियों का स्थिति-काल अनिर्धारित रह गया है। किन्तु सौभाग्यवश हमारे अभीष्ट लेखक शारदातनय के विषय में ऐसा नहीं है। अनेक पुष्ट प्रमाणों के आधार पर उनके काल की सीमा निर्धारित की जा सकती है।

श्रृंगारप्रकाश एवं काव्यप्रकाश के अनेक उद्धरणों को शारदातनय ने अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत् किया है। इससे पता चलता है कि उक्त दोनों ग्रन्थों के लेखक—भोज एवं मम्मट के पश्चात् शारदातनय हुए हैं। भोज का काल ग्याहरवीं शताब्दी का प्रथमार्ध भाग तथा मम्मट का काल ग्यारहवीं शताब्दी का पश्चार्द्ध भाग माना जाता है, अतः शारदातनय का स्थिति-काल निश्चित रूप से इसके अनन्तर ही होना चाहिए।

भावप्रकाशन में भोज के साथ-साथ सोमेश्वर नामक एक आचार्य का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है।[४] किन्तु साहित्य क्षेत्र में वर्णित सोमेश्वर नामक चार

१. वही पृ० २४, ३०, ३३, ७२, ८३, ६५, १३६.
'विद्युल्लता' — श्री वाणी विलास-संस्कृत-सीरीज् नं० १५, श्रीरंगम्।

२. भट्टगोपाल-कृत – काव्यप्रकाश की टीका, प्रकाशन – त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज्

३. "History is the one weak spot in Indian literature."
– History of Sanskrit Literature page. 10.

४. उक्तास्ता वृत्तय : साङ्गा भोजसोमेश्वरादिभिः।
इतः परं विशेषास्तु भोजसोमेश्वरादिभिः॥
– भा० प्र० पृ० १२ पं० २१, पृ० १६४ पं० ६.

लेखकों में से शारदातनय का परिचय किस सोमेश्वर से था, यह ज्ञात करना अत्यावश्यक है। ये चार सोमेश्वर इस प्रकार हैं—

१. काव्यादर्श का लेखक सोमेश्वर।

२. कीर्तिकौमुदी एवं सुरथोत्सव का लेखक सोमेश्वर।

३. मानसोल्लास का लेखक सोमेश्वर।

४. संगीत-रत्नावली का लेखक सोमेश्वर।

उपर्युक्त चारों लेखकों का काल-निर्धारण करने के पश्चात् ही इनमें से किसी एक सोमेश्वर को हम शारदातनय से सम्बद्ध कर सकते हैं। प्रथम सोमेश्वर द्वारा विरचित 'काव्यादर्श' मम्मट के काव्यप्रकाश पर लिखी हुई एक टिप्पणी है। यह सोमेश्वर स्वयं को भारद्वाज-गोत्रीय भट्टदेवक का पुत्र कहता है। १२८३ ईस्वी से १२८७ ईस्वी संवत् के काल में रचित इसके ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि जैसलमेर भण्डार के केटलाग (विषय सूची) में प्राप्त हुई है।[१]

'कीर्तिकौमुदी' एवं 'सुरथोत्सव' के लेखक सोमेश्वर को राजा वीरधवल, राजा भीमदेव द्वितीय तथा गुजरात नरेश विशाल देव का राजाश्रय प्राप्त था।[२] इन राजाओं का काल ११७९ ईस्वी से १२६२ ईस्वी तक होने से यह सोमेश्वर भी इसी काल में हुआ था। इसके पिता का नाम कुमार था। उपर्युक्त दोनों सोमेश्वरों के पिता का नाम पृथक-पृथक होने के कारण दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे, ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

'मानसोल्लास' का लेखक सोमेश्वर 'अभिलषितार्थचिंतामणि' का भी रचयिता माना जाता है। मानसोल्लास की रचना ११३१ ईस्वी में हुई।[३] इसके पिता चालुक्य-वंशीय विक्रमादित्य चतुर्थ थे।

चतुर्थ सोमेश्वर 'संगीत-रत्नावली' का लेखक है। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के विषय में डा० ह्लूलर[४] ने तथा बड़ौदा सेण्ट्रल लाइब्रेरी की पत्रिका नं० ८ ने सूचनायें दी हैं।[५] इस पत्रिका की सूचना के अनुसार यह सोमेश्वर (सोमराजदेव)

---

१. प्रकाशन – गा० ओ० सी० न० २१, पृ० ४८।

२. द्रष्टव्य – कीर्तिकौमुदी तथा सुरथोत्सव की भूमिकाओं एवं परिचय पंक्तियों में इन राजाओं का उल्लेख।

३. प्रकाशन – गा० ओ० सी० न० २८ की भूमिका–पृ० ६।

४. A catalogue of Sanskrit MSS in the Private libraries of Guzarat Etc. page 274.

५. Here Somarajadeva is mentioned as the author and he is identified as a Pratihari of the Chalukya King Ajaypala of Guzarat. (A.D. 1174-1177)

गुजरात के चालुक्यवंशीय राजा अजयपाल का प्रतिहारी था। इस राजा का राज्य-काल ११७४-११७७ ईस्वी था।

इस प्रकार उपर्युक्त चारों सोमेश्वर ११३१ से १२६२ ईस्वी अर्थात् लगभग १३१ वर्ष तक के काल के अन्तर्गत राजाश्रयों में उन्नत हुए थे। इन चारों में से जो 'संगीत-रत्नावली' का प्रणेता है, वही 'संगीतरत्नाकर'[१] में उल्लिखित सोमेश्वर होगा, ऐसा जान पड़ता है; क्योंकि शार्ंगदेव का काल १२१०–१२४७ ईस्वी है और यह सोमेश्वर ११७४–११७७ ईस्वी में ही उन्नत हो गया था। श्री एम० आर० तेलंग इस सोमेश्वर को सोमदेव परमर्दी के रूप में पदस्थ करते हैं।[2] किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि परमर्दी नामक व्यक्ति सोमेश्वर से भिन्न था। एक परमर्दी अथवा परमल नामक चन्देल-वंशीय राजा का राज्यकाल ११६५–१२०३ ईस्वी तक रहा। उसके मंत्री वत्सराज की कृति 'रूपकाष्टक' में उसका वर्णन प्राप्त होता है।[3] शार्ंगदेव ने सोमेश्वर (सोमेश) के नाम से पहले जिस परमर्दी का उल्लेख किया है, वह सोमेश्वर से भिन्न यही दूसरा 'परमर्दी' नामक विद्वान राजा है, ऐसा जान पड़ता है। यही सम्भव भी होगा, क्योंकि परमर्दी (११६५ ईस्वी) शार्ंगदेव (१२१० ईस्वी) से पूर्व हो चुका था।

'भावप्रकाशन' में सोमेश्वर के कथनोद्धरण संगीत-विषयों एवं भारती आदि वृत्तियों से सम्बद्ध हैं। अतः उपर्युक्त वर्णित चार सोमेश्वरों में से प्रथम दो (अर्थात् काव्यादर्श के लेखक तथा कीर्तिकौमुदी एवं सुरथोत्सव के लेखक) को हम अपने विचारक्षेत्र से निष्कासित कर सकते हैं; क्योंकि काव्यादर्श, कीर्तिकोमुदी एवं सुरथोत्सव में संगीत-विषयक विवेचन प्राप्त नहीं होता है। काव्यादर्श में किंचित् वृत्ति-विषयक विचार तो मिल जाता है, किन्तु जहाँ तक संगीत-विषयक तत्वों का प्रश्न है, वहाँ कोई भी सामग्री प्राप्त नहीं होती है; क्योंकि 'काव्यादर्श' काव्यप्रकाश की टिप्पणी है और सर्वविदित है कि काव्यप्रकाश संगीत-विषयक ग्रन्थ नहीं है। अतः शारदातनय द्वारा संदर्भित सोमेश्वर 'संगीत-रत्नाकर' में उल्लिखित सोमेश्वर होगा। संगीत-रत्नाकर का सोमेश्वर उपर्युक्त वर्णित प्रथम दो सोमेश्वर नामक व्यक्तियों में से तो एक भी नहीं है; क्योंकि उन दोनों का सम्बन्ध संगीत-क्षेत्र से नहीं है। अतः शेष दो में से कौन-सा सोमेश्वर अभिप्रेत हो सकता है, यह निर्धारित करना है।

---

१. रुद्रटो नान्यभूपालो भोजभूवल्लभस्तथा।
   परमर्दी च सोमेशो जगदेकमहीपतिः ॥ – सं० र० १।१८.

२. द्रष्टव्य – 'संगीत-मकरन्द' में संगीत लेखकों की सूची – गा० ओ० सी० न० १६, पृ० ५६।

३. रूपकाष्टक – गा० ओ० सी० न० ८, भूमिका पृ० ६।

भावप्रकाशन में जब-जब 'सोमेश्वर' का नाम उद्धृत किया गया है, तब-तब राजा भोज के साथ ही हुआ है।[१] अतः अधिक सम्भव है कि उपर्युक्त चार में से अन्तिम दो सोमेश्वर भी राजा रहे हों। किन्तु इन दोनों में से मानसोल्लास का लेखक भी शारदातनय को अभीष्ट नहीं हो सकता ; क्योंकि मानसोल्लास में संगीत विषयक सामग्री होते हुए भी भारती आदि वृत्तियों का कोई विवेचन नहीं है। अतएव संगीत-रत्नावली का रचयिता सोमेश्वर, जिसका काल ११७४–११७७ ईस्वी निर्धारित हो चुका है, शारदातनय द्वारा प्रस्तुत उद्धरणों से सम्बद्ध माना जा सकता है। इस आधार पर शारदातनय १२०० से १२५० ईस्वी तक उन्नत हो गए होंगे।

शिंगभूपाल, कुमारस्वामी तथा कल्लिनाथ आदि के ग्रन्थों में अधिकांश स्थलों पर, संगीत एवं रस के सम्बन्ध में भावप्रकाशन में से उद्धरण ग्रहण करके रखे गये हैं। शिंगभूपाल का काल १३३० ईस्वी तथा कल्लिनाथ एवं कुमारस्वामी का काल पन्द्रहवीं शताब्दी का आरम्भ माना गया है। अतः इन परवर्ती ग्रन्थकारों के काल की निम्नतर सामान्य सीमा १३०० ईस्वी मानी जा सकती है। इससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इनके पूर्ववर्ती शारदातनय १३०० ईस्वी से पूर्व ही अर्थात् १२००–१२५० ईस्वी तक अवश्य उन्नत हो गए होंगे।

इस काल के विषय में यह शंका उठ सकती है कि शारदातनय अपनी विषय सामग्री के लिए यत्र-तत्र कलपता (कल्पवल्ली)[2] नामक एक ग्रन्थ पर आश्रित रहते हैं और कल्पलता का काल बारहवीं शताब्दी से पश्चात् का है ; अतः इस आधार पर भावप्रकाशन का प्रणयन कल्पलता से भी पश्चात् अर्थात् बारहवीं शताब्दी से अत्यन्त परवर्ती काल में हुआ होगा। किन्तु ध्यातव्य रहे कि 'कल्पलता' नामक दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। एक के लेखक अरिसिंह हैं तथा दूसरी के रचयिता देवेश्वर।[३] क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि शारदातनय द्वारा उद्धृत 'कल्पलता' इन दोनों के अतिरिक्त कोई अन्य ही रही हो, जिसकी रचना बारहवीं शताब्दी के पूर्व ही हो चुकी थी। क्योंकि 'कल्पलता' के सन्दर्भों द्वारा रस, भाव आदि कतिपय विषयों का जैसा प्रतिपादन शारदातनय ने किया है, वह अरिसिंह तथा देवेश्वर द्वारा प्रणीत 'कल्पलता' में अभिलक्षित नहीं होता है। अरिसिंह की कल्पलता में शब्द एवं अर्थ तीन प्रकार के वर्णित हैं, जबकि शारदातनय द्वारा संकेतित कल्पलता में चार प्रकार के शब्द-अर्थ कहे गए हैं। इस विषय में शारदातनय कहते हैं कि 'कल्पलता' में वर्णित चार प्रकार के शब्दार्थों को मम्मट तथा स्वयं (शारदातनय) ने प्रदर्शित किया

१. भा० प्र० पृ० १२ पं० २१, पृ० १९४ पं० ६।

२. भा० प्र० पृ० १३१ पं० ४, पृ० १७५ पं० १८।

३. हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोयटिक्स – (एस० के० डे०) भाग १, पृ० २१२–१३।

है ।[1] इस कथन से 'कल्पलता' का काल मम्मट से भी पूर्ववर्ती सिद्ध होता है और मम्मट तो शारदातनय के पूर्ववर्ती हैं ही ।

'रसरत्नदीपिका' के रचयिता अल्लराज द्वारा उद्धृत भावप्रकाशन के उल्लेखों के आधार पर भी शारदातनय का स्थिति-काल १२५० ईस्वी ही निर्धारित होता है ।[2] अल्लराज ने स्वयं को हम्मीर का पुत्र बताया है । यह हम्मीर मेवाड़ का चौहान राजा हम्मीर जान पड़ता है, जिसके विषय में नयचन्द्र सूरी 'हम्मीर-महाकाव्य' की रचना की गई है । इसके अनुसार हम्मीर का काल सम्वत् १३३९ अथवा १२८३ ईस्वी था । अतः हम्मीर के पुत्र अल्लराज का स्थिति काल चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में निर्धारित माना जा सकता है । अल्लराज ने 'रसरत्नदीपिका' में अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के स्मरण के साथ-साथ 'भावप्रकाशन' को भी समादृत किया है[3] ; अतः स्पष्ट है कि शारदातनय अल्लराज से पूर्ववर्ती रहे हैं । अल्लराज की 'रसरत्नदीपिका' का संदर्भ 'रसतरंगिणी' में प्राप्त होता है । इसके रचयिता भानुदत्त का काल १३०० से १३५० ईस्वी के लगभग माना जा सकता है । तब

---

१. इत्थं कल्पलतायां तु वाच्याद्यर्थचतुष्टयम् ॥
निर्णीतं वाचकादेश्च शब्दस्यापि चतुष्टयम् ।
तच्च काव्यप्रकाशेन मयाऽप्यत्र प्रदर्शितम् ॥
भा० प्र० पृ० १७५ पं० १८–२०.

२. द्रष्टव्य – 'रसरत्नदीपिका' की पाण्डुलिपि प्रति नं० ११३३० – बड़ौदा ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट के पुस्तकालय में सुरक्षित ।

३. आसीत्कोंकणभूमिपालमुकुटव्याकीर्णरत्नावलिज्योत्स्नाविस्फुरितांघ्रिपद्मयुगलः क्ष्मापालचूडामणिः । प्रस्फूर्जत्प्रबलप्रतापतपनप्रक्रान्तलोकत्रयः श्रीहम्मीरमहीपतिः वितरणप्रख्यातकीर्तिः सदा ॥२॥
शास्त्राणां पारदृश्वा प्रबलभुजबलोत्क्षिप्तवैरीन्द्रवृन्दः शश्वन्माणिक्यमुक्ता-कनकवितरणैः पूरिताशः कवीनाम् । दिक्प्रान्तख्यातकीर्तिः सकलगुणनिधिः प्रौढकन्दर्पमूर्त्तिः नारीणां चितजन्मा नृपमुकुटमणिः शुद्धवंशप्रदीपः ॥३॥
लक्ष्मीकेलिनिकेतनं च विदुषां विश्रामभूमिः परा वाग्देवीसुहृदालयं सुविपुलं धर्मस्य मुख्यायनम् । नानाकौतुककारणं रसतरोर्बीजं कलाजन्मभूस्तस्मादल्लमहीपतिः समभवद्वीराग्रणीर्वीरहा ॥४॥
काश्यपं कोहलं चैव मतंग दत्तिलं तथा । विशाखिलञ्च माहेशं नाट्यं गिरि-सुतामतम् ॥५॥
नारदं तुंबुरुं चैवार्जुन रावणचोदिम् । पूर्वाचार्यैर्विरचितं नाट्यार्णवमथापि च ॥६॥
नाट्यलोचनमानन्दवर्धनं भरतोदयम् । भावप्रकाशनं चैव तथा शृंगारसागरम् ॥७॥
– 'रसरत्नदीपिका'

अल्लराज का स्थितिकाल भानुदत्त से किंचित् पूर्व तथा शारदातनय का स्थितिकाल अल्लराज से किंचित् पूर्व मानते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि 'भाव-प्रकाशन' की रचना ११५० अथवा ११७५ ईस्वी से १२५० ईस्वी तक के अवान्तर-काल में अवश्य हो गई होगी। अतएव शारदातनय को उपर्युक्त अनेकानेक प्रमाणों के आधार पर निस्संदेह रूप से १२५० ईस्वी का आचार्य कहा जा सकता है।

शारदातनय का व्यक्तित्व

कृतित्व के निखार में व्यक्तित्व का निजी सहयोग एवं विशेष महत्त्व होता है। शारदातनय के ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' का विहंगावलोकन करने पर उनके व्यक्तित्व का एक अनूठा आकार दृष्टिपथ के सम्मुख सजीव हो उठता है। पूर्वप्रचलित ग्रहणीय परम्पराओं को आत्मसात् कर लेने तथा अपने मौलिक विचारों से उन्हें अनुप्राणित कर देने की अपूर्व क्षमता के दर्शन हम उनके व्यक्तित्व में कर सकते हैं। उनका व्यक्तित्व ऐसा पारदर्शी भी था जिसका सहज प्रतिबिम्ब उनकी परवर्ती प्रतिभाओं को अक्षुण्ण रूप से आवेष्टित एवं प्रतिभासित कर सका। और क्यों न करता ? आखिर तो वह साक्षात् शारदादेवी के सुफल वरदान-स्वरूप अवतरित हुआ था। बाल्यावस्था से ही शारदातनय ने पितृ-गृह में समस्त वेद-वेदांगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। एक बार शारदादेवी की उपासना करने के लिए वे घर से चले गए। देवी के मन्दिर में चैत्रयात्रा-महोत्सव के अवसर पर वे उपस्थित थे। प्रेक्षकों के साथ ही नर्त्तनागार (नृत्यशाला) में देवी को प्रणाम करके वहीं पार्श्व में वे स्थित हो गए। भावाभिनय-कोविद नटों के द्वारा प्रयुज्यमान तीस प्रकार के विभिन्न रूपक-प्रयोगों को देखकर उन्होंने देवी से नाट्यवेद की विद्या-प्राप्ति के वरदान की याचना की।[1] वहीं उनके हृदय में तीस रूपकों की रूपरेखा स्थापित हो गई। ऐसे सरल साधक के व्यक्तित्व की भव्यता एवं गौरव का अनुमान लगाना दुःसाध्य नहीं है।

शारदातनय कट्टर सम्प्रदायवादी नहीं रहे होंगे। उनके पूर्वजों में से भी प्रपितामह लक्ष्मण विष्णु के पूजक, पितामह श्रीकृष्ण शिव के भक्त, पिता भट्ट गोपाल माँ सरस्वती के साधक थे। किसी एक देवी या देवता को इष्ट मानने से पूर्व शारदातनय की तर्क-बुद्धि इस सृष्टि का मूल-अन्वेषण करती हुई सांख्य-दर्शन तक पहुँच जाती है।[2] इसी दर्शन के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए उन्होंने श्रोताओं द्वारा नाट्य-रसों के आस्वादान हेतु अत्यन्त रोचक उपमा को अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है ; तथा इसी सम्बन्ध में शिवागम के कुछ प्रारंम्भिक कार्यों का

---

१. भा० प्र० पृ० २ पं० ६–१३।

२. वही पृ० १८१ पं० १६।

भी उल्लेख किया है ।[1] नाट्य-रस का यह आस्वादान अथवा मनोरंजन भी उसी प्रकार का है जिस प्रकार जीवात्मा सांसारिक भोगों का मनोरंजन करता है। इस विषय में अपने तर्कों को प्रस्तुत करते हुए प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के तत्वों यथा – राग, विद्या एवं कला आदि की भी व्याख्या शारदातनय प्रस्तुत करते हैं[2] ; अतः उन्हें प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय का अनुगामी कहा जा सकता है। उन्होंने रस-भाव आदि नाट्य-विषयक तत्वों को दार्शनिक पृष्ठभूमि पर रखकर अपनी मौलिक दृष्टि से परखा है। इसीलिए उनके माध्यम से एक नाट्यविद् दार्शनिक व्यक्तित्व के दर्शन सहज ही में किए जा सकते हैं।

शारदातनय की रचनाएँ

'भावप्रकाशन' के अतिरिक्त शारदातनय द्वारा रचित एक अन्य ग्रन्थ 'शारदीय' का भी प्रमाण प्राप्त होता है।[3] 'भावप्रकाशन' नाट्यपरक है, तथा 'शारदीय' संगीतपरक। 'शारदीय ग्रन्थ का नामकरण उन्होंने अपने नाम 'शारदा-तनय' से ही चयन किया होगा। यह भी सम्भव है कि 'शारदीय' उनकी प्रथम रचना हो, जिसका समर्पण उन्होंने संगीतविद्या की देवी शारदा को ही किया होगा। 'शारदीय' में संगीत के समस्त अंगोपांगों का सम्यक् रूप से वर्णन किया गया था।[4] किन्तु दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ आज अप्राप्य है।

भावप्रकाशन में 'शब्दशक्तिविवेचन'[5] के प्रसंग में शारदातनय काव्यप्रकाशकार मम्मट की शैली से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। अतः ऐसा जान पड़ता है कि सम्भवतः उन्होंने 'काव्यप्रकाश' पर कोई टीका भी लिखी होगी, जो कि 'शारदीय' की ही भाँति आज उपलब्ध नहीं है।

'भावप्रकान' अपने ढंग की एक अनूठी अमर कृति है। नाट्यशास्त्र एवं दशरूपक की वर्णन-शैली से प्रभावित होते हुए भी इस ग्रन्थ की अबद्ध शब्द-रचना में वैदिक शैली के दर्शन होते हैं। इस ग्रन्थ में व्याकरण-सम्बन्धी निर्देशों का पूर्णतः पालन करने के लिए शारदातनय बाध्य नहीं हुए हैं। उन्होंने भाषा के प्रवाह एवं शैली की प्रभावोत्पादकता पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित किया है ; जिसके कारण उनकी शब्द-रचना में भले ही पुनरुक्ति-दोष आगया हो, किन्तु इसे दोष कहना भी

---

१. वही पृ० ५३ पं० ३–६ ।

२. वही पृ० १८१ पं० २०–२२, पृ० १८२ ।

३. मयापि शारदीयाख्ये प्रबन्धे सुष्ठु दर्शितम् ।

— भा० प्र० पृ० १६४ पं० ८.

४. संगीतं तस्य भेदाश्च तत्रैवालोक्यतां बुधैः ।

— वही पृ० १६४ पं० ६.

५. भा० प्रा० षष्ठोऽध्यायः ।

अन्याय ही होगा। उन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ में अधिकृत रूप से उन विभिन्न विचारों का आकलन एवं मौलिक समन्वय किया है, जो भरत के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होकर भरत-शिष्य-परम्परा, दशरूपक, शृंगारप्रकाश एवं काव्यप्रकाश का प्रभाव लेते हुए उन (शारदातनय) तक पहुँचे। अतः भरत से लेकर शारदातनय तक एक शृंखला आबद्ध है। इस शृंखला की कड़ियां तो स्वयंमेव परस्पर समान बाह्याकार की हैं; फिर उन सबका समवेत प्रस्तुतीकरण जब भावप्रकाशन के रूप में किया गया तो यत्र-तत्र पुनरावृत्ति के दर्शन कोई आश्चर्य नहीं है। शारदातनय ने ग्रन्थ के अन्त में पुनरुक्तिदोष का निवारण भी कर दिया है।[१] यह पुनरावर्त्तन की शैली धीरे-धीरे कुछ इस प्रकार से प्राकृतिक सी हो जाती है कि फिर वह सरल-सुबोध एवं सहज-ग्राह्य हो उठती है। व्याकरण सम्बन्धी नियमों के पालन का जहाँ तक प्रश्न है, शारदातनय अपनी त्रुटियों के प्रति सचेत रहते हुए क्षमा-याचना करना नहीं भूले हैं।[2]

'भावप्रकाशन' का अस्तित्व विद्वानों के दृष्टिपथ में उस समय आया जब सन् १८८५ ईस्वी में विक्रमोर्वशीय पर रंगनाथ की तथा सन् १९०० ईस्वी में कर्पूरमंजरी पर वासुदेव की समालोचनाएं प्रकाशित हुई। सन् १८९३ ईस्वी में मद्रास में[३] इस ग्रन्थ के आधार सूत्रों की एक अक्षरानुकूल सूची परिरक्षित हुई, उसी समय 'भावप्रकाशन' की पाण्डुलिपि की खोज की घोषणा हुई। इस पाण्डुलिपि में से ग्रन्थ के कुछ भाग मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी के एक केटलाग में सन् १९१८ ईस्वी में प्रकाशित हुए।[४] कालान्तर में मद्रास-अनुसंधान-संघ को इस ग्रन्थ की अनेक प्रतिलिपियां हस्तगत हुई। चीड़-पत्रों पर लिखी हुई एक प्राचीन पाण्डुलिपि जीर्णावस्था में दक्षिण से ही प्राप्त हुई जो कि बड़ौदा पुस्तकालय[५] में सुरक्षित है।

---

१. भा० प्र० पृ० ३१३ पं० ६–१०।

२. भरतादिप्रणीतत्वादर्थेदोषो न कश्चन।
शब्दे विभक्तिव्यत्यासालिंगव्यत्यासतो पि वा॥
धात्वर्थस्य विपर्यासादोषो यथपि दृश्यते।
सद्भिस्तत्क्षम्यतामत्र को लोके न प्रमाथति॥
— भा० प्र० पृ० २५५ पं० १–४.

३. Government oriental MSS Library, Madras.

४. Vol 22, page. 8737.

५. A MS No. 7978 in the Library of the Oriental Research Institute of Baroda.

कल्लिनाथ के 'कलानिधि' एवं कुमारस्वामी के 'रत्नापण' के प्रकाशन द्वारा भावप्रकाशन तथा शारदातनय के विषय में अन्य विशेष महत्वपूर्ण तत्व जन-साधारण के दृष्टिपथ में अवतरित हुए। शिंगभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर' एवं गोपेन्द्रतिप्पा-भूपाल के 'कामधेनु' में उद्धृत किए गए भावप्रकाशन के उद्धरणों के माध्यम से शारदातनय साहित्य-क्षेत्र में उत्तरोत्तर लोकप्रियता को प्राप्त होते रहे। उनके भावप्रकाशन में रंगशाला की समस्त विद्याओं का सुबोध-निरूपण किया गया है। विविध विषयों का विस्तृत-विवेचन व्यवस्था की अवहेलना नहीं करने पाया है, यही इस ग्रन्थ तथा उसके प्रणेता की सहज-स्वाभाविक विशेषता रही है।

भावप्रकाशन का प्रतिपाद्य विषय

इस ग्रन्थ का आकार दशरूपक, काव्यप्रकाश एवं नाट्यदर्पण इत्यादि ग्रन्थों से अत्यधिक विशाल है तथा नाट्यशास्त्र के समकक्ष है। सदाशिव, शिव-पार्वती, वासुकि, वाग्देवी (सरस्वती), नारद, कुम्भ, व्यास, भरत एवं आञ्जनेय इत्यादि अनेक नाट्यवेत्ताओं के सिद्धान्तों का सार ग्रहण करके शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' का प्रणयन किया है।[1] सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय-सामग्री 'दश अधिकारों' में विभक्त की गई है, जिसमें श्लोक-बद्ध शैली के दर्शन होते हैं।

प्रथम अधिकार 'भावनिर्णयः' में मंगलाचरण एवं स्वपरिचय-कथन के पश्चात् नाट्य के सर्वप्रमुख तत्व 'भाव' का निरूपण किया है। शारदातनय की दृष्टि से भावों का महत्व रस से भी प्रथम है। 'रस' काव्य की आत्मा है, तब भाव तो उस रस का भी जीवनाधायक तत्व हुआ। रस रूपी साध्य की प्राप्ति के लिए भाव रूपी साधन सर्वथा अपेक्षित है। इसीलिए शारदातनय ने भावों को रस-प्रक्रिया के पूर्व ही वर्णित किया है; भले ही भरत ने रस-वर्णन के पश्चात् भावों को रखा हो। भाव की सत्ता के बिना रस की अभिव्यक्ति ही कैसे होगी? अतः नाट्य का मूल तत्व 'भाव' ही है। भाव की इसी महत्ता के कारण शारदातनय ने ग्रन्थ का नामकरण भी 'भावप्रकाशन' किया है, जो कि सार्थक है। प्रथम अध्याय में भावों के विभिन्न भेद, यथा – विभाव अनुभाव, स्थायी भाव, व्यभिचारी एवं सात्विक भाव आदि तथा पुनः इन सबके अवान्तर भेदों का विस्तृत प्रतिपादन किया है।

द्वितीय अधिकार 'रसस्वरूपाश्रयवृत्तिनिर्णयः' में भाव के पश्चात् नाट्य के सर्वाधिक विशेष तत्व 'रस' का प्रतिपादन किया है, जिसमें भरतरससूत्र पर आधारित विभिन्न पारम्परिक अभिमतों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भरत के अनुसार ही शारदातनय ने भी आठ रसों को स्वीकार किया है। शान्त रस के विषय में धनंजय का मत स्वीकार करते हुए शारदातनय यह तो कहते हैं कि 'रामादि के द्वारा कोई भी विभाव, अनुभाव एवं सात्विक भाव उत्पन्न न होने के

---

१. भा० प्र० पृ० २ पं० १६–२२.

कारण शान्तरस का अभिनय रंगमंच पर नहीं हो सकता'[1]; किन्तु फिर भी शारदातनय शान्तरस के प्रति उतने कठोर नहीं हैं। धनंजय के विपरीत यह सोचने में उदारता प्रदर्शित करते हैं कि शान्त रस नाट्य में नहीं; हां, काव्य में स्थान प्राप्त कर सकता है।[2] द्वितीय अधिकार में ही प्रसंगवश नाट्य, नृत्त एवं नृत्य का निर्वचन करते हुए वे लास्य एवं ताण्डव का भी निरूपण करते हैं।[3] रस-विवेचन के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्वपूर्ण श्रृंगार-रस के विषय में शारदातनय भोज से प्रभावित हुए हैं। काव्य एवं रस के मध्य का सम्बन्ध वे व्यंग्य-व्यंजक-भाव न मानकर भाव्य-भावक-भाव[4] स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार कारण तथा प्रभाव की दृष्टि से काव्य एवं रस परस्पर आबद्ध हैं।

तृतीय अधिकार 'रसभेदतत्प्रकारनिर्णयः' में रस की उत्पत्ति तथा वाचिकादि भेद से श्रृंगारादि रसों के विभागों का निरूपण किया गया है। श्रृंगारादि रसों के विष्णु आदि देवताओं के देवत्व का कारण वर्णित किया गया है। समस्त रसों के स्थायी भाव, अनुभाव, विभाव आदि का भी विस्तार से प्रतिपादन हुआ है।

चतुर्थ अधिकार 'श्रृंगारालम्बननायकनायिकादिस्वरूपनिर्णयः' में, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, नायक-नायिका आदि का स्वरूप निरूपित है। श्रृंगार के स्थायी भाव रति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए रति के वृद्धि-कारक प्रेम आदि षड्गुणों का भी उल्लेख शारदातनय ने किया है। श्रृंगारोचित देश-काल-गुण-चेष्टा आदि का रोचक निरूपण भी प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् श्रृंगारोचित पात्रों के वर्णन-प्रसंग में नायक के विभाग एवं लक्षणों का प्रस्तुतीकरण किया है। नायिकाभेद प्रसंग के अवसर पर रुद्रट के मतानुसार ३८४ नायिकाभेदों का अभिधान भी किया है।[5]

पंचम अधिकार 'नायकनायिकाभेदतत्तदवस्थादिनिरूपणम्' में स्त्री के यौवन, कोप, चेष्टा आदि, वेशिक नायक, उनकी प्रकृति, व्यवहार एवं अवस्था आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। नायिकाओं का सत्त्वभेद-कथन करते हुए उनके देवशीला, दैत्यशीला इत्यादि बाईस भेदों का उल्लेख किया गया है।

षष्ठम अधिकार 'शब्दार्थसम्बन्धतद्भेदप्रकारनिर्णयः' में शब्द-शक्ति-विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो विस्तृत होते हुए भी व्यवस्थित है। रस की सिद्धि के लिए

---

१. भा० प्र० पृ० ४७ पं० ५–९।

२. वही पृ० १३५–१३६।

३. भा० प्र० पृ० ४५ पं० १६ से पृ० ४६ पं० २० तक।

४. वही पृ० ५३ पं० ७–८।

५. वही पृ० ७८ पं० ४–२२; पृ० ८२–८५; पृ० ९५ पं० ८–९।

व्यंजना शक्ति अत्यन्त अपेक्षित है ; अतः व्यंजना तथा उसके साथ ही साथ अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्या शक्तियों का निर्वचन भी प्रसंग-प्राप्त हो गया है । शक्तियों के अनुपात के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम एवं अधम-त्रिविध रूपों का प्रतिपादन भी शारदातनय ने किया है ।[1] इसी अधिकार में प्रसंगवश रस, रसाभास एवं हेत्वाभास इत्यादि का भी कथन किया है ।

सप्तम अधिकार 'नाट्येतिवृत्तशरीरलक्षणाभिधानम्' में संगीत-विषय का सांगोपांग वर्णन हुआ है, जो कि रंगशाला का एक मुख्य एवं आवश्यक तत्व है । संगीत के विस्तृत क्षेत्र में गायन, वादन, नृत्य, नाद, वर्ण, स्थान श्रुति, धातु, गीति, रीति एवं छन्द आदि अनेकानेक विषयों का समावेश किया गया है । स्वरों से धातु-उत्पत्ति के वर्णन प्रसंग में शरीर की धमनी-संख्या के आधार पर श्रुतियों की संख्या चौबीस मानी गई है ।[2] इससे ज्ञात होता है कि शारदातनय आयुर्वेद के भी पूर्ण ज्ञाता थे ।[3] इसके अतिरिक्त राग, यति, गति, लय, ताल, काल, अलंकार, गमक एवं आयाम आदि संगीत के विविध विषयों का पारिभाषिक निर्वचन भी उन्होंने प्रस्तुत किया है । इसी अध्याय में नाट्य-शरीर का रचना-विधान प्रस्तुत करते हुए कथावस्तु, अर्थप्रकृतियां, अवस्थाएं, संधियां, सन्ध्यंग एवं अर्थोपक्षेपक इत्यादि भी शारदातनय ने विस्तार से निरूपित किये हैं ।[४]

अष्टम अधिकार 'दशरूपकलक्षणम्' में तीस रूपकों का नामोल्लेख करके नाटकप्रकरण आदि दशरूपकों का लक्षण एवं स्वरूप प्रतिपादित किया है । इस सन्दर्भ में मातृगुप्त, हर्ष, सुबन्धु कोहल तथा भोज इत्यादि प्रसिद्ध विभूतियों का मतोल्लेख भी शारदातनय ने किया है । नाटक आदि दशरूपकों के उदाहरण-स्वरूप जिन विभिन्न रूपकों के नाम शारदातनय ने उद्धृत किये हैं, उनमें से अधिकांश आज अप्राप्य भी हैं ।

नवम अधिकार 'नृत्यभेदस्वरूपनिरूपणम्' में नृत्य के बीस भेदों का वर्णन है । यह बीस नृत्य-भेद ही 'उपरूपक' कहे गए हैं । इसी अध्याय में नाटक के पात्रों के लिए उचित भाषा-नियमों का निर्देश किया गया है । इसके अनन्तर आख्यायिका सर्गबन्ध, आश्वासबन्ध, संहिता, कोश एवं चम्पू इत्यादि के स्वरूप का निर्वचन किया गया है ।[५]

---

१. भा० प्र० पृ० १७२ पं० १५ से पृ० १७४ पं० ६ तक ।
२. वही पृ० १८६ पं० ५ से पृ० १८७ पं० १४ तक ।
३. वही पृ० १८६ पं० १४ ।
४. वही पृ० १८८ पं० १६ से पृ० १६३ तक, पृ० २००–२२० ।
५. भा० प्र० पृ० २६६ पं० २१–२२ से पृ० २७१ तक, पृ० २८२ पं० १० से पृ० २८३ पं० ३ तक ।

दशम अधिकार 'नाट्यप्रयोगभेदप्रकारविशेषनिर्णयः' में नाट्य-प्रयोग की विधि एवं भेद इत्यादि का प्रतिपादन हुआ है। किन्तु इससे पूर्व शारदातनय ने इस अध्याय के प्रारम्भ में ही नाट्य की वैदिक उत्पत्ति का विस्तृत कथन किया है, जो कि भरत-नाट्य-शास्त्र में प्रतिपादित नाट्योत्पत्ति की कथा से भिन्न है।[1] तत्पश्चात् विभिन्न नाट्यप्रयोक्ताओं का स्वरूप-निर्वचन किया है। शुद्ध एवं देशी प्रयोगों के उल्लेख-प्रसंग में पुनः लास्य-ताण्डव नृत्तों का स्वरूप एवं विभागादि का निरूपण हुआ है। मार्गी प्रयोग में ध्रुवा के स्वरूप, उपयोग एवं विभागों का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है। इसके अनन्तर भारतवर्ष का स्वरूप एवं स्थिति निर्दिष्ट करते हुए यहाँ प्रचलित विभिन्न भाषा-भाषियों एवं उनकी नाट्योपयोगिता को प्रदर्शित किया है। अन्त में पुनरुक्तिदोष का निवारण करते हुए शारदातनय ने अभिनवगुप्त की अनुयायिता स्वीकार की है।[2]

उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय-सामग्री का समवेत रूप से कथन ग्रन्थ के आरम्भ में ही शारदातनय प्रतिपाद्य प्रतिज्ञा के रूप में कर देते हैं[3]; जिसमें उन्होंने ग्रन्थ के दश अधिकारों में विभक्त नाट्यशास्त्र-विषयक सम्पूर्ण तत्वों की सामान्य रूपरेखा का निर्वचन प्रस्तुत कर दिया है। इसके अतिरिक्त प्रसंग-प्राप्त काव्य-शास्त्र विषयक सामग्री का भी समावेश किया है। ग्रन्थ की यह प्रतिपाद्य विषय-सामग्री नाट्यविषय की अभूतपूर्व विशद व्याख्या करने में सर्वथा सक्षम है।

—:o:—

१. (क) भा० प्र० पृ० २८४ पं० ५ से पृ० २८७ पं० ६ तक।
(ख) ना० शा० प्रथमोऽध्यायः।

२. भा० प्र० पृ० २८७ पं० १६ से पृ० २९४ पं० १९ तक, पृ० २९५ पं० २१ से पृ० २९७ पं० १६ तक, पृ० ३०२ पं० २ से पृ० ३०३ पं० १७ तक, पृ० ३०९ पं० ५ से पृ० ३१२ पं० १५ तक, पृ० ३१३ पं० ११–१४।

३. भा० प्र० पृ० २ पं० २३ पृ० ३ पं० २१ तक।

अध्याय ३

शब्द-शक्तियों का विवेचन

नाट्य के साध्य एवं साधन क्रमशः रस एवं भाव हैं, जिनकी ओर शारदातनय की विशेष अभिरुचि केन्द्रीभूत है। किन्तु भाव से प्रस्फुटित रस की सिद्धि व्यंजना से ही सम्भव है, अतएव भाव एवं रस से पूर्व व्यंजना शक्ति का निरूपण नितान्त अपेक्षित है। इसके साथ ही अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्या शक्तियों का विवेचन भी प्रसंगप्राप्त है; क्योंकि साहित्य-क्षेत्र के इतिहास में भिन्न-भिन्न शक्तियों को प्रधानता दी जाती रही है। ये शक्तियां 'शब्द' की मानी जाती हैं अतः यहाँ शब्द, उसके अर्थ एवं शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में विचार करना भी अत्यावश्यक है।

समस्त लोक का आधार शब्द ही है। शब्दों अथवा वाणी के द्वारा ही व्यवहार प्रवर्तित होता है। ऋग्वेद में वाग् (शब्द) की प्रशस्ति की गई है।[1] उपनिषदों में भी जगत् की उत्पत्ति की क्षमता से युक्त वाग् की महिमा गाई गई है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यह शब्द की ज्योति ही सम्पूर्ण संसार में दीप्त है। दण्डी के शब्दों में सम्पूर्ण-अन्धकारयुक्त तीनों भुवन ज्योति-स्वरूप शब्द के द्वारा ही आलोकित हो रहे हैं।[2] मानव अपने हृदयगत सम्पूर्ण भावों की अभिव्यक्ति शब्द के ही माध्यम से करता है। इन शब्दों का महत्व तब और भी बढ़ जाता है, जब वे अपने विशिष्ट 'अर्थ' से युक्त हों।

उच्चारित शब्द ध्वनि-रूप है। यदि यह कहा जाय कि ध्वनियां तो नश्वर हैं, उच्चारण के तुरन्त बाद उनका अस्तित्व नष्ट हो जाता है; फिर उस ध्वनि से 'अर्थ' का ज्ञान कैसे सम्भव है? इसका समाधान यह है कि ध्वनियां अस्तित्वहीन

१. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥
— ऋ० वे० १०।१२५।५.

२. इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥ — काव्यादर्श १।४.

होने पर भी उच्चारित होते ही मन पर स्थायी संस्कार डाल देती हैं। वैयाकरणों के अनुसार ध्वनि के द्वारा बुद्धि अथवा मन में पूर्व-स्थित अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यही अभिव्यक्ति 'स्फोट' कहलाती है। स्फोटवादियों के अनुसार संस्कार निर्मित नहीं, अपितु प्रस्फुटित होता है। इन्हीं का समर्थन करते हुए शारदातनय शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति मानते हैं।[1] वैयाकरणों ने शब्द को अनित्य तथा नित्य के भेद से दो प्रकार का माना है।[2] 'अनित्य' शब्द तो वह है जो उच्चरित होने पर श्रवणयोग्य होता है। 'नित्य' शब्द उच्चारण से पूर्व ही अवस्थित रहता है, इसे ही 'स्फोट' कहा गया है। जिससे अर्थ स्फुटित होता है, वह स्फोट है। यहाँ पर ध्वनि तथा स्फोट को पृथक-पृथक माना गया है, क्योंकि ध्वनि एकरूप नहीं है; जबकि स्फोट सदैव एकरूप रहता हैं। अतः ध्वनि स्फोटात्मक होते हुए भी वृत्तिभेद के द्वारा स्फोट से भिन्न है।[3] परन्तु शारदातनय ध्वनि तथा स्फोट में कोई भेद नहीं मानते हैं,[4] क्योंकि ध्वनि तथा स्फोट दोनों शब्द ही हैं। पतंजलि ने ध्वनि तथा स्फोट के भेद के साथ-साथ अभेद-व्यवहार का भी कथन किया है।[5] इन दोनों का अभेद ही शारदातनय को अभीष्ट है। वैयाकरणों ने अखण्ड (सम्पूर्ण) वाक्य को स्फोट रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि पूर्ण अर्थ का बोध वाक्य से होता है, न कि शब्दों से। अतः पद और वाक्य में कोई मूल अन्तर नहीं है।[6] इसी विचारधारा से शारदातनय प्रभावित जान पड़ते हैं। क्रम से श्रूयमाण वर्णों से भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती। वर्णों के समुच्चय से जब वाक्य बनता है, तब अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा पूर्ण अर्थ की प्रतीति होती है।[7]

भरत ने वाचिक अभिनय के प्रसंग में शब्द का शास्त्रीय-विवरण प्रस्तुत

---

१. भा० प्र० पृ० १७८ पं० १७–२२.

२. तत्र त्वेव निर्णयः। यथेव नित्यः। अथापि कार्यः। उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति। म० भा० (प्रथम काण्ड) पृ० १३.

३. स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते ॥
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृतः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्नभिद्यते ॥ — वा० प० १।७६, ७८.

४. स ध्वनिस्फोट इत्यत्र शाब्दिकैः परिभाष्यते ॥ — भा० प्र० पृ० १७८, पं० २२.

५. अन्यत्र ध्वनिस्फोटयोर्भेदस्य व्यवस्थापितत्वाद् इहाभेदेन व्यवहारेऽपि न दोषः। — म० भा० पृ० ३ (कैयट कृत व्याख्या)

६. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ — वा० प० १।७४.

७. भा० प्र० पृ० १७८, पं० ७–१८.

किया है । वहाँ पर उन्होंने शब्द-विधान के सम्पूर्ण अंगों एवं व्युत्पत्तियों का विस्तार-पूर्वक निरूपण किया है ।[१]

प्राचीन वाङ्मय से लेकर सम्पूर्ण काव्य-सृष्टि में प्रयुक्त शब्दों को तीन भागों में विभक्त किया गया है—वेदशब्द, शास्त्रशब्द तथा काव्यशब्द । वेदों में प्रयुक्त शब्दों में शब्द की ही प्रधान महिमा होती है । वहाँ प्रयुक्त हुए शब्दों के रूप अथवा क्रम को परिवर्तित नहीं किया जा सकता । शास्त्रों में प्रयुक्त शब्द अर्थप्रधान होता है, क्योंकि शास्त्रशब्द पाठक को अपने अर्थों की गरिमा से प्रभावित करके उपदेश प्रदान करता है । काव्य शब्द में शब्द या अर्थ की प्रधानता पर ध्यान न देकर उक्तिवैचित्र्य को देखा जाता है ।

'अर्थ' को शब्द से भिन्न नहीं माना जा सकता । जिस शब्द के उच्चारित होने पर जिस अर्थ की प्रतीति अर्थात् बोध होता है, वही उसका अर्थ कहलाता है ।[2] अर्थरहित काव्य निरर्थक एवं सारहीन है । अतः भरत के शब्दों में काव्य मृदु पद एवं अर्थों से संयुक्त होना चाहिए ।[३] 'अर्थ' शब्द किसी वस्तु-विशेष के बोध के लिए प्रयुक्त होता है । जिस प्रकार शब्द तीन प्रकार के होते हैं - वाचक, लक्षक तथा व्यंजक ; उसी आधार पर अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य के भेद से त्रिविध होते हैं ।[४] शारदातनय ने मम्मट द्वारा प्रतिपादित शब्द और अर्थ के त्रिविध भेदों का निरूपण किया है और साथ ही कल्पलता में निरूपित वाच्यादि अर्थ-चतुष्टय एवं वाचकादि शब्द-चतुष्टय का भी प्रतिपादन किया है ।[५]

लोकव्यवहार एवं काव्यव्वहार के मुख्य तत्त्व शब्द एवं अर्थ ही हैं । शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य होता है । शब्द एवं अर्थ वस्तुतः एकरूप में अवस्थित हैं, उनका पृथक-पृथक रूप तो लोकव्यवहार में परिलक्षित होता है ।[६] शब्दार्थ-सम्बन्ध अनित्य मानने पर उनका सम्बन्ध ही किस प्रकार बनेगा ? पतंजलि के शब्दों में शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता का कारण शब्द की वह योग्यता (शक्ति) है, जो अर्थ-बोध कराती है ।[७] शब्द ब्रह्म-रूप है, इसीलिए शब्दार्थ-सम्बन्ध भी ब्रह्म की

---

१. ना० शा० चौ० १५।१–४०.

२. एकस्यैवात्मनो भेदो शब्दार्थावपृथक्स्थितो ।
यस्मिस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते ।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥ — वा० प० २।३१, ३३०.

३. मृदुललितपदार्थं .... । – ना० शा० चौ० १७।१२३.

४. भा० प्र० पृ० १६० पं० १४–१५ ; का० प्र० २।६ ; का० द० पृ० २३.

५. भा० प्र० पृ० १७५ पं० १८–२०.

६. नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः । ....
— वा० प० १।२३, २६.

७. महाभाष्य १।१ (कैयट-कृत व्याख्या), पृ० १५.

भांति नित्य ही है। वैयाकरणों की इस शब्द-ब्रह्म की परिकल्पना में तान्त्रिकों की प्रकृत-बिन्दु एवं शिव-शक्ति का भी समावेश हो जाता है।[१]

शारदातनय ने शब्दार्थ-सम्बन्ध छः प्रकार का कहा है—वाच्य-वाचक, लक्ष्य-वाचक, व्यंग्य-व्यंजक, गम्य-गमक, द्योत्य-द्योतक तथा प्रत्याय्य-प्रत्यायक सम्बन्ध।[2] भोज के आधार पर उन्होंने वाक्य के सुप्रयोग के लिए सगुण, सरस, सालंकार एवं निर्दोष नामक चार गुण तथा इनसे विपरीत निर्गुण आदि चार दोष कहे हैं। ये दोष पद, वाक्य एवं वाक्यार्थ में होने पर त्रिविध हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न स्थलों पर वे पुनः षोडश हो जाते हैं।[३]

शब्दार्थ सम्बन्ध के अन्तर्गत शारदातनय ने व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय तथा एकार्थीभाव का निरूपण किया है।[४] इनमें से जो प्रथम तीन व्यपेक्षा, सामर्थ्य एवं अन्वय हैं, उन्हें मम्मट ने आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि कहा है।[५] इनमें से सन्निधि को नैयायिक 'आसक्ति' कहते हैं।[६] यह आसक्ति ही शारदातनय के शब्दों में 'अन्वय' है। वैयाकरणों ने इन तीनों के स्थान पर 'अध्याहार' का वर्णन किया है, साथ ही 'एकार्थीभाव' का भी निरूपण किया है, जिसे नैयायिकों तथा मम्मट ने प्रतिपादित नहीं किया है। ध्यातव्य है कि शारदातनय ने 'एकार्थीभाव' का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होंने शब्दार्थगत गुणदोषादि के आक्षेप एवं समाधान का व्यवस्थापन भी विस्तार से प्रस्तुत किया है। यह दोषादि वक्ता के अधीन हैं, शब्द के नहीं, क्योंकि कवि अपने प्रयोग कौशल के द्वारा दोषों को भी गुण ही बना सकता है।[७]

इस प्रकार शारदातनय द्वारा प्रतिपादित शब्दार्थ विवेचन तथा द्वादशविध-शब्दार्थसम्बन्धनिरूपण[८] अपनी मौलिक विशेषता से युक्त है। भोज, अभिनव, मम्मट आदि आचार्यों के मतों को भी समादृत करने के कारण वह विवेचन सर्वथा प्रामाणिक है, साथ ही अपेक्षाकृत विस्तृत एवं ग्राह्य भी है।

---

१. वै० सि० ल० मं० पृ० ३६, ४८।

२. भा० प्र० पृ० १५५–५६।

३. स० कण्ठा० १।२-३ ; भा० प्र० पृ० १५२ पं० ३–१३।

४. भा० प्र० पृ० १५१ पं० ५–११.

५. अकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति अभिहितान्वयवादिनां मतम्।
— का० प्र० २।६ (व्याख्या भाग)

६. न्या० सि० मु०, कारिका ८२–८४.

७. भा० प्र० पृ० १५१ पं० १२-२२ ; पृ० १७५ पं० २१-२२ ; पृ० १७८ पं० १-३।

८. वही पृ० १४५ पं० ५–१२।

शब्द की वृत्तियाँ (शक्तियाँ)

'वृत्ति' शब्द 'शक्ति' का पर्यायवाची है। दर्शनशास्त्र की 'वृत्ति' साहित्य-शास्त्र की 'शक्ति' है। शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध 'वृत्ति' है।[1] ये वृत्तियाँ तीन मानी गई हैं—शक्ति, भक्ति तथा व्यक्ति। ये तीनों क्रमशः गंगा, यमुना एवं सरस्वती का रूप हैं।[2] इन्हीं तीनों को क्रमशः अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना कहा जाने लगा तथा ये अभिधा आदि तीनों शब्द की शक्तियाँ कहलाने लगीं। पद से पदार्थ का सम्बन्ध 'शक्ति' है।[3] यह शक्ति अथवा वृत्ति अर्थबोधक व्यापार की मूलभूत कारण होती है। यह वह तत्व है जिसके द्वारा शब्द के विषय में विचार किया जाता है। वाचक, लक्षक तथा व्यंजक—इन तीन प्रकार के शब्दों के सम्बन्ध में विचार करने वाली त्रिविध ही शक्तियाँ होती हैं—अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना।[4] अग्निपुराण में इन शब्द-शक्तियों का उल्लेख पृथक से न करके 'शब्दार्थलंकार के विवेचन-प्रसंग में किया गया है।[5] इन तीनों शब्द-शक्तियों का विवेचन संग्रहात्मक एवं व्यवस्थित रूप से सर्वप्रथम मम्मट ने प्रस्तुत किया है।[6] उनसे पूर्व जिन आचार्यों ने शब्द-शक्ति का प्रतिपादन किया, उन्होंने तीन शक्तियों में से एक या दो को स्वीकार किया। यथा आनन्दवर्धन ने अभिधा एवं लक्षणा का केवल नामोल्लेख करके व्यंजना का विशद निरूपण किया है।[7] नैयायिकों ने केवल शक्ति (अभिधा) एवं लक्षणा ही मानी है, व्यंजना नहीं।[8] मुकुलभट्ट केवल अभिधा को ही स्वीकार करते हैं। लक्षणा तो अभिधा का ही एक रूप है, तथा व्यंजना लक्षणा का एक रूप है। अतः मुख्य शक्ति अभिधा ही है। मुकुलभट्ट के अनुसार अभिधा के दश भेद हैं, जिनमें जात्यादि चतुर्विध अर्थों की बोधक अभिधा के चार भेद तथा लक्षणा के षड्विध भेदों को परिगणित किया है। उन्होंने व्यंजना के समस्त भेदों का अन्तर्भाव लक्षणा-भेदों में कर दिया है। अतः सर्वप्रमुख अभिधा ही होने से अन्य किसी शक्ति को मानने की क्या आवश्यकता है?[9] मुकुलभट्ट के अतिरिक्त मण्डन मिश्र आदि अन्य

---

१. वृ० दी० पृ० १।
२. शक्तिभक्तिव्यक्ति-गंगायमुनागूढनिर्झराः। — त्रिवेणिका पृ० १.
३. शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। — न्या० सि० मु०, कारिका ८१.
४. सा० द० २।३.
५. अ० पु० ३४५।७-१५.
६. का० प्र० उल्लास २–५.
७. ध्वन्या० १।१९-१०.
८. शक्ति-वार्तिक – पृ० १.
९. लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्। ....
.... इत्येतदभिधावृत्तं दशयात्र विवेचितम्॥ –अ० वृ० मा० १२–१३.

मीमांसक अभिधा के साथ-साथ लक्षणा को भी पृथक् रूप से स्वीकार करते हैं।

कुन्तक ने 'वक्रोक्ति' की सृष्टि करके आनन्दवर्धन के ध्वनि उदाहरणों को उस पर घटित कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने ध्वनि का स्पष्ट खण्डन न करते हुए भी उसके प्रति अपनी अरुचि प्रदर्शित की है, क्योंकि वे मुख्य रूप से अभिधा-वादी आचार्य हैं, अतः वाच्यार्थ में ही लक्ष्य-व्यंग्य अर्थ का अन्तर्भाव कर लेते हैं।[1] मीमांसक भट्टनायक भी ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन करते हैं, क्योंकि उनके यहाँ भी व्यंजना की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु उनके ध्वनि-विरोध का अभिनवगुप्त ने उपहास किया है।[2] महिमभट्ट नैयायिक होने के कारण ध्वनि तथा व्यंजना का अनुमान में अन्तर्भाव करना अभीष्ट समझते हैं।[3] धनंजय भी व्यंजनावादी नहीं हैं।[4] वे अभिधावादी हैं, और लोल्लट के 'दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापार' के पोषक हैं।

शारदातनय ने अभिधा तथा लक्षणा के निरूपण के साथ-साथ व्यंजना का भी विस्तृत विवेचन किया है।[5] उन्होंने वृत्तिनिरूपण के प्रसंग में एक स्थल पर अभिधा, लक्षणा तथा गौणी नामक त्रिविध वृत्तियों का निर्देश किया है,[6] उस पर अग्निपुराण का प्रभाव जान पड़ता है।[7] यह गौणी वृत्ति व्यंजना से सर्वथा भिन्न है। शारदातनय की भाँति विश्वनाथ[8] तथा पण्डितराज[9] ने भी अभिधा, लक्षणा, व्यंजना— तीनों शब्द-शक्तियों का प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार अग्निपुराण से लेकर पण्डितराज तक शब्द-शक्तियों के विषय में विविध मत प्रतिपादित हुए हैं, उनमें से मीमांसक अभिधा के पक्ष में हैं तथा ध्वनि-वादी व्यंजना का पूर्णरूपेण समर्थन करते हैं। जिन विद्वानों ने तीनों शक्तियों का

---

१. यस्मादर्थप्रतीतिकारित्वात् उपचारात् तावपि वाचकावेव। एवं लक्ष्यव्यंग्य-योरर्थयोः प्रत्येयत्वसामान्यादुपचारात् वाच्यत्वमेव। — व० जी० १–८.

२. वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहकः समर्थ्यत इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसो यम्। — ध्व० लोचन – पृ० २०.

३. अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥ —व्य० वि० १ (प्रथम विमर्श)

४. द० रू० ४।३७.

५. भा० प्र० पृ० १४५ पं० १५-१७ ; पृ० १६७ पं० १५ से पृ० १७१ पं० ७ तक।

६. वृत्तिस्त्रिधा पदार्थेषु पदानामुच्यते बुधैः।
अभिधालक्षणा गौणीत्येतासां रूपमुच्यते॥
— भा० प्र० पृ० १४५ पं० १३–१४.

७. अ० पु० ३४५।१०–१२.

८. सा० द० २।४–१८.

९. र० गं० द्वितीयमाननम्।

विशद विवेचन प्रस्तुत किया है, उनमें से शारदातनय सर्वप्रमुख एवं महत्वपूर्ण हैं; क्योंकि उन्होंने शब्द की इन तीनों वृत्तियों का ऐसा पर्याप्त निर्वचन किया है जो विभिन्न पूर्ववर्ती मतों के उल्लेखों से संवलित है।

अभिधा का स्वरूप—

सामान्य अर्थबोध अभिधा में ही नियत होता है। दूसरे शब्दों में शब्द का मुख्य अर्थ अभिधा शक्ति के द्वारा बोधित होता है। शब्द-कोश में दिए गए शब्दों का अर्थ अभिधा पर ही आधारित होता है। अभिधा के द्वारा अभिधेय एवं अभिधान का सम्बन्ध नियमित किया जाता है।[1] अभिधेयार्थ लौकिक व्यवहार से ज्ञात किया जाता है।[2] पद एवं पदार्थों के मध्य वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध स्थापित करने वाली शक्ति अभिधा है।[3] आनन्दवर्धन के अनुसार शब्दों का अभिधान करने वाला व्यापार अभिधा है, जो मुख्य एवं गौण होता है। उद्भट ने उस व्यापार को अभिधा कहा है जो शब्द के अर्थ का बोध कराने में समर्थ हो। रुद्रट अर्थ को प्रवर्तित करने वाली उस शक्ति को अभिधा कहते हैं, जिसका शब्द 'वाचक' कहलाता है। मुकुलभट्ट का मत है कि सभी अर्थों से पूर्व मुख्य अर्थ का बोध अभिधा के द्वारा उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार दर्पण में अन्य अंगों से पूर्व मुख ही दिखाई देता है। मम्मट के शब्दों में मुख्यार्थ अर्थात् साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने में शब्द का जो व्यापार होता है, वह अभिधा कहलाता है। महिमभट्ट शब्दों में केवल अभिधा शक्ति को ही मानते हैं, जो अभिधेय अर्थ को बोधित करती है। विश्वनाथ के अनुसार संकेतित अर्थ का बोधन कराने के कारण शब्द की अग्रिमा शक्ति अभिधा होती है। पण्डितराज ने अभिधा का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए वैयाकरणों, मीमांसकों एवं नैयायिकों के पक्ष प्रस्तुत किए हैं।[4]

शारदातनय ने उस व्यापारात्मिका शब्दशक्ति को अभिधा कहा है जिसकी अभिधेय अर्थ में प्रवृत्ति हो। वह अभिधेय अर्थ शब्द का मुख्यार्थ होता है, उस मुख्यार्थ को व्यक्त करने वाला व्यापार ही अभिधा है।[5]

उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं में अभिधा का जो स्वरूप स्पष्ट होता है, वह सामान्यतः समान ही परिलक्षित होता है। हां, उसमें मतभेद तो तब उपस्थित

---

१. वा० प० २।४०८.

२. महाभाष्य (प्र० आ०) पृ० १७.

३. वै० सि० ल० मं० पृ० २३।

४. ध्वनया० पृ० ३२; का० सा० सं० १।६; का० अलं (रुद्रट) ७।१; अ० वृ० भा० १; का० प्र० २।८; व्य० वि० पृ० १०८-६; सा० द० २।४; र० गं० पृ० २२०–२८।

५. भा० प्र० पृ० १४५ पं० १५–१६; पृ० १६२ पं० २२; पृ० १६३ पं० १।

होता है, जब अभिधा से सम्बद्ध 'वाचक' शब्द के संकेतग्रह के लिए जात्यादि चतुर्विध विभागों की परिकल्पना की जाती है। जहाँ पर व्यवधान रहित स्पष्ट संकेत का ग्रहण जिस शब्द के द्वारा किया जाता है, वह उसका वाचक शब्द होता है। पतंजलि ने जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य (यदृच्छा) - इन चारों में संकेतित अर्थ माना है तथा मीमांसकों ने केवल जाति में ही स्वीकार किया है। 'गौ'—इस शब्द की प्रवृत्ति 'जाति' कहलाती है। 'गच्छति—इस शब्द की प्रवृत्ति क्रिया है। 'शुक्ल' शब्द की प्रवृत्ति गुणगामिनी है तथा 'डित्थ' आदि संख्या द्रव्य या यदृच्छा है।[1]

यह प्रवृत्ति-निवृत्ति 'व्यक्ति' में मानने से एक तो आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष उत्पन्न हो जाते हैं; दूसरे, गौ, शुक्ल, चलति एवं डित्थ—इन शब्दों का विषय विभाग न हो पाने के कारण तथा संकेतकरण में अशक्त होने के कारण 'व्यक्ति' में 'संकेतग्रह' मानना उपयुक्त नहीं है। अतः 'उपाधि' में ही शब्द का संकेत ग्रहण किया जाता है, ऐसा भर्तृहरि का कथन है।[2] उनके अनुसार उपाधि दो प्रकार की होती है—वस्तु का धर्म तथा वक्ता की इच्छा से सन्निवेशित। वस्तु का धर्म भी सिद्ध एवं साध्य रूप से द्विविध होता है। सिद्ध वस्तु धर्म भी दो प्रकार का होता है—पदार्थ का प्राणप्रद तथा विशेषकृत्। इनमें से प्राणप्रद सिद्ध वस्तुधर्म 'जाति' उपाधि होता है, जिसके विषय में 'वाक्य पदीय' में कहा गया है कि गौ वास्तव में स्वरूप से न 'गौ' है। विशेषकृत् सिद्ध वस्तुधर्म 'गुण' उपाधि कहलाता है, क्योंकि शुक्लादि के ही कारण लब्धसत्व वस्तु अन्य वस्तुओं की अपेक्षा विशिष्ट हो जाती है। साध्य वस्तुधर्म 'क्रिया' उपाधि कहलाता है, जिसमें आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण व्यापार (पूर्वापरीभूतावयवादिक्रिया) निहित रहता है। वक्ता की यदृच्छा अर्थात् क्रम रहित स्वेच्छा से सन्निवेशित संज्ञा रूप उपाधि 'डित्थ' है।[3]

उपर्युक्त विभाजन में विशेषकृत वस्तुधर्म को 'गुण' माना गया है; परन्तु वैशेषिक दर्शन में कणाद ने जो 'परिमाण' को भी 'गुण' कहा हैं, उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है। इस शंका का समाधान भी शारदातनय ने मम्मट के आधार पर प्रस्तुत किया है, कि लोकव्यवहार तथा व्याकरणक्षेत्र आदि भिन्न-भिन्न स्थलों पर एक ही शब्द की विभिन्न परिभाषायें होती हैं, तथा अपने-अपने क्षेत्रों में सभी मान्य होती हैं। इसी प्रकार कणाद के द्वारा वैशेषिक दर्शन में प्रस्तुत चौबीस गुणों में 'परिमाण' की भी गणना पारिभाषिक होने से युक्तियुक्त मानी जा सकती है।[4]

---

१. महाभाष्य (द्वि० आ०) पृ० ३७ ; का० प्र० २।८ ; भा० प्र० पृ० १६० पं० २०–२२, पृ० १६१ पं० १–३ ; पृ० १६२ पं० २–३.

२. का० प्र० २।८ (वृत्ति भाग) ; भा० प्र० पृ० १६१ पं० ४–१४.

३. भा० प्र० पृ० १६१ पं० ११–२२ ; का० प्र० २।८ वृत्तिभाग।

४. भा० प्र० पृ० १६२ पं० ४–५ ; का० प्र० २।८ (वृत्तिभाग)

केवल 'व्यक्ति' में ही संकेतग्रह मानने से जो 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दोष उपस्थित होते हैं, वह गुण-क्रियादि में संकेतग्रह मानने से नहीं होंगे ; क्योंकि गुण-क्रिया-यदृच्छा एकरूप होने पर भी आश्रयभेद से भिन्न-भिन्न परिलक्षित होते हैं, जैसे एक ही मुख दर्पण, खड्गादि विभिन्न आधारों में भिन्न-भिन्न आकार का प्रतिबिम्बित होता है ।[1]

मीमांसक केवल 'जाति' में ही संकेतग्रह स्वीकार करते हैं ।[2] पय, हिम तथा शंख के अन्तर्गत रहने वाला गुण शुक्लत्व-सामान्य ही तो है, जो 'शुक्लत्व' जाति की ओर संकेत करता है । इसी प्रकार डित्थादि संज्ञा शब्दों को बालक, वृद्ध अथवा शुक द्वारा उच्चरित किए जाने पर प्रत्येक विद्यमान (परिवर्त्तनशील) डित्थादि संज्ञा में डित्थत्व-सामान्य विद्यमान रहता है ; वहाँ भी एक सामान्य जाति में ही संकेतग्रह होता है । अतः मीमांसकों के अनुसार समस्त शब्दों की प्रवृत्ति जाति (सामान्य) में ही होती है, व्यक्ति में नहीं ।[3]

बौद्धों ने संकेतग्रह के लिए 'अपोहवाद' की परिकल्पना की है, जिसमें शारदातनय को रुचि नहीं है ।[4]

नैयायिकों के मतानुसार संकेतग्रह जातिविशिष्ट व्यक्ति में माना जाना चाहिए । न तो केवल जाति में और न केवल व्यक्ति में ।[5]

उपर्युक्त विवेचित अभिधास्वरूप प्रसंग में 'संकेतग्रह' का एक विशेष महत्व है ; क्योंकि शब्द के संकेतग्रह द्वारा संकेतित अर्थ का ही बोध अभिधा व्यापार द्वारा प्राप्त किया जाता है ।

लक्षणा तथा उसके विभाग

लक्ष्यार्थ को प्रकट करने वाली शक्ति 'लक्षणा' है । अपने अर्थ के माध्यम से किसी अन्य अर्थ में शब्द का प्रयोग ही लक्षणा है । मुकुलभट्ट के अनुसार अभिधा शक्ति से प्रतिपाद्य मुख्य अर्थ के साथ होने वाला सम्बन्ध 'लक्षणा' है । उन्होंने लक्षणा का आधार लोकव्यवहार कहा है । शाबरभाष्य में भी लक्षणा को लौकिकी कहा गया है ।[6] शक्यार्थ से अशक्यार्थ की उपस्थिति ही लक्षणा है, अतः यह 'शक्य-सम्बन्ध-सहकारिणी' है ।[7] लक्षणा अर्थ का व्यापार है । शब्द-व्यापार से प्रतीत होने

---

१. भा० प्र० पृ० १६२ पं० ६–९ ; का० प्र० २।८ (वृत्तिभाग)
२. भा० प्र० पृ० १६० पं० २०–२१.
३. भा० प्र० पृ० १६२ पं० १०–१८ ; का० प्र० २।८ (वृत्तिभाग)
४. भा० प्र० पृ० १६२ पं० १९–२०.
५. व्यक्त्याकृतिजातयस्तुपदार्थः । – न्या० सू० २।२।६८.
६. अ० वृ० मा० पृ० १०–११ ; शा० भा० जै० सू० १।४।२, २३.
७. शक्यसम्बन्धसहकारिणीवृत्तिर्लक्षणा । – त्रिवेणिका पृ० १२.

वाला अर्थ 'गौण' अर्थात् 'लक्ष्य' है। इस लक्ष्य अर्थ की प्रतीति ही लक्षणा है।[1] अग्निपुराण में लक्षणा को औपचारिकी अभिव्यक्ति का आधार माना गया है।[2]

प्राचीन नैयायिक तात्पर्यानुपपत्ति अथवा अन्वयानुपपत्ति में से किसी भी एक को लक्षणा का मूल स्वीकार करते हैं, जबकि नैयायिकों का नवीन वर्ग केवल तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज स्वीकार करता है।[3] न्याय-परम्परा में गौतम ने भी लक्षणा का स्वरूप प्रतिपादित किया है।[4]

दण्डी ने 'लक्ष्यते' शब्द का प्रयोग किया है,[5] अतः सिद्ध है कि वे लक्षणा से सर्वथा अपरिचित न रहे होंगे। वैसे उन्होंने लक्षणा शक्ति का विवेचन नहीं किया है। आगे चलकर लक्षणा इतनी व्यापक हो गई कि वामन ने वक्रोक्ति अलंकार के स्वरूप का निर्धारण सादृश्यमूलालक्षणा की भित्ति पर स्थापित किया है।[6]

कुमारिलभट्ट ने जो लक्षणा की रूढ़ता प्रतिपादित की है, उससे मम्मट भी प्रभावित जान पड़ते हैं। किन्तु मम्मट ने कुमारिलभट्ट के अविनाभाव की एक सीमा निश्चित कर दी है।[7] महिमभट्ट लक्षणा को शब्द की शक्ति न कहकर अर्थ की शक्ति कहते हैं, क्योंकि वह शब्द के आश्रित न होकर अर्थ के आश्रित है।[8]

लक्षणा के स्वरूप के विषय में शारदातनय की वर्णन-शैली काव्यप्रकाश से साम्य रखती है।[9] विश्वनाथ-कृत लक्षणा स्वरूप पर आचार्य मम्मट एवं शारदातनय का स्पष्ट प्रभाव जान पड़ता है।[10] पण्डितराज के लक्षणा-निरूपण पर नैयायिकों का प्रभाव है।[11] सम्भवतः पण्डितराज वैयाकरणों, मीमांसकों एवं मम्मट आदि के विस्तृत निरूपण की अपेक्षा नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित संक्षिप्त लक्षण से ही सन्तुष्ट हैं।

लक्षणा के भेदों का प्रतिपादन शारदातनय ने मम्मट के आधार पर प्रस्तुत किया है। मुकुलभट्ट ने लक्षणा भेद निरूपण इनसे भिन्न प्रकार से किया है। वे

---

१. अ० वृ० मा० कारिका १ (वृत्ति)

२. अ० पु० ३४५।१०–११.

३. न्या० सि० मु० कारिका ८२.

४. न्यायदर्शन २।२।६१.

५. इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्नुत्कर्षः साधुलक्ष्यते। – काव्यादर्श १।७८.

६. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः – का० अलं० सू० ४।३।८.

७. तं० वा० ३।१८ पृ० ३०० ; का० प्र० २।१२ (वृत्ति)

८. व्य० वि० पृ० १०९।

९. भा० प्र० पृ० १६३ पं ५–१३ ; का० प्र० २।९.

१०. सा० द० २।५.

११. शक्यसम्बन्धो लक्षणा। – र० गं० पृ० २२९.

सर्वप्रथम शुद्धा व उपचारमिश्रा—ये दो भेद करते हैं। शुद्धा के पुनः दो भेद किए—उपादान तथा लक्षणलक्षणा। उपचारमिश्रा के भी शुद्ध व गौण—दो भेद किए। इन दोनों शुद्ध व गौण के भी दो-दो-उपभेद—सारोपा, साध्यवसाना करके लक्षणा के कुल छः भेद हो गए।[1]

पण्डितराज ने जो छः भेद किए हैं, वह मुकुलभट्ट तथा मम्मट से भी पृथक् हैं। वे लक्षणा के सर्वप्रथम 'रूढा' तथा 'प्रयोजनवती'—यह दो भेद कहते हैं। इनमें द्वितीया के शुद्धा व गौणी के भेद से दो भेद हुए। इनमें से प्रयोजनवती शुद्धा के चार भेद होते हैं—जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था, सारोपा, साध्यवसाना। प्रयोजनवती गौणी के दो भेद--सारोपा तथा साध्यवसाना होते हैं। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के छः भेद हुए।[2]

विश्वनाथ ने लक्षणा के भेदों का अत्यधिक विस्तार करके उसके अस्सी भेदों की परिकल्पना की है। वे आठ प्रकार की रूढ लक्षणा तथा बत्तीस प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा दिखाकर चालीस भेदों का प्रतिपादन करते हैं। ये प्रत्येक भेद पदगत तथा वाक्यगत द्विविध होने से लक्षणा के अस्सी भेद हो गए।[3]

किन्तु उपादेयता की दृष्टि से विश्वनाथकृत लक्षणा के अस्सी भेद अव्यावहारिक हैं। अतः मम्मट सम्मत षड्विध भेद अधिक व्यावहारिक होने के कारण शारदातनय ने उन्हीं का अनुसरण करने की बुद्धिमत्ता की है।

लक्षणा के दो भेद—शुद्धा एवं गौणी में से शुद्धा के दो भेद कहे गए हैं—उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा।

---

१. शुद्धोपचारमिश्रत्वाल्लक्षणा द्विविधा मता।
उपादानाल्लक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता॥
आरोपाध्यवसानाभ्यां शुद्धगौणोपचारयो।
प्रत्येकं भिद्यमानत्वादुपचारश्चतुर्विधः॥ — अ० वृ० मा० का० २, पृ० १.

२. इयं च तावद् द्विविधा – निरूढा प्रयोजनवती च। तत्रापि द्वितीया द्विविधा। गौणीशुद्धा च। तत्राधा सारोपासाध्यवसाना चेति द्विविधा। अन्त्या चतुर्विधा जहत्स्वार्था-अजहत्स्वार्था-सारोपासाध्यवसाना चेति। प्रयोजनवती षड्विधा सम्पद्यते। .... (अनुकूल-प्रतिकूल) तत्राद्यवर्गे सादृश्यसम्बन्धेन द्वितीयवर्गे (नीलोघटः) च तदितरसम्बन्धेन लक्षणायाः प्रवृत्तेर्निरूढायामपि गौणीत्वशुद्धत्वाभ्यामपि द्वैविध्यमामनन्ति। — र० गं० पृ० २२६–३०.

३. ... तदेवं लक्षणाभेदाश्चत्वारिंशन्मता बुधैः॥
पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा।
....एवमशीति प्रकारा लक्षणाः। — सा० द० ६।१२.

उपादान-लक्षणा—जहाँ आरोपित क्रिया होती है, वहाँ 'उपादान लक्षणा' होती है। 'कुन्तः प्रविशति' इस उक्ति में प्रवेश रूप क्रिया की सिद्धि के लिए 'पुरुष' का आरोप किया जाता है। मुख्य अर्थ कुन्तः (भाला) का त्याग किए बिना अन्य अर्थ का उपादान अर्थात् ग्रहण करने पर शब्द का व्यापार अर्थान्तर पर आश्रित होने से यहाँ 'उपादान-लक्षणा' हुई।[1]

मम्मट-मतानुयायी शारदातनय का कथन है कि उपादान लक्षणा के लिए मुकुलभट्ट ने जो दृष्टान्त 'गौरनुबन्ध्य' प्रस्तुत किया है, वह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि मीमांसक 'जाति' में संकेत मानते हैं, अतः यहाँ भी यह अर्थ स्पष्ट हुआ कि—'गो (गोत्व) को बांधकर।' किन्तु गोत्व जाति बांधी नहीं जा सकती। इसलिए ये (मीमांसक) व्यक्ति में लक्षणा कर लेते हैं, क्योंकि इनका मत है कि अभिधा को एक बार गोत्व जाति (विशेषण) की प्रतीति कराके क्षीण हो जाती है, अतः गो व्यक्ति (विशेष्य) की प्रतीति लक्षणा से होगी। किन्तु इस आधार पर उपादान लक्षणा का उपर्युक्त उदाहरण युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि यहाँ रूढ़ि अथवा प्रयोजन में से कोई भी नहीं है; अतः यह उपादान लक्षणा का विशुद्ध उदाहरण नहीं हो सकता। इसको इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि 'कुरु' अथवा 'क्रियताम्'—इन दोनों क्रियाओं को क्रमशः कर्म एवं कर्त्ता के द्वारा आक्षिप्त किया जाता है। ये क्रियायें बिना कर्त्ता के हो ही नहीं सकतीं। अतः 'गोरनुबन्ध्य' उदाहरण में व्यक्ति के बिना जाति नहीं रह सकती, और व्यक्ति का बोध लक्षणा से हो नहीं सकता। अतः यह उपादान-लक्षणा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिए।[2]

उपादान लक्षणा का एक अन्य उदाहरण मीमांसक मुकुलभट्ट प्रस्तुत करते हैं—पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते। अर्थात् 'देवदत्त मोटा (हो रहा) है, (किन्तु) दिन में भोजन नहीं करता है।' फिर भी यदि देवदत्त मोटा हो रहा है, अतः रात्रि में तो अवश्य ही भोजन करता होगा—यह अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा सिद्ध हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में रात्रि भोजन श्रुतार्थापत्ति अथवा दृष्टार्थापत्ति के अन्तर्गत आ जाने से उपादान लक्षणा का उदाहरण मानना उचित नहीं है ऐसा मम्मट एवं शारदातनय का दृष्टिकोण है।[3]

लक्षण लक्षणा—शुद्धा का दूसरा भेद लक्षण लक्षणा है। इसका उदाहरण मम्मट तथा शारदातनय ने 'गंगायां घोषः' दिया है। मुकुलभट्ट ने भी इसी उदाहरण को

१. भा० प्र० पृ० १६३ पं० १४–२१ ; का० प्र० २।१०.
२. भा० प्र० पृ० १६३ पं० २२ से पृ० १६४ पं० १–८ तक ; का० प्र० २।१०.
३. भा० प्र० पृ० १६४ पं० १०–१५ ; का० प्र० २।१०.

रखा है। इस उदाहरण में 'गंगा' शब्द अपने मुख्यार्थ (प्रवाह) का त्याग करके तट रूप अन्य अर्थ को ग्रहण करता है तथा इससे घोष का अधिकरणत्व सिद्ध होता है।[1]

उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा—यह दोनों प्रकार की लक्षणा 'शुद्धा' हैं, (गौणी नहीं)।[2]

सारोपा, साध्यवसाना—शुद्धा तथा गौणी के दो-दो भेद सारोपा तथा साध्यवसाना कहे गए हैं। जहाँ पर आरोप्य (उपमान) तथा आरोपविषय (उपमेय) समानाधिकरण्य के द्वारा निर्दिष्ट होते हैं, वहाँ 'सारोपा' तथा आरोप्य के द्वारा आरोपविषय अर्थात् उपमेय का निगरण (अन्तर्भाव) कर लिए जाने पर 'साध्यवसाना' होती है। यह दोनों प्रकार की लक्षणा भेद सादृश्य तथा सम्बन्धान्तर से युक्त होने पर क्रमशः गौणी तथा शुद्ध होती है।[3]

इनमें से 'गौणो सारोपा' का उदाहरण 'गौर्वाहीक' तथा 'गौणी साध्यवसाना' का उदाहरण 'गौरयम्' सादृश्यमूलक हैं। मम्मट की भाँति शारदातनय भी मीमांसकों आदि के गौणी साध्यवसाना विषयक तीन अन्य मतों का उल्लेख करते हैं।[4]

'शुद्धा सारोपा' तथा 'शुद्धासाध्यवसाना' के उदाहरण क्रमशः 'आयुर्घृतम' तथा 'आयुरेवेदम्' कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तर से कहे जाते हैं। इनके कुछ अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत हैं, जैसे—इन्द्रपूजन का स्थूण भी 'इन्द्र' कहलाता है : राजकीय पुरुष भी 'राजा' कहा जाने लगता है; हाथ के अग्र भाग के लिए भी 'हाथ' का ही प्रयोग हो जाता है; बढ़ई का काम करने वाले ब्राह्मण को भी 'बढ़ई' ही कहा जाता है।[5]

इस प्रकार लक्षणा 'षड्विधा' हुई—उपादान लक्षणा, लक्षण लक्षणा, गौणी सारोपा, गौणी साध्यवसाना, शुद्धासारोपा तथा शुद्धासाध्यवसाना।[6]

यह लक्षणा व्यंग्य से रहित होने पर 'रूढ़' तथा व्यंग्यसहित होने पर 'प्रयोजनवती' होती है। प्रयोजन ध्वनिव्यापार के द्वारा ही ज्ञात किया जाता है। यह व्यंग्य प्रयोजन कहीं पर गूढ़ तथा कहीं अगूढ़ होने पर गूढ़ तथा अगूढ़ के भेद से द्विविध होता है। इस प्रकार व्यंग्य की दृष्टि से लक्षणा 'त्रिविध' होती है—व्यंग्य रहिता अर्थात् रूढ़िगत, गूढ़ व्यंग्या तथा अगूढ़व्यंग्या।[7]

१. भा० प्र० पृ० १६४ पं० १७–१८ ; का० प्र० २।१०.
२. भा० प्र० पृ० १६४ पं० १६।
३. भा०प्र० पृ० १६४ पं २० से २० से पृ० १६५ पं० १-४ तक ; का०प्र० २।११-१२.
४. भा० प्र० पृ० १६५ पं० ५-१८ ; का० प्र० २।१२.
५. भा० प्र० पृ० १६६ पं० ३-६ ; का० प्र० २।१२.
६. भा० प्र० पृ० १६६ पं० १० ; का० प्र० २।१२.
७. भा० प्र० पृ० १६६ पं० २० से पृ० १६७ पं० १-१२ तक ; का० प्र० २।१३.

लक्षणा तथा उसके भेद-निरूपण के प्रसंग में यद्यपि शारदातनय ने मम्मट जैसी वर्णन शैली को अपनाया है ; तथापि मम्मट की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। मम्मट वैयाकरणों से अत्यधिक प्रभावित जान पड़ते हैं, क्योंकि मम्मट ने जो 'गंगायाम् घोषः' तथा 'कुन्ताः प्रवशन्ति' आदि उदाहरण लक्षणा भेदों के लिए ग्रहण किए हैं, उनका संकेत पतंजलि[१] पाणिनि-सूत्र 'पुंयोगादाख्यायाम्' की व्याख्या के प्रसंग के समय कर चुके हैं।

व्यंजना का स्वरूप

शक्य तथा लक्ष्य से अतिरिक्त अर्थ की बोधिका वृत्ति का नाम 'व्यंजना' है।[2] अभीष्ट अर्थ का बोध कराने में जब अभिधा असमर्थ हो जाती है, तब लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, परन्तु जब अभिधा तथा लक्षणा—दोनों ही इष्ट अर्थ को प्रकट नहीं कर पातीं, तब व्यंजनाशक्ति के द्वारा उस विशेष अर्थ का द्योतन होता है। विश्वनाथ के शब्दों में अभिधा तथा लक्षणा के विरत हो जाने पर शब्द के विशेष अर्थ का बोधन कराने वाली वृत्ति व्यंजना है।[3] 'गंगायां घोषः' में गंगा का प्रवाह रूप अर्थ तो अभिधा से ज्ञात होता है। तट रूप अर्थ लक्षणा से विदित होता है। परन्तु जो शैत्यपावनत्वादि रूप व्यंग्य अर्थ है, उसकी अभिव्यक्ति व्यंजना शक्ति से ही सम्भव है।[४]

भर्तृहरि ने अभिधा तथा लक्षणा के साथ-साथ व्यंजना की आवश्यकता भी अनुभव की है।[५] किन्तु यह निर्विवाद है कि मम्मट से पूर्ववर्ती व्याकरण-ग्रन्थों में व्यंजना-शक्ति के मूल स्रोत एवं महत्व प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त नहीं होते ; किन्तु मम्मट के परवर्ती वैयाकरणों ने व्यंजना को व्याकरणशास्त्र की एक आवश्यक विधा स्वीकार करते हुए उसे अत्यधिक महत्व प्रदान किया है।[६]

---

१. म० भा० पृ० २७२ (नागेश कृत टीका)

२. शक्यलक्ष्यातिरिक्तार्थबोधिकावृत्तिर्व्यंजना।

— त्रिवे० पृ० २४.

३. विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥

— सा० द० २।१२-१३.

४. भा० प्र० पृ० १६७ पं० २०-२१ ; पृ० १६९ पं० १-५ ; का० प्र० २।१४, २।१८ (सू० ३१ का वृत्तिभाग)

५. वा० प० २।४०८.

६. स्फोटस्य च व्यंग्यता भर्तृहर्यादिभिरुक्तैव। द्योतकत्वं च समभिव्याहृतपदव्यंजकत्वमेव—इति वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः।

— वै० सि० ल० मं० पृ० १६०.

शारदातनय[१] ने व्यंजना का विस्तृत विवेचन मम्मट[2] के आधार पर निरूपित किया है। व्यंजना के दो मुख्य भेद माने गए हैं—शाब्दी व्यंजना तथा आर्थीव्यंजना। **शाब्दी व्यंजना**—के दो अवान्तर भेद होते हैं—अभिधामूलाव्यंजना तथा लक्षणा-मूलाव्यंजना। शाब्दी व्यंजना में अर्थ की व्यंजकता अर्थात् सहकारिता रहती है और आर्थी व्यंजना में शब्द की सहकारिता विद्यमान रहती है।

अभिधामूलाव्यंजना—अनेकार्थक शब्दों के किसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाने पर उससे भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार अभिधामूलाव्यंजना है। इसमें अनेकार्थक शब्दों को एक अर्थ में नियंत्रण करने वाले जो संयोग-विप्रयोगादि चौदह कारण होते हैं,[3] उनका मूल स्रोत प्राप्त करने के लिए काव्यशास्त्र को भर्तृहरि का आभारी होना चाहिए।[४]

लक्षणामूलाव्यंजना—इसमें वह प्रयोजन रहता है, जिसमें व्यंग्य की अवस्थिति रहती है। इस दृष्टि से प्रयोजनवती लक्षणा को लक्षणामूलाव्यंजना समझा जा सकता है।[५] अन्य शब्दों में लक्षणामूलाव्यंजना में लाक्षणिक पद के प्रयोग से युक्त प्रयोजन का प्रत्यायन किया जाता है।[६]

आर्थीव्यंजना—आर्थीव्यंजना अर्थ का वह व्यापार है, जो वक्ता, बोद्धा, काकु इत्यादि दशविध रूप से अन्य विशिष्टार्थ की प्रतीति कराये।[७]

त्रिविध शब्दशक्तियों में व्यंजना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है; क्योंकि व्यंजना की अधिकता ही काव्य को 'उत्तमकोटि' में प्रतिष्ठित करती है।

तात्पर्यशक्ति का निरूपण

शब्द-शक्तियों के विवेचन में अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना के अतिरिक्त एक और वृत्ति भी स्वीकार की गई है, जिसे 'तात्पर्यशक्ति' कहते हैं।[८] इस शक्ति को स्वीकर करने वाले मीमांसक 'अभिहितान्वयवादी कहलाते है, जिनमें कुमारिल भट्ट एवं उनके मतानुयायी सम्मिलित हैं। इनके अनुसार शक्ति के द्वारा तो केवल पदों

---

१. भा० प्र० पृ० १६७ पं० १३ से पृ० १७० पं० १६ तक।

२. का० प्र० २।१४-१९.

३. भा० प्र० पृ० १६९ पं० ७-२२ से पृ० १७० पं० १-१२; का० प्र० २।१९; सा० द० २।१४.

४. वा० प० १।३१७-३१८.

५. भा० प्र० पृ० १६९ पं० ३-६; का० प्र० २।१३.

६. सा० द० २।१५.

७. भा० प्र० पृ० १७० पं० १७ से पृ० १७२ पं ११ तक; का० प्र० ३।२१-२३.

८. भा० प्र० पृ० १६० पं० १४-१६; का० प्र० २।६.

के अर्थों का ही बोध होता है, सम्पूर्ण वाक्य अर्थात् पदों के अन्वित अर्थ का ज्ञान नहीं हो पाता। पदार्थों का परस्पर अन्वय तो वक्ता के तात्पर्य के अनुसार ही होता है, अतः उन अन्वित पदों का अर्थ ज्ञात करने के लिए अभिधा के अतिरिक्त अन्य शक्ति का मानना नितान्त आवश्यक है और यही 'तात्पर्याशक्ति' है। जिस विशेष अर्थ को तात्पर्याशक्ति के द्वारा ज्ञात किया जाता है, वह तात्पर्यार्थ कहलाता है।[1] अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के अनुसार तात्पर्याशक्ति के रहते हुए व्यजनाशक्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस मत में पदों के द्वारा अभिहित अर्थों का परस्पर अन्वय होने के कारण इसे 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है।[2] इस मत के अनुयायी तात्पर्यार्थ को वाक्यार्थरूप मानते हैं, पदार्थरूप नहीं।[3] अभिहितान्वयवाद की सुबोध व्याख्या पार्थसारथिमिश्र तथा काव्यप्रदीपकार ने स्पष्ट रूप से प्रस्तुत की है।

किन्तु जो मीमांसक 'तात्पर्याशक्ति' को स्वीकार नहीं करते, उनमें प्रभाकर मिश्र तथा उनके मतानुयायी सम्मिलित हैं।[५] इनके अनुसार अभिधा के द्वारा अन्वित पदार्थों की ही प्रतीति होती है। अर्थात् पदार्थ पहले अभिहित (कहे जाते) हों, तत्पश्चात् उनका अन्वय होता हो, यह वस्तुस्थिति नहीं है; अपितु पहले से ही अन्वित पदार्थों का ज्ञान अभिधा व्यापार द्वारा होता है। अतः ऐसी स्थिति में 'तात्पर्या' नाम की किसी शक्ति के उपयोग की आवश्यकता का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है। अन्विताभिधानवादियों के अनुसार पदार्थों का वाक्यार्थ वाच्य ही होता है।[६] अन्वित पदार्थों का अभिधान होने के कारण यह वाद 'अन्विताभिधानवाद' की संज्ञा प्राप्त करता है तथा इसके अनुयायी अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं।[७] इस वाद का स्वरूप काव्यप्रदीपकार ने भी विस्तार से उल्लिखित किया है।[८]

---

१. आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति अभिहितान्वयवादिनां मतम्।
— का० प्र० २।६ (सूत्र ७ की वृत्ति)

२. का० प्र० (झलकीकर-टीका) पृ० २६.

३. श्लोक वार्त्तिक ३४२-३४३.

४. का० प्रदीप पृ० १७.

५. भा० प्र० पृ० १६० पं० १७.

६. वाच्य एवं वाक्यार्थ इति अन्विताभिधानवादिनः। — का० प्र० २।६ (सूत्र ७ की वृत्ति)

७. अन्वितानमेवाभिधानं शब्दबोध्यत्वम् तद्वादिनोऽन्विताभिधानवादिनः
— का० प्र० (झलकीकर टीका) पृ० २७.

८. का० प्रदी० पृ० १७.

मुकुलभट्ट ने इन दोनों वादों का वर्णन तथा उनका समन्वय एक अनूठे प्रकार से प्रस्तुत किया है।[1] किन्तु ध्वनिवादी आचार्य इन दोनों वादों में से अभिहितान्वयवाद को अभीष्ट समझते हैं; क्योंकि इस वाद की 'तात्पर्याशक्ति' व्यंजना की सिद्धि में सहयोगी होती है। विश्वनाथ[2] ने भी 'तात्पर्यावृत्ति' के वर्णन-प्रसंग में केवल अभिहितान्वयवादियों के मत की व्याख्या ही प्रस्तुत की है, उसके दूसरे पक्ष अन्विताभिधानवादियों के मत का वर्णन उन्होंने नहीं किया है।

महिमभट्ट ने 'तात्पर्याशक्ति' का खण्डन अनुमान-प्रमाण के आधार पर किया है। 'विष खालो, किन्तु उसके घर पर भोजन मत करो।'—इस वाक्य का अर्थ कि 'उसके घर पर भोजन करना विष खाने से भी अधिक अनिष्टकारी है,' अनुमान प्रमाण के आधार पर प्राप्त किया जाता है। यहाँ वक्ता व श्रोता–दोनों परस्पर विशिष्ट व्यक्ति हैं, जो उस विशिष्ट परिस्थिति से पूर्व परिचित हैं।[3]

शारदातनय ने तात्पर्यवृत्ति का विवेचन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया है। उन्होंने कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकर व उनके अनुयायियों की विचारधारा को प्रस्तुत करके मीमांसकों में प्रचलित मतभेद को स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रसंग के अन्तर्गत शारदातनय ने भट्टलोल्लट के मत का भी उल्लेख किया है, जो व्यंजना को न मानते हुए वाच्यार्थ की ही कल्पना करते हैं; तथा वाक्य के प्रधान धर्म अर्थात् 'तात्पर्य' को स्वीकार करते हैं।[4] भट्टलोल्लट के द्वारा व्यंजना को स्वीकार न करने तथा वाच्यार्थ ही कहने के कारण मम्मट ने उन्हें 'देवानांप्रियः' कहा है।[5]

तीन प्रकार का वाक्यार्थ होने के कारण शारदातनय ने तात्पर्य भी त्रिविध ही प्रतिपादित किया है—अभिधेय, प्रत्याय्य तथा ध्वनि। इनमें से ध्वनि वाक्यार्थता भी द्विविध होती है—अनुनादध्वनि तथा प्रतिशब्दध्वनि। इन दोनों के भी दो-दो

---

१. इह केषाञ्चिदन्वयव्यतिरेकावसेय ....एवं चैतयोरभिहितान्वयान्विताभिधानयोः समुच्चय इति।

— अ० वृ० मा०, पृ० १५.

२. सा० द० २।२० (वृत्ति भाग सहित)

३. व्यक्ति विवेक १२१-२.

४. भा० प्र० पृ० १४७ पं० १७ से पृ० १५० पं० १४ तक, पृ० १५६ पं० १५-२२ से पृ० १६० पं० १-८ तक।

५. ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इति च विधिरेवात्र वाच्य इति, तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः।

— का० प्र० ५।४७ (सू० ६६ की वृत्ति)

अवान्तर भेद हैं— आर्थानुनाद, शाब्दानुनाद तथा आर्थप्रतिशब्द, शाब्दप्रतिशब्द। इन सब भेदोपभेद के दृष्टान्त भी प्रस्तुत करने में शारदातनय ने प्रमाद नहीं किया है।[1]

ध्वनि तथा तात्पर्य में भेद व अभेद मानकर चलने वाली दो प्रकार की विचारधाराओं का उल्लेख शारदातनय ने किया है। ध्वनि तथा तात्पर्य की तो ब्राह्मण व ब्रह्मचारी के समान स्थिति है; प्रायः इन दोनों के अवान्तर भेद ही पृथक् रूप से कहे जाते हैं। अतः इन दोनों में ब्राह्मण ब्रह्मचारी के समान सामंजस्य उपयुक्त है। यह समन्वय ही शारदातनय को रुचिकर जान पड़ता है। इसके आगे ही उन्होंने काव्य में रसालंकारादि की त्रिविध वाक्यार्थता के कारण तात्पर्य के गम्यत्व का प्रतिपादन किया है। यह त्रिविध रूप तात्पर्य कर्तृनिष्ठ होने पर भी वाक्यधर्मत्व से युक्त होता है। यह वाक्यधर्म कवि की विवक्षा से प्रधान रूप से परिकल्पित होने पर ही वाक्यार्थ कहा जाता है। इस वाक्यार्थ के पदार्थ रूप अर्थात् वाच्य होने पर अन्विताभिधानवाद परिपुष्ट होता है, जबकि पदार्थों के अन्योन्य संसर्ग (अन्वय) की आकांक्षा 'तात्पर्याशक्ति' के द्वारा पूर्ण होकर अभिहितान्वयवाद को जन्म देती है।[2]

ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण

व्यंजनाशक्तिजन्य व्यंगार्थ ही ध्वनि है। 'ध्वनि' शब्द 'ध्वन्' धातु में 'इ' प्रत्यय लगने पर बनता है। वाचक, लक्षक तथा व्यंजक शब्द जब किसी व्यंग्यार्थ के व्यंजक होते हैं, तो वह व्यंजक शब्द 'ध्वनि' कहलाते हैं।[3] जब शब्द का वाच्यार्थ अप्रधान होकर किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति कराता है तो वह प्रतीयमान अर्थ ही ध्वनि है।[4] अभिनवगुप्त के अनुसार शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थ का व्यापार भी ध्वनि है, केवल काव्य ही नहीं।[5] वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कृत

---

१. भा० प्र० प० १४७ पं० १७ से पृ० १४९ पं० १६ तक।

२. भा० प्र० पृ० १४९ पं० १७ से पृ० १५० पं १४ तक, पृ० १५९ पं० १७–२२.

३. ध्वनति यः स व्यंजकः शब्दः ध्वनिः।

— काव्यालोक, पृ० २००.

४. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो।
व्यङ्ग्यः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।

— ध्वन्या० १।१३.

५. अर्थो वा शब्दो वा व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शाब्दोऽप्येवम्। व्यंग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्रधान्येन समुदाय एव काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।

— ध्वन्या० लोच० पृ० १०४-१०५ (चौ०)

होने पर ध्वनि होती है।[१] इस चमत्कृत अर्थ को अभिव्यक्त करने वाला काव्य 'ध्वनिकाव्य' है। ध्वनिकाव्य से सर्वथा एक विलक्षण अर्थ ध्वनित होता है। शारदातनय ने भी ध्वनिकाव्य की उन्मुक्त प्रशंसा की है।[2] ध्वनि का मूलाधार व्यंजनाशक्ति है ; अतः व्यंजना के ही प्रधान परिप्रेक्ष्य में ध्वनिकाव्य पल्लवित हुआ है।

आलंकारिकों ने 'ध्वनि' का अन्तर्भाव अलंकारों के ही अन्तर्गत करने का प्रयास किया है।[3] किन्तु ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने तो ध्वनि को ही 'काव्य की आत्मा' कहा है।[4] अतः ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में मानना युक्तियुक्त नहीं है ; क्योंकि ध्वनि अंगी है, अलंकार उसके अंगरूप है अतएव अलंकारों का अन्तर्भाव ध्वनि में हो सकता है न कि ध्वनि का अलंकारों में।

महिमभट्ट ध्वनिसिद्धान्त की अनुपपन्नता प्रदर्शित करते हुए उसका अन्तर्भाव अनुमान में कर देते हैं[५] ; किन्तु महिमभट्ट के इस अनुमानवाद का खण्डन करके मम्मट ने व्यंजना की स्थापना की है। अतः 'भ्रमधार्मिक' इत्यादि तथा 'निःशेष च्युतचन्दन' इत्यादि उदाहरणों में साध्य की सिद्धि अनुमान से न होकर व्यंजना से ही प्राप्त होगी।[६] व्यंजना से परिवेष्टित ध्वनि का गौरव तो वैदिककाल से ही प्राप्त होने लगता है।[७] व्याकरणशास्त्र भी ध्वनि के महत्व से सहमत है।[८] अतः इसकी अवहेलना को हठधर्मिता तथा दुराग्रह ही कहा जाएगा। वैयाकरणों ने जिसे 'स्फोट' कहा है, वही ध्वनि है।[९]

---

१. भा० प्र० पृ० १७४ पं० ३-५ ; का० प्र० १।४ ; सा० द० ४।१.

२. भा० प्र० पृ० १७८ पं० ४-६.

३. (क) समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः।
यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषणः।
स समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा॥
— का० अ० (भामह) २।३४, २।७९.

(ख) का० सा० सं० (लघु० टी०) पृ० ८५-८८, ९१.

(ग) काव्यादर्श २।१८९, २।२९५.

(घ) अलं० सर्व० पृ० ७-८.

४. काव्यस्यात्मा स एवार्थः। — ध्वन्या० १।५.

५. व्य० वि०, पृ० ५७.

६. का० प्र० ५।४७ (सू० ६९ की वृत्ति)

७. अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक्ते ध्वनयो यन्तु शीभम्। —अथर्व० ५, २०, ७.

८. महाभाष्य १, १, ७० ; वा० प० १।७५-७८.

९. भा० प्र० पृ० १७४ पं० १-२, पृ० १७८ पं० २०-२२.

ध्वनिकाव्य के मुख्य दो भेद हैं—अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षित वाच्य। इन्हें ही क्रमशः लक्षणामूलाध्वनि तथा अभिधामूलाध्वनि कहा जाता है। अविवक्षित वाच्य ध्वनि के पुनः दो उपभेद हैं....अर्थान्तिर संक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत।[1]

'अर्थान्तिरसंक्रमित' वहाँ होता है, जहाँ वाच्य अन्य अर्थ में संक्रमित हो जाता है। इसके उदाहरण स्वरूप मम्मट व शारदातनय ने 'त्वामस्मि वच्मि' इत्यादि श्लोक प्रस्तुत किया है। इसके अनेक पद अर्थान्तिर में संक्रमित हो जाते हैं; क्यों कि वे अपने वाच्यार्थ की दृष्टि से अनुपयुक्त सिद्ध हो गये हैं।[2]

'अत्यन्ततिरस्कृत' में शब्द अपने सामान्य (वाच्य) अर्थ का पूर्णरूपेण तिरस्कार अर्थात् त्याग करके किसी विशेष अर्थ को द्योतित करता है। इसके दृष्टान्त स्वरूप 'मयि चोपकृतं' इत्यादि श्लोक को ग्रहण किया जा सकता है, क्यों कि यहाँ विपरीत लक्षणा से कथन किया गया है।[3]

ध्वनिकाव्य के द्वितीय भेद—'विवक्षित वाच्य' के भी दो उपभेद होते हैं—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' तथा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य।

'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' तब होता है, जब रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता तथा भावशान्ति–यह आठों रसादिध्वनि काव्य में प्रधान रूप में स्थित रहते हैं।

'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' वहाँ होता है, जहाँ वाच्य एवं व्यंग्य की प्रतीति का क्रम लक्षित होता रहता है। संलक्ष्यक्रम के भी दो अवान्तर भेद होते हैं --शब्दशक्त्युत्थ तथा अर्थशक्त्युत्थ। इन दोनों के सम्मिलित रूप अर्थात् 'उभयशक्त्युत्थ' को ही संलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहा जा सकता है।[4]

मम्मट ध्वनिकाव्य के इक्यावन भेदों की परिकल्पना करके संकर-संसृष्टि के आधार पर उनके अनेकानेक प्रभेदों का निदर्शन करते हैं, जो संख्या में कुल मिला कर १०४५५ हो जाते हैं।[5] परन्तु व्यवस्थित तथा व्यावहारिक न होने के कारण इनमें शारदातनय की रुचि नहीं जान पड़ती।

'गुणीभूतव्यंग्य' काव्य का वह भेद है, जिसमें रसादिध्वनि अप्रधान हो जाते हैं। अर्थात् जब ये वस्तु अथवा अलंकार आदि किसी अन्य के अंगभूत हो जाते हैं,

---

१. भा० प्र० पृ० १७२ पं० १६-२१ ; का० प्र० ४।२४.

२. भा० प्र० पृ० १७२ पं० २२-२३ से पृ० १७३ पं० १ तक ; का० प्र० ४।२४ (सू० ३९ की वृत्ति)

३. भा० प्र० पृ० १७३ पं० २-५ ; का० प्र० ४।२४ (सू० ३९ की वृत्ति)

४. भा० प्र० पृ० १७३ पं० ६-१३, पृ० १७४ पं० १०-१४ ; का० प्र० ४।२५-२६.

५. का० प्र० ४।४३-४४.

तब वे अंगभूत रसादिक गुणीभूतव्यंग्य कहलाते हैं। गुणीभूतव्यंग्य में, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, व्यंग्यार्थ गुणीभूत अर्थात् अप्रधान हो जाता है। वहाँ व्यंग्यार्थ विद्यमान तो रहता है, किन्तु गौण रूप में ही। इसमें व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ की प्रधानता रहती है।[1] वाच्य के अतिशायी होने पर जब व्यंग्यार्थ से युक्त काव्य गुणीभूतव्यंग्य कहलाने लगता है, तो वह 'मध्यम कोटि' का काव्य कहलाता है। जबकि ध्वनिकाव्य में वाच्यार्थ गौण तथा व्यंग्यार्थ प्रधान अर्थात् अंगी होता है, अतः वह 'उत्तम कोटि' का काव्य कहलाता है। जहाँ व्यंग्यार्थ होता ही नहीं, वह 'अधमकोटि' का 'चित्रकाव्य' कहलाता है। उत्तम, मध्यम, अधम काव्यों में इस प्रकार क्रमशः व्यंग्य, लक्ष्य तथा वाच्य की प्रधानतः अवस्थिति रहती है।[2]

गुणीभूतव्यंग्य के आठ भेद हैं— अगूढ़, अपरस्यांग, वाच्यसिद्ध्यंग, अस्फुट, संदिग्धप्रधान्य, तुल्यप्रधान्य, काक्वाक्षिप्त तथा असुन्दर, काव्यबन्धों में इन अष्टविध गुणीभूतव्यंग्यों के दृष्टान्त भी उपलब्ध होते हैं।[3]

मम्मट ने गुणीभूतव्यंग्य के भेदों का अत्यधिक विस्तार करते हुए उसके ८×४२=३६६ भेदों की परिकल्पना करके संकर-संसृष्टि के आधार पर उनका और भी अधिक विस्तार किया है।[4] ररन्तु शारदातनय को यह अभीष्ट नहीं है, क्योंकि इतना अधिक एवं अनावश्यक विस्तार अव्यावहारिक सिद्ध होकर अव्यवस्था को ही उपस्थित करता है। इसके अतिरिक्त वे सब भेद उपादेयता की दृष्टि से भी ग्राह्य नहीं हैं। विश्वनाथ ने ध्वनिकाव्य व गुणीभूतव्यंग्य तथा उनके भेद-प्रभेदों का जो निरूपण किया है, वह आनन्दवर्धन, मम्मट एवं शारदातनय से पूर्णतया प्रभावित जान पड़ता है। शारदातनय की ही भांति विश्वनाथ गुणीभूतव्यंग्य के अष्टविध भेदों का ही अनुमोदन करते हैं। उन्हें भी शारदातनय की भांति मम्मट के द्वारा प्रस्तुत इन भेदोपभेदों की वृहद् संख्या के प्रतिपादन में रुचि नहीं है, ऐसा जान पड़ता हैं। हां, वे ध्वनिकार से प्रभावित होकर गुणीभूतव्यंग्य की अन्यान्य प्रकार सम्भावना अवश्य करते हैं।[5] किन्तु शारदातनय तो इन सम्भावनाओं में भी उलझने की चेष्टा किये बिना गुणीभूतव्यंग्य के केवल आठ भेदों का ही विवेचन करना अभिप्रेत समझते हैं।[6]

---

१. भा० प्र० पृ० १७३ पं० १६-१७, २०.
२. भा० प्र० पृ० १७४ पं० ५-६, १७-१८ ; का० प्र० १।४-५.
३. भा० प्र० पृ० १७४ पं० १६-२२ ; का० प्र० ५।४५.
४. का० प्र० ५।
५. सा० द० चतुर्थ परिच्छेद।
६. भा० प्र० पृ० १७४ पं० २१-२२ से पृ० १७५ पं० १-२ तक।

शब्दशक्ति-विवेचन के सम्बन्ध में शारदातनय ने सामान्यतः ध्वनिवादियों का आधार ग्रहण किया है। उन्होंने शब्दार्थ-स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त एवं मम्मट के मत को भी प्रस्तुत किया है।[1] वे वैयाकरणों के स्फोट-वाद से सहमत हैं साथ ही स्फोट एवं ध्वनि को अभिन्न मानते हैं। संकेतग्रह के विषय में बौद्धों ने जो 'अपोहवाद' माना है, उसका समर्थन शारदातनय ने नहीं किया है। अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों का निरूपण करते हुए वे मम्मट से प्रभावित जान पड़ते हैं। तात्पर्य शक्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने ध्वनि एवं तात्पर्य को समन्वयात्मक दृष्टि से देखा है, क्योंकि व्यंजना की सिद्धि के लिये तात्पर्य-शक्ति एक सहयोगी रूप में उपस्थित होती है; सम्भवतः इसीलिए शारदातनय तात्पर्य-शक्ति का विस्तृत विवेचन करने के लिये तत्पर हुए होंगे। काव्य की त्रिविध श्रेणियों का विभाजन उन्होने मम्मट के आधार पर ही प्रस्तुत किया है। इस प्रकार शब्द-शक्ति विधान का विवेचन करते हुए शारदातनय सामान्य रूप से वैयाकरणों, ध्वनिवादी आचार्यों एवं मम्मट से प्रभावित जान पड़ते हैं। किन्तु विशेषता यह है कि शारदातनय द्वारा प्रस्तुत विवेचन अपेक्षाकृत विस्तृत एवं व्यवस्थित है।

—::—

१. भा० प्र० पृ० १७६ पं० १-२, पृ० १६० पं० ६-१३.

अध्याय ४

भावों का निर्णय एवं वर्गीकरण

भाव का सामान्य स्वरूप एवं विभाग

नाट्य-क्षेत्र में 'भाव' का तात्पर्य मानसिक आवेग अथवा अवस्थाओं से है। ये आवेग वाचिक, आंगिक एवं सात्विक अभिनयों से संवलित होकर 'भाव' की संज्ञा प्राप्त करते हैं।[1] काव्यार्थ को जो भावित करे, वह भाव है।[2] भाव शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हो सकता है—भावन एवं वासन। भावन अर्थ में भाव 'कारण' होता है तथा वासन अर्थ में साधन।[3] भाव इस संसार की ऐसी व्यापक शक्ति है, जिसके बिना सृष्टि-क्रम की कल्पना ही नहीं हो सकसी है। अतः नाना-भावोपसम्पन्न नाट्य नीतों लोकों का भावानुकीर्त्तन है।[4] साथ ही नाट्य-रस की प्राप्ति का साधन भी भाव ही है। दूसरे शब्दों में भाव मन का वह विकार है, जिसके परिपक्व होने पर 'रस' की उद्भावना होती है; अतः भाव रस का कारणीभूत है।[5]

---

१. ना० शा० चौ० ७।१ ; भा० प्र० पृ० ८ पं० ९-१०.

२. (क) किं भावयन्तीति भावाः ? उच्यते—वागङ्ग सत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः। — ना० शा० चौ० अध्याय ७ तृ० ७-९.

(ख) भावः स्याद्भावनं भूतिरथ भावयतीति वा।.... — भा० प्र० पृ० ३ पं० २२, पृ० ८ पं० ९-१०.

३. भाव इति कारणसाधनं यथा भावितो वासितः कृत इत्यर्थान्तिरम्। — ना० शा० चौ० अध्याय ७, पृ० ७९.

४. ना० शा० चौ० १।१०४, १०८.

५. (क) अतो मनोविकारस्य भावत्वं प्रकटीकृतम् ॥ — भा० प्र० पृ० ८ पं० ८.

(ख) तत्रादो कारणीभूतभावलक्षणमुच्यते ॥
रसानुकूलविकृतिर्भावः................ ॥ — मन्दा० चम्पू पृ० ९१.

जिस प्रकार एक वस्तु (यथा कस्तूरी) की गन्ध संयोग में आने वाली दूसरी वस्तु (यथा वस्त्र आदि) में व्याप्त हो जाती है ; उसी प्रकार कवि की मानसिक अवस्थाएँ दर्शक के हृदय में व्याप्त हो जाती हैं तथा वे 'भाव' के नाम से अभिहित की जाती हैं। कवि की ये मानसिक दशायें, नाट्य-प्रयोक्ताओं के नानाविध-अभिनयों के माध्यम से, प्रेक्षक के अन्तःकरण को भावित करती हैं।[1] इस प्रकार यह साधारणीकृत भावन-व्यापार रसानुभूति में सहायक सिद्ध होता है ; क्योंकि एक प्रकार से रस ही तो रत्यादि रूप से 'भाव' कहलाता है।[2]

विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी एवं सात्विक के भेद से भाव के विभिन्न विभाग हैं, जो भरत-परम्परा के अनुसार संख्या में उंचास (४९) माने गये हैं।[3] शारदातनय को भी यह संख्या मान्य है। वे सर्वप्रथम भाव के विभावादि पांच भेदों का वर्णन करते हैं ; तत्पश्चात् उनके अवान्तर भेदों का विस्तृत प्रतिपादन करते हैं। इनमें आठ स्थायी भाव, आठ सात्विक भाव एवं तेतीस व्यभिचारी भावों का तो उल्लेख किया ही है, साथ ही अनुभाव एवं विभाव के भी विभिन्न भेदों का निरूपण किया है।[4] इन समस्त भावों के 'सामान्यगुणयोग' से श्रोता अथवा दर्शक के हृदय में रसोद्रेक होता है।[5] अभिनवगुप्त आदि परवर्ती आचार्यों ने जिसे 'साधारणीकरण' कहा है उसका मूल भरत के 'सामान्यगुणयोग' में ही निहित है ; क्योंकि उसके बिना रस-निष्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है ? शुष्क काष्ठ में अग्नि के समान शरीर में भाव व्याप्त हो जाते हैं तथा हृदय में रसोद्भव करते हैं।[6] इस 'सामान्यगुणयोग' अथवा 'साधारणीकरण' को शारदातनय 'तदात्मता' कह कर पुकारते हैं, जोकि रामादि आश्रय के दुःख-सुख आदि की अनुभूति करने से सामाजिक के हृदय में स्थापित हो जाती है, तथा वही 'भाव' के नाम से अभिहित की जाती है।[7] यह 'भाव' पदार्थ स्थायी, विभाव, व्यभिचारी भाव इत्यादि से भिन्न है।[8]

---

१. ना० शा० चौ० ७।२-३, पृ० ७९ ; द० रू० ४।४ (अवलोक सहित)
२. रसो रत्यादिरूपेण भाव इत्यभिधियने। — स० कण्ठा० ५।१३.
३. तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः, त्रयस्त्रिंशत् व्यभिचारिणः, अष्टौ सात्विका इति भेदाः। एवमेते काव्य रसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपंचाशत् भावाः प्रत्यवगन्तव्याः। — ना० शा० चौ० अध्याय ७, पृ० ८०.
४. भा० प्र० पृ० ४-२५.
५. एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसः निष्पद्यते।
— ना० शा० चौ० अध्याय ७, पृ० ८०.
६. ना० शा० चौ० ७।७.
७. रामाद्याश्रयदुःखादेरनुभूतेस्तदात्मता।
सामाजिकस्य मनसो या स भाव इति स्मृतः॥
— भा० प्र० पृ० १३ पं० १७-१८.
८. का० प्र० ४।३५-३६.

विभाव का लक्षण एवं भेद-निरूपण

विशेष रूप से जो अर्थों को भावित करता है, वह विभाव है।[1] शारदातनय द्वारा प्रस्तुत विभाव का यह सामान्य लक्षण भरत से पूर्णतया सहमत जान पड़ता है।[2] भरत एवं मम्मट की भांति शारदातनय भी विभाव को 'कारण' अथवा 'हेतु' ही मानते हैं।[3] 'वि' पद का 'विशेष' रूप अर्थ होने के कारण ही विभाव को काव्य-जगत् में 'कारण' न कह कर 'विभाव' कहा जाता है ; क्योंकि लोक-जीवन में जिस प्रकार भाव उत्पन्न होता है, उससे भिन्न एवं विशिष्ट प्रकार से काव्य-क्षेत्र में विभाव द्वारा स्थायी भाव को उद्‌बुद्ध एवं उद्दीप्त किया जाता है।[4] महिमभट्ट के शब्दों में भी 'हेतु' एवं 'विभाव' पृथक्-पृथक् हैं।[5] अतः उस भावोत्तेजक परिस्थिति को विभाव कहा जा सकता है, जिसे रंगमंच पर प्रदर्शित करके प्रकाश में लाया जाता है। रंगमंच पर प्रदर्शित करने से तात्पर्य है—उस विभाव को नाट्य-क्षेत्र में अवतरित अथवा प्रयुक्त करना ; क्योंकि नाट्य (काव्य) क्षेत्र के बाहर तो वह केवल 'कारण' अथवा 'हेतु' ही है, 'विभाव' नहीं। विभाव वह है जिसका अर्थ ज्ञात हो सके, अर्थात् जो ज्ञायमान हो तथा जो स्थायी भाव का पोषक हो।[6] रस-ज्ञापन के कारण को 'विभाव कहा जाता है।[7]

शारदातनय ने भी विभाव के सर्वसम्मत दो विभागों—उद्दीपन एवं आलम्बनका निरूपण किया है। रस के उत्कर्ष में जो विभाव एक, दो अथवा तीन भावों के साथ संसृष्ट होते हैं, वे उद्दीपन कहलाते हैं। रसानुभव की सिद्धि में अनुद्दिष्ट भाव 'आलम्बन' (विभाव) कहलाते हैं। इन आलम्बन विभावों के भी शृंगारादि रसों के आधार पर शारदातनय ने आठ भेद प्रतिपादित किये हैं।[8]

---

१. अर्थान्विभावयन्तीति विभावाः परिकीर्तिताः ॥

— भा० प्र० पृ० ४ पं० ४.

२. ना० शा० चौ० ७।४.

३. ना० शा० चौ० अध्याय ७ पृ० ८० ; का० प्र० पृ० १३ पं० ११.

४. अभि० भा० भाग १ पृ० २८५.

५. न च लोके विभावादयो भावा वा सम्भवन्ति हेत्वादीनामेव तत्र सम्भवात्। न च विभावादयो हेत्वादयश्चेत्येक स्वार्थ इति मन्तव्यम्। अन्ये हेत्वादयोऽन्य एव विभावादयः तेषां भिन्न लक्षणत्वात्।

— व्य० वि० पृ० ६७.

६. द० रू० ४।२० ; मन्दा-चम्पू पृ० ९९.

७. तत्र ज्ञेयो विभावस्तु रसज्ञापनकारणम्॥ — र० सु० १।५९.

८. भा० प्र० पृ० ४ पं० १९-२,० पृ० ५ पं० १५-१६, पृ० ५ पं० १७-२२, पृ० ६ पं० १०।

उन्होंने ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, खर रूक्ष, निन्दित एवं विकृत के भेद से विभावों के आठ प्रकार, श्रृंगारादि आठ रसों के आधार पर, निर्दिष्ट किये हैं ; साथ ही क्रमानुसार उनके लक्षणों का भी प्रतिपादन किया है।[1]

अनुभाव का लक्षण एवं भेद-निरूपण

'अनुभव' अथवा 'अनुभूति' के आधार पर शारदातनय अनुभाव का लक्षण कहते हैं कि 'जो विभावित अर्थ की अनुभूति कराये, वह अनुभाव है।'[2] भरत के शब्दों में 'वाचिक एवं आंगिक अभिनय के द्वारा जो भाव, अंग एवं उपांग से संयुक्त अर्थ का अनुभावन कराये, उसे अनुभाव कहते हैं।'[3] अनुभाव के द्वारा सामाजिक को भाव-विशेष का भावन अर्थात् अनुभव होता है। रंगमंच पर अभिनीत अनुभावों द्वारा प्रेक्षक उन भावों का केवल अनुभव ही नहीं, साक्षात्कार भी कर लेता है। नट द्वारा प्रदर्शित इस अभिनय में विभिन्न शारीरिक चेष्टाएँ यथा— कटाक्ष, भ्रूसंचालन, भुजाक्षेप इत्यादि आते हैं।[4]

अनुभाव का व्युत्पत्तिपरक अर्थ यदि किया जाये तो 'अनु पश्चात् भावो यस्य सोऽनुभावः' के अनुसार ये भाव अथवा स्थायी भाव के पश्चात् होते हैं ; अतः 'अनुभाव' कहलाते हैं। इस दृष्टि से अनुभाव 'कार्य' की श्रेणी में आते हैं। मम्मट तथा शारदातनय ने अनुभावों को 'कार्य' ही माना है ;[5] क्योंकि इनके द्वारा हृदय में स्थित भावों को अभिव्यक्त अथवा अनुभावित किया जाता है।[6] भरत ने अनुभाव

---

१. भा० प्र० पृ० ४ पं० १२-१८, २१-२२ ; पृ० ५ पं० १-१४.

२. विभावितार्थानुभूतिरनुभाव इति स्मृतः।

— भा० प्र० पृ० ४ पं० ५.

३. यदयमनुभावयति नानार्थाभिनिष्पन्नों वागंगसत्वैः कृतोऽभिनय इति। अत्र श्लोकः

वागंगाभिनियेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
वागंगोपांगसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥

— ना० शा० चौ० ७।५.

४. भ्रूविक्षेपकटाक्षादिर्विभावो हृदयं श्रितः।
भावान् व्यनक्ति यः सोऽयमनुभाव इतीरितः॥

— भा० प्र० पृ० १३ पं० १५-१६.

५. का० प्र० ४।२७ ; भा० प्र० पृ० १३ पं० ११.

६. (क) भावो हृदि स्थितो येनव्यज्यते वानुभाव्यते॥

— भा० प्र० पृ० १३ पं० १४.

(ख) भावं मनोगतं साक्षात् स्वहेतुं व्यंजयन्ति ये।
तेऽनुभावा इति ख्याता भ्रूविक्षेपस्मितादयः॥

— र० सु० १।१९०.

का कथन शाब्दिक अर्थ के अनुकूल किया है ; उस स्थिति में अनुभाव को कार्य न कहकर 'कारण' कहा जायेगा। किन्तु शारदातनय को अनुभाव का कारण रूप होना अभिप्रेत नहीं, वे तो उसे 'कार्य' रूप ही मानते हैं।

विभिन्न रसों के आधार पर भरत ने अनुभावों के भेदों का जो उल्लेख किया है, उसकी ओर शारदातनय ने सामान्य रूप से ही संकेत किया है ;[1] क्योंकि अनुभाव के भेदों का जो वर्ण्य-विषय उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा पृथक् एवं मौलिक है ; फिर वे पिष्टपेषण क्यों करते ? सामान्य रूप से भरत ने अनुभाव के दो भेद—वाचिक एवं आंगिक—माने हैं। किन्तु उन्होंने 'वागङ्ग सत्वैः' भी कहा है, अतः यह माना जा सकता है कि उन्हें उपर्युक्त दो भेदों के अतिरिक्त 'सात्विक' नामक तृतीय भेद भी मान्य है। धनंजय इन तीनों भेदों से सहमत हैं। भानुदत्त ने इनमें से 'सात्विक' को स्वीकार करते हुए कायिक, मानस एवं आहार्य को मिलाकर चार भेदों का उल्लेख किया है।[2] इन पर शारदातनय का प्रभाव स्पष्ट है।

अनुभाव के भेद-निरूपण में सर्वाधिक मौलिकता शारदातनय के द्वारा ही नाट्य-जगत् को अर्पित की गई है। उन्होंने चार भेदों का नामकरण यद्यपि भोज से प्रभावित होकर किया है, तथापि उनकी वर्णन-शैली में जो नवीनता एवं अछूतापन परिलक्षित होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने ये चार भेद मन, वाक्, काम एवं बुद्धि के आधार पर किए हैं—मनारम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव, गात्रारम्भानुभाव एवं बुद्धयारम्भानुभाव। इन चारों भेदों के भी क्रमशः दश, द्वादश, दश तथा त्रिविध अवान्तर भेद किये हैं।[3]

जिन भाव, हाव, हेला आदि को भरत ने स्त्रियों के सात्विक अलंकार कहा है, उससे शारदातनय यद्यपि असहमत नहीं हैं, तथापि उन्होंने इन भावहाव आदि

---

१. अनुभावास्तु दृश्यन्ते बहवोऽन्ये रसोदये ।।
तत्र तत्राभिधीयन्ते तद्रसोत्कर्षहेतवः ।
— भा० प्र० पृ० १३ पं० २०-२१.

२. स चानुभावः कायिकमानसाहार्यसात्विक भेदाच्चतुर्धा । कायिकाः भुजक्षेपादयः, मानसाः प्रमोदादयः, नाट्ये चतुर्भुजत्वज्ञानादय आहार्याः सात्विकाः रोमांचादयः ।
— र० त० पृ० ४९.

३. अनुभावश्चतुर्धा स्यान्मनोवाचकायबुद्धिभिः
मन आरम्भानुभावा भावाद्या दश योषिताम् ।।
वागारम्भानुभावाश्च द्वादशालाप पूर्वकाः ।
गात्रारम्भानुभावाश्च लीलाद्या दश योषिताम् ।।
बुद्धयारम्भानुभावाश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ।
— भा० प्र० पृ० ६ पं० १३-१७.

को 'मन आरम्भानुभाव' के दश भेदों के अन्तर्गत भी अवगणित किया है। यह उनकी अपनी नूतन प्रयोगविधि है। 'वागारम्भानुभाव' के आलाप-प्रलाप आदि द्वादश भेदों का वर्णन लक्षणों सहित प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् 'गात्रारम्भानुभाव' के प्रतिपादन में एक नवीन विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत स्त्रियों के दश भेदों के साथ-साथ पुरुषों के भी गात्रारम्भानुभावों का निरूपण किया है।[1] इस संदर्भ में यह विशेष ध्यातव्य है कि विभिन्न विषयों का वर्णन करते समय अधिकतर आचार्यों की दृष्टि नायिका आदि स्त्रियों पर ही केन्द्रित रही है, किन्तु शारदातनय पुरुष पात्रों को भी उपेक्षित नहीं रहने देते। वे पुरुषों को भी वर्ण्य-विषय में यथा-सम्भव स्थान प्रदान करते हैं। पुरुष एवं स्त्रियों के क्रमशः आठ एवं दश भेद मिलाकर गात्रारम्भानुभाव के अष्टादश भेद हो जाते हैं ; किन्तु 'क्रीडित' एवं 'केलि' ये दो भेद स्त्रियों के और सम्मिलित करके इन भेदों की संख्या बीस मानी जा सकती है।[2] भोज के स्वभावज अलंकारों में क्रीडित एवं केलि को ही जोड़ा है।[3] परन्तु शारदातनय इन दोनों का पृथक् से कथन करने में कोई विशेष लाभ नहीं देखते, क्योंकि इनका अन्तर्भाव 'लीला' एवं 'विलास' में किया जा सकता है।

मन आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव एवं गात्रारम्भानुभाव का भेदों सहित विस्तृत प्रतिपादन करने के पश्चात् शारदातनय बुद्ध्यारम्भानुभाव के रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति नामक तीन भेदों का लक्षण सहित निरूपण करते हैं।[4]

शारदातनय का अनुसरण करते हुए शिंगभूपाल ने अनुभाव के उपर्युक्त चारों भेदों को स्वीकार किया है, केवल उन्होंने 'मन आरम्भानुभाव' के स्थान पर 'चित्तारम्भानुभाव' कह दिया है।[5] 'चित्त' और 'मन' कहने में कोई अन्तर नहीं है। भानुदत्त के 'आहार्यानुभाव' का अन्तर्भाव शारदातनय-कृत बुद्ध्यारम्भानुभाव के अन्तर्गत किया जा सकता है। भानुदत्त जिसे 'कायिक-अनुभाव' कहते हैं, वह शारदातनय-कृत गात्रारम्भानुभाव ही है ; क्योंकि भानुदत्त ने कायिक-अनुभाव के अन्तर्गत जिन विच्छित्ति, विभ्रम एवं विब्वोक की गणना की है, उन्हें शारदातनय ने स्त्रियों के गात्रारम्भानुभावों के अन्तर्गत स्थान दिया है। विश्वनाथ जिन्हें अंगज

---

१. भा० प्र० पृ० ८ पं० ५-२४ ; पृ० ९ पं० १-३, २४ ; पृ० १० पं० १, २४ ; पृ० ११ पं० १-१२।

२. भा० प्र० पृ० १० पं० १५-१८.

३. विहृतं क्रीडितं केलिरिति स्त्रीणां स्वभावजाः।

— स० कण्ठा० ५।४२.

४. भा० प्र० पृ० ११ पं० १३-२२, पृ० १३ पं० १-६.

५. ते चतुर्धा चित्तगात्रवाग्बुद्ध्यारम्भसम्भवाः। — र० सु० १।१९१.

तथा अयत्नज अलंकार कहते हैं, वे शारदातनय के क्रमशः गात्रारम्भानुभाव एवं मन आरम्भानुभाव ही हैं ; क्योंकि अंग, गात्र, काय इत्यादि शब्द समानार्थक हैं तथा अयत्नज तो बिना किसी यत्न के मन (चित्त) में विद्यमान रहते ही हैं। इसके अतिरिक्त अंगज, अयत्नज, स्वभावज आदि नामकरण भरत-काल से ही चले आ रहे हैं, जबकि शारदातनय-कृत मन आरम्भानुभाव आदि सर्वथा आकर्षक, नूतन एवं स्व-अर्थद्योतक हैं।

भरत ने लीला, विलास आदि को स्त्री के स्वभावज-अलंकार कहा है ; शोभा, कान्ति, दीप्ति आदि को अयत्नज-अलंकार माना है ; शोभा, विलास, माधुर्य आदि को पुरुष के सत्व भेदों में रखा है तथा आलाप, प्रलाप आदि को अभिनयात्मक अलंकार कहा है।[1] किन्तु शारदातनय ने उपर्युक्त अलंकारों को सात्विक भावों से पृथक् माना है और इन्हें क्रमशः स्त्रियों के गात्रारम्भानुभाव, मानसानुभाव, पौरुष-गात्रारम्भानुभाव एवं वागारम्भानुभाब के अन्तर्गत रखा है। शिंग भूपाल ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है। तात्पर्य यह है कि शारदातनय तथा शिंगभूपाल ने मानसारम्भानुभाव (चित्तारम्भानुभाव) तथा स्त्री-पुरुषों के गात्रारम्भानुभावों को सात्विक कहा तो है, किन्तु उन्हें सात्विक भावों से सर्वथा पृथक् रखा है।[2]

धनंजय ने भरतकृत अयत्नज अलंकार यथा शोभा, विलास आदि को नायक के गुणों के अन्तर्गत परिगणित किया है ;[3] किन्तु शारदातनय इन गुणों को जिस वर्ग के अन्तर्गत रखते हैं, उसे 'नायक के गुण' न कह कर 'पौरुष-गात्रारम्भानुभाव' कहते हैं। भोज ने अयत्नज अलंकारों का मन, वाक् एवं काय से संश्रित माना है तथा तीन अंगज अलंकारों में से भी केवल हाव एवं हेला—दो को ही ग्रहण किया है।[4] इस प्रकार भरत, धनंजय एवं भोज आदि स्त्री-पुरुषों के सभी अलंकारों को सात्विक मानते हैं, किन्तु शारदातनय अयत्नज, अंगज एवं स्वभावज का अन्तर्भाव मन आरम्भानुभाव तथा गात्रारम्भानुभाव में कर देते हैं।

---

१. ना० शा० चौ० अध्याय २४।

२. भा० प्र० पृ० ८-१० ; र० सु० १।२१५.

३. शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं स्थैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सात्विकाः पौरुषा गुणाः ॥
— द० रू० २।१०.

४. स्मृतीच्छायत्नजन्मानो मनोवाचकायसंश्रयाः।
हेलाहावादयश्चान्ये ज्ञेयाः स्त्रीपुंसोरपि ॥
— स० कण्ठा० ५।४०, ४२.

स्थायी भाव का लक्षण एवं भेद-निरूपण

अनादिकाल से हृदय में प्रसुप्त वासना अर्थात् संस्कार जब किसी समय उद्‌बोधक तत्वों के द्वारा जाग्रत हो जाते हैं, तो वे 'स्थायी-भाव' कहलाते हैं। हृदय में सदैव स्थायी रूप से स्थित रहने के कारण यह वासना अथवा भाव 'स्थायी-भाव' कहलाते हैं। योगदर्शन के अनुसार प्रतिकूल सामग्री अर्थात् व्यवधान आदि उपस्थित होने पर स्थायी भावों का उद्‌बोधन होता है।[1] चित्त में सदा से ही स्थित रहने के साथ-साथ स्थायीभाव रसात्मक भी होते हैं।[2] विरुद्ध-अविरुद्ध अथवा सजातीय-विजातीय भाव इन्हें तिरोभूत करने (दबाने) में अक्षम होते हैं।[3] दूसरे शब्दों में यह (स्थायीभाव) चित्त के वे स्थिर भाव हैं, जो अनुकूल-प्रतिकूल अर्थात् मित्र-शत्रु भावों को आत्मसात् कर लेते हैं तथा दोनों प्रकार की स्थितियों में समान रूप से स्थिर बने रहते हैं। उनकी इस स्थिरता के कारण ही तो उन्हें 'स्थायीभाव' के नाम से अभिहित किया जाता है। ये दूसरे भावों को तो दबा लेते हैं, किन्तु अन्य किसी भाव से स्वयं नहीं दबते हैं।[4] यही कारण है कि ये समस्त भावों में प्रधान होते हैं तथा एक सुयोग्य राजा की भाँति शोभायमान होते हैं।[5] भरत ने इन्हें प्रजा में भूपति तथा शिष्यों में गुरू के समान श्रेष्ठ कहा है। अन्य भाव इनमें गुणीभूत होकर रहते हैं।[6] अन्य भावों के साथ इनका सम्बन्ध स्रक-सूत्र सम्बन्ध के समान होता है।[7] ये अन्य समस्त प्रकार के भावों को आत्मरूप बनाकर अविच्छिन्न प्रवाह से युक्त रहते हैं।[8]

---

१. जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्
— यो० सू० ४।९.

२. अवस्थिताश्चिरंचित्ते सम्बन्धाच्चानुबन्धिभिः ।।
वर्धिता ये रसात्मानः ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः ।
— भा० प्र० पृ० ४ पं० ६-७.

३. द० रू० ४।३४ ; सा० द० ३।१७४.

४. रस तरंगिणी, पृ० २।

५. सुराजेव विराजेत सः स्थायीभाव उच्यते । — स० को० ४।७.

६. यथा नाराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ।।
""तद्वत् स्थायिनि वपुषि गुणीभूता अन्येभावाः ।
— ना० शा० चौ० ७।८, पृ० ८१.

७. सा० द० (टीका–काणे) पृ० ३२.

८. अविच्छिन्न प्रवाहाः स्थायिभावाः ।
— का० प्र० (झलकीकर–टीका) पृ० ८६.

धनंजय ने स्थायीभाव की उपमा उस लवणाकार से दी है जो कि समस्त नदियों के जल को आत्मसात् करके उनके मीठे जल को अपने समान अर्थात् लवण-युक्त बना देता है।[1] यह उपमा शारदातनय को भी अभीष्ट है।[2] इस उपमा का विस्तृत निरूपण करने में वे धनंजय की अपेक्षा अधिक तत्पर जान पड़ते हैं। जिस प्रकार वारिधि में कल्लोलें डूबतीं-उतरातीं रहती हैं तथा उसके उत्कर्ष की वृद्धि करके तद्रूपता को प्राप्त हो जाती हैं; उसी प्रकार स्थायीभाव में व्यभिचारी आदि अन्य भाव उन्मग्न-निर्मग्न होते हुए, उसका उत्कर्ष करते हुए तद्रूप हो जाते हैं। उस स्थिति में स्थायी भाव ही सर्वप्रमुख रूप से विद्यमान होकर रसत्व को प्राप्त होता है। कुछ मतों के अनुसार कुछ अन्य भाव भी रसात्मकता को प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु शारदातनय विशेष रूप से स्थायी भावों में ही यह रसात्मकता स्वीकार करते हैं, अन्य में नहीं।[3]

शारदातनय ने स्थायीभाव के अष्टविध भेद स्वीकार किये हैं। इस विषय में उन्हें भरत आदि की परम्परा ही मान्य है।[4] भरत के परवर्ती अनेक आचार्यों ने 'शम' नामक एक स्थायीभाव को भी स्वीकार किया है; किन्तु शारदातनय के विचार से 'शम' के अन्तर्गत तो समस्त व्यापार विलीन हो जाते हैं, ऐसी अवस्था में अनुभाव रहित 'शम' का अभिनय नाट्य में सम्भव नहीं है। जब अभिनय ही नहीं हो सकता तब नाट्य-रस का पोष कैसे हो सकता है? अतः उन्होंने रत्यादि (रति, हास, उत्साह, विस्मय, क्रोध, शोक, जुगुप्सा, भय) आठ ही स्थायी भावों का उल्लेख करते हुए उनका रस-कारणत्व प्रतिपादित किया है। यही नहीं, इन रत्यादि आठ स्थायीभावों की वाचकशब्द-परक व्युत्पत्तियों का भी उन्होंने निर्वचन किया है।[5]

---

१. आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः। — द० रू० ४।३४.

२. स्वात्मन्यैक्येन गृह्वाति स स्थायी लवणोद्वत्।

— भा० प्र० पृ० २६ पं० ११.

३. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥
उन्मज्जन्तो निमज्जन्तः कल्लोलाश्च यथाऽर्णवे।
तस्योत्कर्षं वितन्वन्ति यान्ति तद्रूपतामपि ॥

....

केचिदन्येऽपि भावाश्चेत्पोयं यान्ति रसात्मना ॥
तेषां विशेषो विज्ञेयः स्थायिष्वेव न चान्यथा।

— भा० प्र० पृ० २५ पं० १६–२२, पृ० २६ पं० १८–१९.

४. भा० प्र० पृ० २६ पं० ६, १५–१७.

५. वही पृ० ६–८, पृ० ३४ पं० १० से पृ० ३६ पं० ४ तक।

मम्मट एवं धनंजय जिसे 'निर्वेद' के नाम से अभिहित करते हैं,[1] उसे शारदातनय 'शम' कहना अधिक उचित समझते हैं।[2] उनके अनुसार 'शम' को 'निर्वेद' की संज्ञा प्रदान करना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि निर्वेद की गणना व्यभिचारियों में की गई है। भरत से लेकर शारदातनय के समय तक के बीच की अवधि में शान्त रस के स्थायी के रूप में 'शम' अथवा 'निर्वेद' को स्थापित करने की प्रवृत्ति यद्यपि अत्यन्त तीव्रता से गतिशील हो रही थी, तथापि नाट्य में इसकी अवैज्ञानिकता शारदातनय को रुचिकर प्रतीत नहीं हुई और वे स्थायी भावों के अष्टविध होने में ही संतुष्ट रहे। कालान्तर में वत्सल, भक्ति, संयोग, विप्रलम्भ, ब्राह्म, प्रेयस् उद्धत, स्नेह, गर्व, उदात्त आदि अन्य अनेक रसों के स्थायी भावों यथा, प्रीति, अरति, आनन्द, आह्लाद आदि का भी प्रयोग हुआ। किन्तु शारदातनय के विचार से रत्यादि आठ ही स्थायीभाव नाट्योपयोगी हैं,[3] शेष तो व्यर्थ-विस्तार की प्रवृत्ति का ही परिणाम है, अन्य कुछ नहीं। क्योंकि इन समस्त नवीन स्थायी भावों का अन्तर्भाव रत्यादि आठ स्थायी भावों में हो सकता है, यथा-प्रेयस् वत्सल, भक्ति, स्नेह, संयोग, विप्रलम्भ आदि के स्थायी भावों को 'रति' के विशाल क्षेत्र में सम्मिलित किया जा सकता है; गर्व, उद्धत, उदात्त आदि के स्थायी भावों को 'उत्साह' में अन्तर्भूत किया जा सकता है। अतः शारदातनय द्वारा स्वीकृत रत्यादि आठ स्थायीभाव ही पर्याप्त है; उनकी संख्या में वृद्धि करने का अनावश्यक-प्रयत्न दुराग्रह ही होगा।

व्यभिचारी भाव का लक्षण एवं भेद-निरूपण

जन्म अनवस्थित तथा रसनिष्पत्ति में स्थायी के अनुकूल संचरण करते हुए भाव व्यभिचारी कहलाते हैं।[4] ये भाव सदैव अस्थिर रूप से रहते हैं। संचरण की

---

१. (क) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति ..... ।

— का० प्र० ४।३५ (सू० ४७)

(ख) निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।

— द० रू० ४।३६.

२. विलीनसर्वव्यापारः शमः स्थायी भवेद्यतः ।।

— भा० प्र० पृ० २६ पं० ६.

३. ततोऽष्टो स्थायिनो भावा नाट्यस्यैवोपयोगिना ।

— भा० प्र० पृ० २६ पं० ९.

४. अनवस्थितजन्मानो भूयोभूयः स्वभावतः ।।
स्थायिना रसनिष्पत्तो चरन्तो व्यभिचारिणः ।

— भा० प्र० पृ० ४ पं० ८–९.

इसी क्रिया के कारण इन्हें 'संचारी भाव' भी कहा जाता है।[1] वाक्, अंग एव सत्वादि के द्वारा यह संचरण बताते हुए भरत एवं शिगभूपाल ने व्यभिचारी भाव का व्युत्पत्ति-परक अर्थ स्पष्ट किया है।[2] स्थायीभावों में आविर्भूत एवं तिरोभूत होने के कारण व्यभिचारी भाव स्थायी के सहायक बन कर उपस्थित होते हैं।[3] आचार्य मम्मट ने इन्हें 'सहकारी' की संज्ञा प्रदान की है।[4] शारदातनय भी व्यभिचारीभावों को स्थायी का सर्वप्रमुख सहायक मानते हैं, क्योंकि व्यभिचारी ही स्थायीभावों को रसात्मकता तक पहुँचाने के लिये उन्हें पुष्ट करते हैं।[5] अभिनव गुप्त के अनुसार यद्यपि व्यभिचारी भाव एक प्रकार से मानसिक दशायें ही हैं, तथापि वे विभिन्न रसों के अनुभव के समय प्रेक्षकगण के सम्मुख मानो प्रत्यक्ष हो उठते हैं।[6]

भरत के अनुसार ही शारदातनय को भी व्यभिचारी भाव के 'निर्वेदादि' तेंतीस भेद मान्य हैं।[7] भट्टलोल्लट, अभिनव गुप्त तथा भोज इस नियत संख्या को मानने के पक्ष में नहीं हैं। भट्टलोल्लट के अनुसार स्थायी, व्यभिचारी, सात्विक आदि अवस्था-विशेष का ही दूसरा नाम है; अतः अवस्था अर्थात् परिस्थिति-विशेष

---

१. संचारयन्ति भावस्य गतिं संचारिणोऽपिते

— र० सु० २।२.

२. (क) वि अभि इत्येतावुपसर्गों। चर गतो धातुः। धात्वर्थवार्गगसत्वोपेतान् विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।

— ना० शा० चौ० अध्याय ७ पृ० ८४.

(ख) व्यभी इत्युपसर्गो द्वौ विशेषाभिमुखत्वयोः।
विशेषणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति ॥

— र० सु० २।१.

३. द० रू० ४।७; र० सु० २।३; मन्दा० चम्पू पृ० ६२.

४. का० प्र० ४।२७-२८.

५. स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्तथैवव्यभिचारिणः।
पुष्णन्ति स्थायिनं स्वांश्च तत्र यान्ति रसात्मताम् ॥

— भा० प्र० पृ० २६ पं० १-२.

६. अभि० भा० भाग १ पृ० ३५६–५७.

७. (क) प्रति व्यभिचारिणस्त इमे एवं गृहीतास्त्रयत्रिंशद्भावाः।

— ना० शा० चौ० पृ० ८४ अध्याय ७.

(ख) निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिशद्भावास्ते व्यभिचारिणः।

— भा० प्र० पृ० ६, पं० १६.

के आधार पर कोई भी भाव रस-रूप में परिणित हो सकता है।[1] दूसरी ओर अभिनव गुप्त स्थायी को व्यभिचारी तो मान लेते हैं, किन्तु व्यभिचारी भावों को स्थायी मानने के पक्ष में नहीं हैं।[2] भोज के अनुसार कोई भी भाव, कभी-भी, स्थायी, तात्त्विक, व्यभिचारी आदि हो सकता है। अतः इनके मत में किसी भी भाव की संख्या कभी-भी नियत ही नहीं है।[3] शारदातनय ने इस बात को कुछ अन्य प्रकार से कहा है। जहाँ भोज स्थायी, सात्विक एवं व्यभिचारी भावों का कथन करते हैं, वहाँ शारदातनय विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों को रखते हैं।[4] साथ ही व्यवस्था के लिये इन समस्त भावों की संख्या भी उन्होंने नियत रूप में स्वीकार की है, क्योंकि एक नियत संख्या न रखने पर असंख्य-भेदों की परिकल्पना हो जाने से अव्यवस्था-दोष उत्पन्न हो जायेगा।

शारदातनय ने भरत-सम्मत तेंतीस व्यभिचारी भावों को ही स्वीकार किया है, जैसा कि मम्मट, शिगभूपाल, विश्वनाथ एवं श्रीकृष्ण कवि को भी मान्य है।[5] धनंजय, असूया एवं मोह के स्थान पर ईर्ष्या एवं मौन की गणना करते हैं।[6] भोज ने श्रृंगारप्रकाश में अपस्मार तथा मरण के स्थान पर शम तथा ईर्ष्या की गणना

---

१. एतावन्त एव च रसा इत्युक्तं पूर्वम्। तेन आनन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्धया एतावतामेव प्रयोज्यत्वम् इति यद् भट्टलोल्लटेन निरूपितं तदवलेपेन अपरामृश्येत्यलम्।
तेन रसान्तर सम्भवेऽपि पार्षदप्रसिद्धया संख्या-नियम इति यदन्यैः (लोल्लटादिभिः) उक्तं तत्प्रयुक्तम्। — अभि० भा० पृ० २९८, ३४१.

२. स्थायिनो हि व्यभिचारिता भवति। न तु व्यभिचारिणां स्थायिता।
— अभि० भा० पृ० ३४५.

३. नन्वष्टो स्थायिनः, अष्टो सात्विकाः, त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणः इति ब्रुवते। न तत् साधु। यतोऽमीषमन्यतमस्येव परस्पर निर्वर्त्यमानत्वात् कश्चित् कदाचित् स्थायी, कदाचित्तु व्यभिचारी। अतोऽवस्थावशात् सर्वेऽप्यमी व्यभिचारिणः, सर्वेपि स्थायिनः, सात्विका अपि सर्व एव, मनः प्रभवत्वात्। अनुपहतं हि मनः सत्वमित्युच्यते। —श्रृं० प्र० पृ० ११.

४. विभावोऽप्यनुभावः स्यादनुभावो विभाववत्।
ते पुनश्चारिणः स्यातां ते च तो स्युः परस्परम्॥
— भा० प्र० पृ २७ पं० १–२.

५. भा० प्र० पृ० १५ पं० ८–१३ ; ना० शा० चौ० ७।२८–९१ ; का० प्र० ४।३१–३४ ; र० सु० २।४–६ ; सा० द० ३।१४२–१७१ ; मन्दा० चम्पू– पृ० ९२.

६. द० रू० ४।८.

की है, जबकि सरस्वतीकण्ठाभरण में धृति एवं स्नेह का उल्लेख किया है। एक ही लेखक की दो रचनाओं में दो प्रकार की मान्यता के प्रतिपादन का कारण समझ में नहीं आता। ध्यातव्य है कि शारदातनय ने 'शम' को न तो व्यभिचारी भावों में रखा है, न स्थायी भावों में। अग्निपुराण में शम को व्यभिचारी भावों में सम्मिलित कर लिया गया है, किन्तु मरण, सुप्ति एवं निद्रा को स्वीकार नहीं किया गया है। इस प्रकार वहाँ पर व्यभिचारी भावों की संख्या कुल इकतीस मानी गई है।[1] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने तृष्णा, मुदिता, मैत्री, क्षमा, क्षुत्, श्रद्धा, उपेक्षा, दया, अरति, सन्तोष, आर्जव, मार्दव एवं दाक्षिण्य को भी संचारी कहा है। उनके अनुसार स्थायी-भाव एवं अनुभाव भी व्यभिचारी भाव हो सकते हैं।[2] हेमचन्द्र ने तृष्णा एवं क्षुत् के साथ उद्वेग एवं दम्भ का भी प्रतिपादन किया है। सागरनन्दी ने 'शौच' तथा भानुदत्त ने 'छल' नामक नवीन व्यभिचारी भावों की कल्पना की है। हेमचन्द्र-सम्मत उद्वेग एवं दम्भ को ग्रहण करते हुए रूपगोस्वामी ने विवेक, निर्णय, मात्सर्य, क्लैव्य, कुतुक, उत्कण्ठा, संशय, विनय धार्ष्ट्य नामक नवीन व्यभिचारियों का उल्लेख किया है, साथ ही पूर्व-परम्परा से प्राप्त तेंतीस व्यभिचारी भावों को स्वीकार किया है। नवीन व्यभिचारी भावों का कथन करने के पश्चात् उनका अन्तर्भाव रूपगोस्वामी तेंतीस व्यभिचारी भावों में ही कर देते हैं, इससे उन नवीन व्यभिचारी भावों का महत्व स्वतः ही समाप्तप्राय हो जाता है।

शारदातनय के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों ने जिन नवीन संचारी भावों की गणना की, उनका अन्तर्भाव भरत-परम्परा से प्राप्त तेंतीस व्यभिचारी भावों में ही हो सकता है, इसीलिये तेंतीस व्यभिचारी भावों के अतिरिक्त अन्य व्यभिचारी भावों की परिकल्पना करने की आवश्यकता शारदातनय ने नहीं समझी होगी। व्यभिचारी भावों के अनेकानेक नूतन नामोल्लेख जिस प्रकार से होते रहे हैं; उन सबको स्वीकार करने पर तो असंख्य-भेद हो जायेंगे; जिससे अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी। अतएव तेंतीस व्यभिचारी भावों की परिगणना ही पर्याप्त है।

सात्विक भाव का लक्षण एवं भेद-निरूपण

सात्विक भावों का सम्बन्ध 'सत्व' से होता है। दुःखसुखादि भाव से चित्ति का भावित होना ही सत्व (मानसिक अवस्था) है। इस सत्व से समीप्सित भाव

---

१. अ० पु० ३३९।२२–३४.

२. अन्येऽपि पुनः सम्भवन्ति। यथा क्षुत्-तृष्णा-मैत्री-मुदिता-श्रद्धा-दया-उपेक्षा-रति सन्तोष-क्षमा-मार्दव-आर्जव-दाक्षिण्यादयः, तथा स्थायिनोऽनुभावाश्चेति।
— ना० द० ३।२५–२३ का वृत्तिभाग, सू० १८२.

'सात्विक' कहलाता है ।[1] भरत के मत से सहमत होते हुए शारदातनय यह स्वीकार करते हैं कि सभी भाव सत्व से उत्पन्न होते हैं । वे सात्विक भाव की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि स्वीय-अस्वीय के भेद से जो विकार सत्व से उत्पन्न होते हैं, वे विद्वानों के द्वारा सात्विक भाव कहे जाते हैं ।[2] सभी भावों के मूल में सत्व की स्थिति रहने से यद्यपि सामान्य रूप से सभी को सात्विक कहा जा सकता है, तथापि जो भाव बिना किसी प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होकर अन्य भावों की स्वसत्ता को भी प्रकाशित करते हैं, वे ही सात्विक भाव कहलाते हैं ।[3] जब कभी हृदय में अत्यधिक दुःख अथवा सुख उत्पन्न होता है, तो अश्रु रोमांच आदि प्रकट हो जाते हैं । यही अश्रु आदि विकार सत्व से उत्पन्न होने के कारण सात्विक भाव कहे जाते हैं ।

भरत ने समाहित मन से सत्व की उत्पत्ति एवं मन के समाधान से सत्व की निवृत्ति का उल्लेख किया है ।[4] उसी से प्रभाहित हो शारदातनय ने सात्विकत्व

---

१. (क) तत्कथमदुःखितेन, सुखं प्रहर्षात्मकं असुखितेनाभिनेतुं शक्यते इति सत्व-
समीप्सितमिति कृत्वा सात्विको नाम इति भावः ।
— ना० सा० चौ० अध्याय ७, पृ० ९५.

(ख) पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्विकाः ।।
सत्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ।
— द० रू० ४।४–५.

२. सत्वजा ये विकाराः स्युः स्वीयास्वीयविभागतः ।।
त एव सात्विका भावा इति विद्वद्भिरुच्यते ।
— भा० प्र० पृ० ४ पं० १०–११.

३. (क) भावानामपि सर्वेषां यैः स्वसत्ता विभाव्यते ।
ते भावाः सत्वजन्मानः सात्विका इति दर्शिताः ।।
— भा० प्र० पृ० ३८ पं० १७–१८.

(ख) सर्वेषामपि भावानां येः सत्वं प्रविभाव्यते ।.......
सर्वेऽपि सत्वमूलत्वाद् भावा यद्यपि सात्विकाः ।
तथाप्यमीषां सत्वेकमूलत्वाद् सात्विकत्प्रथा ।।
— र० सु० १।३००, ३१०.

(ग) लब्धं यदन्तःकरणं सत्वं तद्वत्तया तथा ।
अयत्नजो देहधर्मः सात्विको भाव उच्यते ।।
— मन्दा० चम्पू पृ० ९७.

४. सत्वं नाम मनःप्रभवम् । तच्च समाहितमनस्त्वात् उत्पद्यते मनःसमाधानाच्च
सत्वनिवृत्तिर्भवति । — ना० शा० चौ० अध्याय ७, पृ० ९५.

के कथन के लिये सत्वादि त्रिगुण एवं उनके सम्बन्ध का निरूपण किया है।[1] इस निरूपण पर सांख्य-दर्शन की छाप है। किन्तु विशेष उल्लेखनीय है कि जहाँ सांख्य में बुद्धि एवं अहंकार को सर्वप्रथम स्थापित किया गया है, वहाँ शारदातनय-कृत विवेचन में 'मन' को सर्वप्रमुख रूप से प्रतिष्ठित किया गया है तथा बुद्धि, चित्त एवं अहंकार को त्रिगुण-सम्भव कहा गया है ; जबकि मन तो गुणों से सर्वथा अस्पृष्ट होता है। इस मन का विकार 'भाव' है तथा विकृति का कारण उपस्थित होने पर चित्त की अविकृति 'सत्व' है। इसी सत्व से बीज के आदि विकार के समान जो अल्प-विकृति होती है, वह सात्विक भाव है।[2] शारदातनय सात्विक भावों के सात्विकत्व का निर्वचन दार्शनिक-पृष्ठभूमि पर ही करते हैं यथा—तत्तद्-इन्द्रियगोचर सत्व को अधिष्ठित करके एवं बुद्धि को आश्लिष्ट करके मन स्वभाव से ही विषयों का उपभोग करता है। बुद्धि, ज्ञान एवं आनन्द के भेद से सत्व तीन प्रकार का होता है।[3] दूसरों के सुख-दुःखादि के अनुभव के अनुकूल भावों का जो भावन किया जाता है, उसी के द्वारा सत्व प्रवृत्त होकर सात्विक भाव को उत्पन्न करता है।[4]

सात्विक भावों को दीपित करने में व्यभिचारी भाव उपकारी बन कर उपस्थित होते हैं। काव्यप्रकाशकार जब व्यभिचारी को 'सहकारी' कहते हैं, तब केवल अनुभाव को ही 'कार्य कहते हैं ;[5] किन्तु शारदातनय सात्विकों को भी 'कार्य' अर्थात् 'उपकार्य' (जिसका उपकार किया जाए) कहते हैं। इस प्रकार शारदातनय ने सात्विकभाव एवं व्यभिचारी भावों की परस्पर उपकार्योपकारिता प्रतिपादित

---

१. भा० प्र० पृ० ६ पं० २३–२४ ; पृ० ७ पं० १–२२.

२. एतेभ्यः सर्वभावानां प्रभवः समुदाहृतः।
आदित्यः सर्वसाक्षित्वान्मनो यत्तदधिष्ठितम् ॥
....
बुद्धिचित्ताहंकृतयः तस्य त्रिगुणसम्भवाः।
....
यत्संस्कारवशाद्वेत्ति सर्वं तत्तेन निर्मलम्।
तादृगेव मनः सत्वं गुणैरस्पृष्टमुच्चते ॥.......
— भा० प्र० पृ० ८ पं० १–२, पृ० ७ पं० २३,
पृ० ८ पं० ३–८.

३. भा० प्र० पृ० १३ पं० २२–२४.

४. भा० प्र० पृ० १४ पं० १–४ ; ना० शा० चौ० अध्याय ७ पं० ६५ ; द० रू० ४।४–५ (अवलोक), प्र० रुद्र० पृ० १५६ ; रसरत्न प्रदीपिका, पृ० १०।

५. का० प्र० ४।२७.

की है,[1] जो भरत[2] से प्रभावित होते हुए भी अपने एक अनूठे दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है।

भरत-सम्मत आठ सात्विकभावों को अधिकांश आचार्यों ने मनोनीत किया है।[3] शारदातनय को भी सात्त्विक भाव के स्तम्भ आदि आठ भेद स्वीकार हैं। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि स्त्रियों के लीला आदि बीस सत्वज अलंकार यद्यपि सात्त्विक भाव नहीं हैं, तथापि वे छत्रधारियों की गति के न्याय से उस लिंग के कारण सात्विक कहलाते हैं ;[4] किन्तु वास्तव में तो वे स्त्री के गात्रारम्भानुभाव हैं।[5] इन अलंकारों को गात्रारम्भानुभाव के अन्तर्गत रखने का श्रेय शारदातनय को ही है क्योंकि भरत आदि तो इन्हें स्त्रियों के स्वभावज (सात्विक) अलंकार ही कहते आए हैं।[6]

भानुदत्त ने 'जृम्भा' नामक एक नवीन सात्त्विक भाव का उल्लेख किया है, किन्तु उसकी परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है।[7] शारदातनय ने इसकी परिकल्पना करने की आवश्यकता सम्भवतः इसलिए नहीं समझी होगी कि 'जृम्भा' में सात्त्विक भावों जैसी विशेषता नहीं पायी जाती। जिस प्रकार स्तम्भ-स्वेद आदि स्वाभाविक रूप से हठात् उत्पन्न हो उठते हैं, उस प्रकार जृम्भा नहीं हो सकती। यदि इसे सात्त्विक भाव मान लेंगे, तब तो निःश्वास, घबराहट आदि क्रियाओं को भी सात्त्विक भाव कहना पड़ेगा। अवसर देखकर कभी-कभी जृम्भा, निःश्वास आदि को रोका भी जा सकता है, जबकि सात्त्विक भावों को रोकने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः शारदातनय ने सात्त्विक भावों की गणना में ऐसे किसी भी नाम को सम्मिलित नहीं किया, जिसके सात्त्विकत्व में कोई भी आपत्ति उठाई जा सके। उनके विचार से तो स्तम्भादि आठ भेद ही पर्याप्त एवं युक्तियुक्त हैं।

---

१. उपकार्योपकारित्वमेतेषां कथ्यतेऽधुना।
....

पुष्यन्त्यनुभवोत्कर्षं विभावैरपि दीपिता :
कार्श्यजागरणालस्यसन्तापाः स्युस्ततस्ततः
— भा० प्र० पृ० ३२ पं० ५–१६.

२. ना० शा० (गा० ओ० सी०) ७।९४–९९.

३. ना० शा० चौ० ७।९३ ; द० रू० ४।५–६ ; र० सु० १।३००–३०२ ; मन्दा० चम्पू पृ० ९७।

४. भा० प्र० पृ० ६ पं० १८, २०–२२.

५. भा० प्र० पृ० ९ पं० ४–२१.

६. ना० शा० चौ० अध्याय २४, पृ० २७०–७१.

७. 'जृम्भा च नवमः सात्त्विको भाव इति प्रतिभाति।' — र० त० पृ० ६६.

भावों का रस से सम्बन्ध

अग्निपुराण एवं नाट्यशास्त्र दोनों में ही भाव को रस से तथा रस को भाव से गुम्फित बताया गया है ; किन्तु दोनों स्थलों पर कतिपय कथन की भिन्नता के दर्शन होते हैं। अग्निपुराण के अनुसार भाव ही रसों को भावित करते हैं[1] तथा नाट्यशास्त्र के अनुसार भाव एवं रस—इन दोनों की सिद्धि नाट्य में परस्पराश्रित है।[2] अग्निपुराण में प्रथम महत्व 'भाव' को प्रदान किया है, जबकि नाट्यशास्त्र में रस और भाव एक-दूसरे के सिद्धिकारक हैं। इस विषय में शारदातनय अग्निपुराण से प्रभावित जान पड़ते हैं। उन्होंने भाव से ही रस की सिद्धि स्वीकार की है, रस से भाव की नहीं।[3] वैसे भरत ने भी रस से भाव की अभिनिवृत्ति नहीं मानी है।[4] भरत का अनुकरण करते हुए अभिनवगुप्त भी रसों से भावों की अभिनिर्वृत्ति का प्रतिषेध ही करते हैं। भोज के शब्दों में भावों का विवर्त्त ही रस है।[6]

रस एवं भाव के सम्बन्ध में भट्टलोल्लट एवं शंकुक की मान्यता में सर्वथा भिन्न विचारधारा दृष्टिगत होती है। जहाँ भट्टलोल्लट भाव से रस की उत्पत्ति मानते हैं, वहाँ शंकुक रसों से भावों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। भट्टलोल्लट 'भावोपचम' को रस कहते हैं, जबकि शंकुक के अनुसार अनुकार्य के भावों की प्रतीति सामाजिक को नट के माध्यम से होती है ; अतः यहाँ भावों की प्रतीति बाद में हुई, रस तो अनुकर्त्ता में पहले से ही विद्यमान है। शंकुक की मान्यता

---

१. न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
भावयन्ति रसानेभिर्भाव्यन्ते च रसा इति ॥ — अ० पु० ३३९।१२.

२. न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत् ॥ — ना० शा० चौ० ६।३७.

३. एते भावा रसोत्कर्षे तत्र तत्रोपयोगिनः।
उद्दीपिता विभावैस्स्वैरनुभावैश्च पोषिताः।
भावैश्च सात्त्विकैर्योग्यसंसर्गैर्व्यभिचारिभिः।
चित्रिताः स्थायिनो भावा रसोपादानभूमयः ॥
यदा तदेषामास्वाद्यमानरूपं यदुन्मिषत्।
मनोभिः प्रेक्षकाणां तदुदेष्यति रसात्मना ॥ — भा० प्र० पृ० ३९ पं० ७-१२.

४. तथा दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिवृत्तिः, न तु रसेभ्यो
भावानामभिनिवृत्तिः। — ना० शा० चौ० अध्याय ६, पृ० ७१.

५. अतो न रसेभ्यो भावाः। — अभि० भा० भाग १ पृ० १९२.

६. अभावनोदयमनन्यधिया जनेन यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः स्वाहंकृतो हृदि परं स्वदते रसोऽसौ
— शृं० प्र० (एकादश प्रकाशः) पृ० ४३६.

शारदातनय को तनिक भी प्रिय नहीं है ; क्योंकि वे तो भावों से रस की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वे भट्टलोल्लट के अधिक समीप जान पड़ते हैं तथा अपने कथन की पुष्टि के लिये वासुकि के मत को उद्धृत करते हैं।[१] उन्होंने भावों के रसोपकारित्व का स्पष्ट कथन किया है। रस-जनन की प्रक्रिया में भावों के अद्भुत कौशल से वे सुपरिचित एवं पूर्णतया सहमत हैं।[2]

भरत-रससूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से स्थायी भाव 'रसत्व' को प्राप्त होता है।[3] धनंजय एवं शारदातनय इस रस-सूत्र को स्वीकार करने के साथ-साथ इन विभावादि में सात्त्विक भावों को भी सम्मिलित कर लेते हैं।[४] इसी का अनुसरण शिंगभूपाल एवं श्रीकृष्ण-कवि भी करते हैं।[५] स्थायीभाव को रस-प्रकर्ष तक पहुँचाने में विभावादि का योगदान इसीलिये रहता है कि उन विभावादि का भी रस से सम्बन्ध है। शारदातनय के शब्दों में विभावादि एवं रस में परस्पर 'उपकार्योपकारि-सम्बन्ध' विद्यमान रहता है।[६] अतः रस-सिद्धि में इन विभावादि का अत्यन्त महत्व है, किन्तु परम-प्रकर्ष की अवस्था केवल स्थायीभाव ही प्राप्त करता है। इसीलिए स्थायीभावों के रस के उपादान-कारणत्व का प्रतिपादन भी शारदातनय स्पष्ट रूप से करते हैं।[७] किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र स्थायीभाव का गौणता तथा प्रधानता का सम्बन्ध प्रतिपादित करते हुए जब उसे कभी अनुभाव एवं कभी व्यभिचारी भाव के रूप में परिणत मान लेते हैं,[८] तब वह (स्थायीभाव) 'रसत्व' को प्राप्त नहीं हो सकता। अतः स्थायीभाव स्वसत्ता के द्वारा ही रसोपादान के हेतु बन कर 'रसत्व' को प्राप्त होते हैं।

'व्यंजन-औषधि-संयोग से आस्वाद्यमान अन्न की ही भाँति विभावादि के संयोग से स्वादुत्व को आनीयमान स्थायीभाव रस कहलाता है'—भरत एवं भरतवृद्ध

---

१. इति वासुकिनाऽप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः।
तस्माद्रसास्तु भावेभ्यो निष्पद्यन्ते यथार्हतः॥
— भा० प्र० पृ० ३७ पं० १–२.

२. भा० प्र० पृ० २५ पं० १७–१८, पृ० २६ पं० २०–२२.

३. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।
— ना० शा० चौ० अध्याय ६, पृ० ७१.

४. द० रू० ४।१ ; भा० प्र० पृ० ३६ पं० ९–१०.

५. र० सु० १।५८–५९ ; मन्दा० चम्पू पृ० १००.

६. रसभेदवशादेवमुपकार्योपकारिता।
चरस्थिरविभागत्वमानुषंगिकमीरितम्॥ — भा० प्र० पृ० २७ पं० ३-४.

७. कथ्यते स्थायिभावानां रसोपादानहेतुता॥ — भा० प्र० पृ० ३४ पं० १०.

८. हि० ना० द० पृ० ३३०.

के इस मत से शारदातनय पूर्ण सहमत जान पड़ते हैं, इसीलिए वे भावों के द्वारा रसों का भावन अभिनय के सहित प्रतिपादित करते हैं।[1] भावों से रस की अभि-निवृत्ति के विवेचन-प्रसंग में शारदातनय सांख्य-दर्शन से भी प्रभावित हुए हैं, क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थ में भावों से रस की निष्पत्ति के कथन के अवसर पर घटपटादि का विस्तृत निर्वचन किया है। जिस प्रकार दण्ड चक्र आदि से अन्वित होकर मिट्टी घट-रूप में परिणत हो जाती है तथा जिस प्रकार वेमा आदि से अन्वित होकर तन्तु पट के रूप में परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार विभाव आदि से अन्वित होकर स्थायीभाव रस-रूप में परिणत हो जाते हैं।[2] इसके आगे ही भाव की अनिवार्यता एवं सर्वाधिक प्रमुखता को स्पष्ट करते हुए शारदातनय कहते हैं कि जिस प्रकार कारण (मिट्टी, तन्तु आदि) के अभाव में कार्य (घट, पट आदि) उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार भाव रूप कारण का अभाव होने पर रस रूप कार्य का उदय सम्भव नहीं हो सकता।[3] अतः भाव एवं रस का सम्बन्ध शाश्वत है।

शारदातनय का भाव-विषयक दृष्टिकोण

भाव के बिना रस की कल्पना उसी प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार बिना आधार-शिला के भवन निर्माण की परिकल्पना हास्यास्पद एवं निरर्थक होती है। अतएव शारदातनय ने नाट्य एवं काव्य का सर्वप्रमुख तत्व 'भाव' को ही माना है, जो कि सर्वथा युक्तिसंगत है। 'भाव' शब्द का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें विभाव, अनुभाव, स्थायी, व्यभिचारी एवं सात्विक भावों का भी समावेश है। शारदातनय ने समस्त भावों के स्वरूप, लक्षण एवं विभाग आदि का विस्तृत निरूपण किया है; साथ ही भरत आदि के मतानुसार भी भावों का उल्लेख किया है।[4] अतः शारदातनय का भाव-विषयक दृष्टिकोण ज्ञात करने के लिये विभाव आदि के विषय में अन्य विभिन्न आचार्यों के मतों की समीक्षा करना भी अपेक्षित है। विभिन्न विचारधाराओं की समीक्षात्मक पृष्ठभूमि में शारदातनय का भाव-विषयक दृष्टिकोण मूर्त्तिमान् एवं स्पष्टतर हो उठेगा।

शारदातनय ने श्रृंगार आदि आठ रसों के आधार पर ललित आदि आठ विभावों की जो परिकल्पना की है, वह भरत ने नहीं की है; अतः इस मौलिकता

---

१. ना० शा० चौ० ६।३५, ३७; भा० प्र० पृ० ३६ पं० ९–२२.

२. भा० प्र० पृ० ५८ पं० १७–२१; पृ० ५९ पं० १–८.

३. यथा कारणवैकल्यात्कार्यं नोत्पद्यते दृढम्।
तथा कारणभावादिवैकल्यान्न रसोदयः॥
— भा० प्र० पृ० ५९ पं० ३–४.

४. भा० प्र० पृ० ३ पं० २२ से पृ० २५ पं० ४ तक, पृ० ३७ पं० १७–२२, पृ० ३८ पं० १–२०.

का श्रेय शारदातनय को ही है। पण्डितराज चित्तवृत्ति के विषय को आलम्बन कहते हैं,[1] जबकि शारदातनय तो आलम्बन को वास्तविक रसभूमि ही कह चुके हैं।[2] भरत एवं हेमचन्द्र विभाव को विज्ञान अर्थ में भी रखकर देखते हैं,[3] जबकि शारदातनय को 'वि' पद का 'विशेष' रूप अर्थ अधिक प्रिय जान पड़ता है। भरत ने भावहाव आदि की सत्वभेदों में गणना की है।[4] शारदातनय ने इन्हें सात्त्विक अलंकार तो कहा है, किन्तु फिर भी उनको मानसारम्भानुभाव के अन्तर्गत रखा है।[5] भोज भी हावहेला आदि को अनुभावों में ही रखते हैं।[6] वैसे इन्हें आलम्बन (नायकादि) की चेष्टाएँ भी कहा जा सकता है, जो स्थायीभाव को उद्दीप्त करने के कारण उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत आती हैं।

आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में अनुभाव हृदय में उद्बुद्ध स्थायीभावों को बाहर प्रकाशित करते हैं।[7] अनुभाव के विषय में जो कुछ शारदातनय कह चुके हैं, विश्वनाथ ने उससे अधिक नवीन कुछ भी नहीं कहा है। हेमचन्द्र के कथन का आशय भी शारदातनय से भिन्न नहीं है।[8] व्युत्पत्तिपरक अर्थ ग्रहण करके शारदातनय अनुभाव को 'कार्य' स्वीकार करते हैं, उससे पण्डितराज भी सहमत जान पड़ते हैं।[9] इस व्युत्पत्तिपरक अर्थ को तर्कसंगत न मानते हुए यह शंका करना, कि अभिनय के समय भाव एवं अनुभाव आगे-पीछे न होकर साथ-साथ ही व्यक्त होने के कारण इन

---

१. यस्याः चित्तवृत्तेः यो विषयः स तस्या आलम्बनम्। — र० गं० पृ० ३३.

२. अत्रेवालम्बना भावाः कथ्यन्ते रसभूमयः। — भा० प्र० पृ० ५ पं० १५.

३. (क) विभावो विज्ञानार्थः। — ना० शा० चौ० अध्याय ७, पृ० ८०.

(ख) वागाद्यभिनयसहिताः स्थायिव्यभिचारिलक्षणाः चित्तवृत्तयो विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते येः ते विभावाः। — का० अनु० पृ० ८८.

४. भावोहावश्च हेला च परस्परसमुत्थिताः।
सत्वभेदा भवन्त्येते शरीरप्रकृतिस्थिताः॥ — ना० शा० चौ० २४।६.

५. भा० प्र० पृ० ८ पं० ५–२२.

६. स० कण्ठा० ५।४१–४३.

७. सा० द० ३।१३२–३३.

८. स्थायि व्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकजनो नुभवनमनुभाव्यते साक्षात्कार्यते येस्तेरनुभावे- कटाक्षभुजक्षेपादिभिः।
— का० अनु० पृ० ८८.

९. स्थायिभावानां यादि कार्यतया प्रसिद्धानि तानि अनुभावशब्देन व्यवदिश्यन्ते। अनु पश्चाद् भावः उत्पत्तिः येषाम्, अनुभावयन्ति इति वा व्युत्पत्ते :॥
— र० गं० पृ० ३३.

दोनों में कारण-कार्य की स्थिति वास्तविक रूप से नहीं होती, केवल जान पड़ती है, उचित नहीं है। क्योंकि भाव एवं अनुभाव साथ-साथ व्यक्त हो ही नहीं सकते। भाव अर्थात् स्थायीभाव तो वासना-रूप में हृदय में सदैव विद्यमान रहते हैं, जबकि अनुभाव सदा से विद्यमान नहीं रहते। वे तो शारीरिक चेष्टाएँ हैं जिनके द्वारा अमुक भाव जाग्रत होकर व्यक्त हो उठता है और हम उसका साक्षात्कार करने लगते हैं। इस प्रकार यहाँ स्पष्ट रूप से एक वस्तु (भाव) 'कारण' तथा दूसरी वस्तु (अनुभाव) 'कार्य' है। यदि दोनों 'कार्य' हो जाएँगी तो प्रश्न उठता है कि उन दोनों का 'कारण' क्या है? यदि दोनों को 'कारण' मान लिया जाए तो फिर उनका 'कार्य' क्या है? ये शंकाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अतः निर्विवाद कथन करने के लिए आवश्यक है कि भाव तथा अनुभाव को 'कारण-कार्य की स्थिति में रखकर ही जाना जाए। इन दोनों में पूर्व-पश्चात् सम्बन्ध मानना ही युक्तियुक्त है।

धनंजय ने भावससूचनात्मक विकार को अनुभाव कहा है।[1] यह कथन लोक-व्यवहार में तो संगतिपूर्ण है, किन्तु नाट्य-जगत् में यह भावसूचक अनुभाव 'कारण' हो जाएगा, 'कार्य' नहीं रहेगा। जबकि शारदातनय को तो अनुभाव का 'कार्य' होना ही अभीष्ट है। भरत ने विभाव एवं अनुभाव की कोई शास्त्रीय शिक्षा न देकर उनका सम्बन्ध व्यवहारिक जीवन के साथ स्थापित कर, केवल इतना ही कहा है कि उन्हें लोक-जीवन के अनुरूप ही प्रकट होना चाहिए।[2] सम्भवतः इसी विचार-धारा से प्रेरित होकर शारदातनय भी विभावानुभाव की सिद्ध व्यवहार से ही मानते हैं,[3] साथ ही उन्होंने इन दोनों का विस्तृत रूप से अवान्तर भेदों सहित शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है।[4]

रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' में जो 'मौग्ध्य' एवं 'चकित'—इन दो अनुभावों का उल्लेख किया है, उनकी परिकल्पना करने की आवश्यकता शारदातनय को अनुभव नहीं हुई होगी क्योंकि 'मौग्ध्य' का अन्तर्भाव 'माधुर्य' में तथा 'चकित' का अन्तर्भाव 'विभ्रम' में किया जा सकता है। कल्पित एवं अभीष्ट वस्तु के अचानक दर्शन हो जाने पर जहाँ विभ्रम हो सकता है,[5] वहाँ आश्चर्य भी हो सकता

---

१. अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः।

२. लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुयायिनः।
अनुभावविभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनयेर्बुधैः॥ — ना० शा० चौ० ७।६.

३. हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः॥ — भा० प्र० पृ० १३ पं० १२.

४. एवं विभावानुभावभावाः प्रोक्ताः स्वरूपतः। — भा० प्र० पृ० १३ पं० १६.

५. वागंगत्वाभिनयभूषास्थानविपर्ययः॥
त्वरया कल्पितोऽभीष्टदर्शने यः स विभ्रमः। — भा० प्र० पृ० ६ पं० १०-११.

है। रूपगोस्वामी ने जिन्हें वाचिक अनुभाव कहा है, वे वागारम्भानुभाव के अन्तर्गत आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने जिन अनुभावों की गणना उद्भास्वरानुभावों में की है,[1] उनका विलास एवं मोट्टायित नामक लक्षणों में अन्तर्भाव किया जा सकता है।

शारदातनय-कृत अनुभाव के भेद-प्रभेद स्वतः ही पर्याप्त स्पष्ट एवं सुललित हैं, अतः उनमें अधिक वृद्धि करना उचित न समझकर ही शारदातनय ने अन्य किन्ही भेदों की परिकल्पना नहीं की होगी। विद्यानाथ-कृत कुतूहल, हास, चकित तथा विश्वनाथ-कृत मद, मौग्ध्य, तपन, केलि, विक्षेप आदि भेद अधिक महत्वपूर्ण नहीं कहे जा सकते ; उन्हें तो शारदातनय के मनआरम्भानुभाव आदि चार भेदों तथा उनके अवान्तर भेदों में अन्तर्भूत किया जा सकता है।

स्थायीभाव को 'रसत्व' में परिणत करने की प्रक्रिया में यद्यपि शारदातनय भरत-रस-सूत्र से सहमत हैं, तथापि धनंजय एवं भोज की भाँति उन्होंने विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारियों के साथ-साथ सात्त्विकों को भी सम्मिलित करने में प्रमाद नहीं किया है ;[2] जबकि भरत ने रस-सूत्र में सात्त्विकों का कथन नहीं किया है।[3] अभिनवगुप्त ने भी रस-प्रक्रिया में सात्त्विकों के कथन की उपेक्षा की है।[4] शारदातनय को ही आठ स्थायीभाव स्वीकार हैं और इस विषय में वे भरत, दण्डी, धनंजय, भोज एवं कालिदास आदि से सहमत हैं।[5] उद्भट, अभिनवगुप्त, नाट्यदर्पण-कार एवं विश्वनाथ आदि द्वारा मान्य नौ स्थायीभावों को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं।[6] इस विषय में ब्रह्मा (पद्मभू) का मत उन्हें अभीष्ट है ;[7] वे अग्निपुराण की (नवरस) विचारधारा से सहमत होना नहीं चाहते। पद्मभू ने नवें रस 'शान्त' की अवस्थिति नाट्य में असम्भव मानी है, अतः उसके स्थायीभाव का भी स्वतः ही

१. उ० नील० पृ० ३२०, श्लोक ७०.
२. द० रू० ४।१ ; स० कण्ठा० ५।२६ ; भा० प्र० पृ० ३६ पं० ६–१०.
३. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

— ना० शा० चौ० अध्याय ६, पृ० ७१.

४. विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावाः चित्तवृत्ते स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तो कारणम्। तेन स्थाय्येव विभावानु-भावादिभिरुपचितो रसः। — अभि० भा० भाग १, पृ० २७२.
५. ना० शा० चौ० ६।१७ ; काव्यादर्श १।२९२ ; द० रू० ४।३५–३६ ; स० कण्ठा० ५।१४ ; विक्रमो० २।१८ ; भा० प्र० पृ० २६ पं० ६.
६. का० सा० सं० अध्याय ४ ; अभि० भा० पृ० २६६ ; ना० द० ३।१२६ ; सा० द० ३।२५०.
७. भा० प्र० पृ० ४७ पं० ८-१०.

निषेध हो जाता है। अन्य अनेक विषयों में अग्निपुराण का अनुकरण करते हुए भी स्थायी भावों के भेदों की संख्या के विषय में शारदातनय उससे सहमत नहीं जान पड़ते। अग्निपुराणकार एवं भोज की दार्शनिक पृष्ठभूमि से प्रभावित होकर वे रस को अहंकार का विवर्त्त स्वीकार करते हैं;[1] किन्तु उनके विचार से अहंकार की परिणति निर्विकारिता के कारण शान्त में नहीं हो सकती, अतः शान्त को छोड़कर पूर्वोक्त आठ ही रसों की उद्भावना सम्भव है; और जब रस आठ हैं, तो उनके स्थायीभाव भी आठ ही नियत हैं।[2] नवें स्थायीभाव 'शम' की नाट्य में स्थिति उन्हें सर्वथा अरुचिकर है।[3]

कतिपय प्राचीन आचार्यों ने संचारी का स्थायीभाव के रूप में परिवर्त्तन माना है, यथा भोज ने 'ग्लानि' आदि को परम प्रकर्ष (रसात्मकता) तक पहुँचाया है।[4] उन्होंने गर्व, शम, स्नेह, मति इत्यादि संचारी भावों को स्थायीभाव भी मान कर उनसे उद्धत, शान्त, प्रेयस् एवं उदात्त इत्यादि रसों की सिद्धि प्रतिपादित की है।[5] भट्टलोल्लट ने समस्त व्यभिचारी भावों को एक दूसरे का व्यभिचारी होने में समर्थ बताया है।[6] रुद्रभट्ट एवं रुद्रट भी समस्त व्यभिचारी भावों को रसस्थिति तक पहुँचने में समर्थ कहते हैं।[7] इस प्रकार उपर्युक्त आचार्य सभी भावों को कभी

---

१. अ० पु० अध्याय ३३६ ; स० कण्ठा० ५।१.

२. यतोऽष्टधा मनोवृत्तिः सभ्यानां नाट्यकर्मणि।
अष्टावेवानुभूयन्ते तासूडा (क्ता) स्ते रसाः प्रथक्॥
— भा० प्र० पृ० ४६ पं० २१–२२.

३. विलीनसर्वव्यापारः शमः स्थायी भवेद्यतः॥
अतोऽनुभावराहित्यान्न नाट्ये भिनयो भवेत्॥
— भा० प्र० पृ० २६ पं० ६–७.

४. ग्लान्यादयोऽपि हि श्रमादिभिः परं प्रकर्षम् आरोप्यन्ते।
— शृं० प्र० पृ० ४५०.

५. रतो संचारिणः सर्वान् गर्वस्नेहो घृति मतिम्।
स्थास्नूनेवोद्धतप्रेयः शान्तोदात्तेषु जानते॥ —स० कण्ठा० ५।२३.

६. अन्ये तु ......इति व्यभिचारिणामपि च व्यभिचारिणो भवन्ति।
यथा निर्वेदस्य, चिन्ता, श्रमस्य निर्वेद इत्यादि निरूपयन्ति।
— अभि० भा० भाग १ पृ० ३४५.

७. (क) त्रयस्त्रिंशदिमे भावा प्रयान्ति च रसस्थितिम्।
— शृं० ति० १।१४.

(ख) निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममऽतीति तेऽपि रसाः।
— का० अलं० १२।४.

भी व्यभिचारी अथवा स्थायी मान लेने के लिए तत्पर जान पड़ते हैं। अभिनवगुप्त यद्यपि व्यभिचारी भावों को स्थायी नहीं मानते, तथापि सभी भावों को परस्पर परिवर्तनीय तो कह ही देते हैं।[1]

कोई भी संचारी रसत्व की स्थिति को तभी प्राप्त कर सकता है, जब वह संचारी न रहकर स्थायी भाव हो जाय ; क्योंकि संचारी भाव तो अनवस्थित एवं अचिर स्थायी होते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक प्रकार के संचारी को स्थायी स्वीकार करना पड़ेगा, तब संचारी एवं स्थायी में भेद कहाँ रह जाएगा ? सम्भवतः इसीलिए शारदातनय उक्त आचार्यों की विचारधारा से सहमत नहीं जान पड़ते। वे व्यभिचारी भावों में अन्य भावों का अन्तर्भाव तो स्वीकार कर लेते हैं,[2] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे व्यभिचारी को स्थायी मान लें। क्योंकि स्थायी भाव तो वही होता है, जहाँ क्रियात्मकता होती है। यथा—मद, स्नेह, निद्रा, सुप्ति आदि संचारी भावों को स्थायी कभी-भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन अवस्थाओं में क्रियात्मकता नहीं, अपितु विश्रान्ति है। ऐसी दशा में यह कथन कैसे सम्भव है कि सभी संचारी स्थायी भाव हो सकते हैं ? एक अन्य उदाहरण भी लिया जा सकता है, यथा—भोज ने 'ग्लानि को स्थायी भी मान लिया है ; किन्तु यदि किसी को 'ग्लानि' है तो तुरन्त यह प्रश्न उठता है कि 'क्यों है ?' अर्थात् यहाँ किसी कारण की अनिवार्यता को देखा जाता है, तब वह कारण प्रधान हो जाता है तथा 'ग्लानि' उसकी सहायक बन कर उपस्थित होती है। जो सहायक बन गया, वह तो संचारी ही है, स्थायी नहीं। इसी कारण शारदातनय संचारी भावों को स्थायी मानने के पक्ष में नहीं हैं।

शारदातनय ने 'सत्वजाः' कह कर सात्त्विकों की उत्पत्ति सत्व से मानते हुए भरतादि की परम्परा को ही समादृत किया है, जिसका अनुमोदन विश्वनाथ एवं शिंगभूपाल इत्यादि परवर्ती आचार्यों ने भी किया है।[3] शारदातनय ने अनुभावों से विशिष्टता दिखाने के लिए सात्त्विक भावों का निरूपण स्वतन्त्र रूपेण किया है। अनुभाव सत्वसम्भूत नहीं होते, जबकि सात्त्विक भाव सत्वसम्भूत होने के कारण

---

१. भावानां सर्वेषामेव स्थायित्व संचारित्व चित्ततत्ताजत्व अनुभाव त्वानि योग्यतोपनिपतितानि शब्दार्थबलाकृष्टानि अनुजानाति।

— अभि० भा० भाग १, पृ० ३३४.

२. अन्येऽपियदि भावाः स्युश्चित्तवृत्तिविशेषतः ॥
अन्तर्भावस्तु सर्वेषां द्रष्टयो व्यभिचारिषु।

— भा० प्र० पृ० २५ पं० ६–७.

३. भा० प्र० पृ० ४ पं० १०, ना० शा० चौ० अध्याय ७ पृ० ६५, द० रू० ४।५, सा० द० ३। १३४, र० सु० १।२९९–३००.

शरीर में अनायास ही उत्पन्न हो जाते हैं। अतः दोनों को पृथक्-पृथक् मानकर चलना ही युक्तिसंगत है। उधर भोज उंचास भावों को मन से सम्भूत कह कर 'सात्त्विक' मानते हैं, साथ ही सात्त्विक भावों को 'बाह्य-व्यभिचारी' के नाम से भी अभिहित करते हैं।[1] यहाँ वे अभिनवगुप्त से प्रभावित जान पड़ते हैं।[2] किन्तु शारदातनय को यह अभीष्ट नहीं है कि सात्त्विक भावों को बाह्य कहा जाय। वे तो आन्तरिक हैं, बाह्य अनुभाव इन्हें व्यक्त अवश्य करते हैं। इस बात को यों भी समझा जा सकता है कि रजपरिणामि सत्व 'प्राण' कहलाता है।[3] जब भाव 'प्राण' के आन्तरिक प्रदेश तक पहुँच जाते हैं, तभी तो वे सात्त्विक कहलाते हैं। हेमचन्द्र ने भी सत्व का अर्थ प्राण बताया है, साथ ही स्थायी भावों को उस तक पहुँचा कर उन्हें सात्त्विक भाव कहा है। पृथ्वी, जल आदि के आधार पर सात्त्विकों का वर्गीकरण करते हुए हेमचन्द्र ने कहा है कि प्राण में पृथ्वी का भाग प्रमुख हो जाने पर स्तम्भ, जल प्रमुख हो जाने पर अश्रु, तेज के प्रमुख होने पर स्वेद, तेज के (तीव्रता से शून्य होकर) प्रमुख होने पर वैवर्ण्य, आकाश का भाग प्रमुख होने पर प्रलय, वायु के मन्द, मध्य एवं तीव्र वेग से क्रमशः रोमांच, कम्प एवं स्वर भंग होता है।[4] शारदातनय भी प्राण (सत्व) मय कर्त्ता को पृथ्वी आदि देवताओं से अधिष्ठित मानते हैं;[5] ऐसी स्थिति में पृथ्वी आदि का सात्त्विक भावों पर प्रभाव पड़ना तो स्वाभाविक है।

विश्वनाथ की मान्यता है कि रस के प्रकाशक होने के कारण सात्त्विक भाव 'अनुभाव' ही है।[6] रामचन्द्र-गुणचन्द्र भी इन्हें स्पष्ट रूप से अनुभाव कह चुके हैं।[7] भानुदत्त ने भी इन्हें अनुभाव ही माना है, किन्तु उन्होंने परदुःखसुखादि के अनुभव की अनुकूलता के आधार पर निर्वेदादि व्यभिचारियों को भी समान लक्षण-

---

१. शृं० प्र० भाग २, पृ० ३५४-५५.

२. बाह्याश्च बाश्पप्रभृतयः। — अभि० भा० भाग १ पृ० ३४३.

३. यद्रजःपरिणामि स्याद्द्रव्यं स प्राण उच्यते।
— भा० प्र० पृ० ७ पं० ३.

४. भा० प्र० पृ० १४४-४६.

५. करणानि च जीवं च पृथिव्याद्याश्च देवताः।
नियच्छन्न्यधिष्ठाय कर्ता प्राणमयो भवेत्॥
— भा० प्र० पृ० ७ पं० १६-२०.

६. सा० द० ३।१२४-३५.

७. अनुभावयन्ति परस्थानमवबोधयन्तीत्यनुभावाः स्तम्भस्वेदाश्रुरोमांचभ्रूक्षेपादयस्तेर्यथासम्भवं सत्तया निश्चेयः।......................

अथवा तत्रानुलिंगनिश्चयात् पश्चाद्भावयन्ति गमयन्ति लिंगिनं रसमित्यनुभावाः स्तम्भादयः। — ना० द० ३।१०६.

युक्त कहा है ; इसीलिए सात्त्विकों को भाव न मान कर 'जीव शरीर का धर्म' स्वीकार करते हुए उन्हें 'बाह्य' माना है।[1] शारदातनय सात्त्विकों को न तो अनुभाव के नाम से अभिहित करते हैं, न ही उन्हें व्यभिचारियों की श्रेणी में रखते हैं। हां वे उन्हें जीव (कर्त्ता) शरीर का धर्म अवश्य कहते हैं ; किन्तु उनके मत में वे आन्तरिक हैं, बाह्य नहीं।[2]

इस प्रकार विभाव, अनुभाव स्थायी, व्यभिचारी एवं सात्त्विक इत्यादि भावों के विषय में शारदातनय की मान्यता सबल एवं महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपने भाव-विवेचन में अपने कथन की पुष्टि-हेतु आवश्यकतानुसार अग्निपुराण, वासुकि, पद्मभू, नारद, भरत आदि के मत का उल्लेख प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया है। एक विशेष उल्लेखनीय तथ्य यह है कि जहाँ भरत ने संवेदन-भूमि के आधार पर भाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है, वहाँ शारदातनय ने सांख्यनिष्ठ पृष्ठ-भूमि के आधार पर दार्शनिक विवेचन का प्रस्तुतीकरण अधिक रुचिकर समझा, ऐसा प्रतीत होता है। यदि वे केवल मनोवैज्ञानिकता में ही उलझे रहते, तो पिष्ट-पेषण ही होता, और सांख्योपचित दिग्दर्शन भी उपेक्षित रह जाता, जिसमें शारदा-तनय की विशेष रुचि है। वैसे उन्हें सुख-दुःख की संवेदनशीलता के दर्पण में भाव की प्रतिच्छवि के दर्शन भी अरुचिकर नहीं रहे होंगे,[3] इसीलिए तो वे शैव-दर्शन एवं सांख्य-दर्शन के साथ-साथ स्थान-स्थान पर भरत के मत को भी स्मरण करते चलते हैं।[4] इस प्रकार भाव एवं उसके विभाग इत्यादि के विवेचन का आधार भरत-सम्मत होते हुए भी अधिकांश रूप में मौलिक एवं अनूठा दृष्टिगोचर होता है।

---

१. र० त० पृ० ५७–५८.

२. जीवः शरीराधिष्ठाता तन्नियच्छन् स्वकर्मभिः।
कर्त्ता भवति सर्वस्य शरीरेण सह स्वयम्॥
....
अयं नान्तर्गतस्तस्य कर्तुर्जीवस्य न क्वचित्।
मनोमयस्तु जीवानां कर्मकारयिता भवेत्॥
— भा० प्र० पृ० ७ पं० १७–१८, २१–२२.

३. सुखदुःखात्मिका बुद्धवृत्तिर्गोचर उच्यते॥
एवं परम्पराप्राप्तेभर्विविषयतां गतः।
बुद्धयादिकरणेर्भोगाननुभुंके रसात्मना॥ — भा० प्र० पृ० ५२-५३ पं० २२, १-२.

४. शिवागमज्ञ रर्थोऽयमेवमुक्तः पुरातनेः।
कलोत्कलितचेतन्यो विद्यादर्शितगोचरः॥
रागेणरञ्जतश्चायं बुद्धयादिकरणेर्युतः।
मायाद्यवनिपर्यन्तं तत्वभूतात्मनि स्थितम्। — भा० प्र० पृ० ५३ पं० ३–६.

अध्याय ५

रस-विषयक मान्यता

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

संस्कृत वाङ्मय में 'रस' शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। शब्दकल्प-द्रुम के अनुसार रस शब्द मधुरादि छः भोज्य रस, शरीरस्थ धातु-विशेष, शृंगारादि काव्यरस, ब्रह्मानन्द- रूप रस, विष, राग, द्रव, वीर्य, अम्बु तथा पारद आदि अर्थों का वाचक है।[1] अमरकोश में भी रस का प्रयोग रूप, गन्ध, घृत, षड्रस तथा शृंगारादि नवरसों के लिये हुआ है।[2] व्युत्पत्ति के अनुसार 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' इस अर्थ में रस शब्द प्रयुक्त होता है, जिसका तात्पर्य है आस्वाद्य। इसके अतिरिक्ति ऋग्वेद में 'रस' का प्रयोग कहीं सोमरस, कहीं दुग्ध अथाव कहीं उदक के अर्थ को प्रकट करने के लिये हुआ है।[3] अथर्ववेद में रस शब्द सोमरस एवं दुग्ध के स्थान पर शक्ति एवं आह्लाद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कालान्तर में जीवन के इस आह्लाद का स्थान आतमा के आह्लाद ने ग्रहण कर लिया।[4] शतपथ ब्राह्मण

१. श० कल्प० चतुर्थ काण्ड, पृ० ९९–१०३.

२. रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी।

....

तिक्तोऽम्लश्च रसाः पुंसि तद्वत्सुषडमी त्रिषु।
शृंगारादो विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः॥

— अ० को० पं० २९१, २९५–२९६.

३. जन्मे रसस्य वावृधे।
स्वादू रसो मधुपेयो वराय।
यो वः शिवतमो रसः तस्य भाजयतेह नः।

— ऋ० वे० १।३७।५, ६।४४।२१, १०।९।२.

४. अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्च नः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरातमानं धीरमजरं युवानम्॥

— अथर्व० १०।५।४४.

में 'रस' शब्द का वर्णन करते हुए उसे 'रसो वै मधु' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'मधु' का तात्पर्य है—माधुर्य अथवा मधुरता से युक्त पदार्थ। यही माधुर्य उस आनन्द का भी द्योतक है, जिसे 'ब्रह्मानन्द सहोदर' के नाम से अभिहित किया जाता है। उपनिषद् काल में भी रस को ब्रह्मानन्द-रूप में स्वीकार किया गया है। रस के इस स्वरूप की कल्पना का मूल वस्तुतः तैत्तिरीयोपनिषद् के अन्तर्गत स्थित जान पड़ता है। इसमें परब्रह्म-परमात्मा को ही रस-रूप माना गया है। यही सत्, चित्, आनन्द है; क्योंकि आवागमन के चक्र में उलझा हुआ जीवात्मा इस ब्रह्म से ही साक्षात्कार करके ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जहाँ प्रारम्भ में 'रस' शब्द भौतिक आस्वाद का बोधक था, कालान्तर में वही अलौकिकता का द्योतक हो गया। किन्तु अलौकिक एवं सूक्ष्म होने पर भी रस की आस्वाद्यता मानसिक रूप से बनी रही। साहित्य के विकास के साथ-साथ रस के अर्थ में भी परिवर्तन होते चले गये हैं।

वैदिककाल के पश्चात् रामायण-महाभारतकाल में रस के अर्थ में यद्यपि विशेष परिवर्तन अथवा विकास परिलक्षित नहीं होता; तथापि महाभारत में स्नेह तथा काम—इन दोनों नवीन अर्थों की परिकल्पना की गई है। बाल्मीकि-रामायण में नवरसों का उल्लेख मिलता है।[2] परवर्ती आलोचकों ने बालमीकि को रस-सिद्धान्त का प्रथम व्याख्याकार तथा संस्कृत में श्लोक का प्रवर्त्तक माना है। क्रौञ्च-घटना के समय उनके मुख से निस्सृत 'मा निषाद'[1] इत्यादि श्लोक रस-विचार के प्राचीन मूल (अंकुर) को प्रकट करता है। बालमीकि ने क्रौञ्च पक्षी के दुःख की भावनाओं को स्वयं अपने हृदय में अनुभव किया जो कि उनके द्वारा रचित काव्य के एक अंश का आवेग पूर्ण कारण था। स्वयं उनके शब्दों द्वारा यह प्रमाणित है।[3] उन्होंने स्वयं अनुभव किया कि उनकी काव्य-रचना के लिये दया (करुणा) की

१. रसो वै सः। रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

— तैत्तिरीयो० २।७।१.

२. पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्
जातिभिः सप्तभिर्बद्धम् तन्त्रीलयसन्वितम्॥
रसैः शृंगारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभिश्च संयुक्तं काव्यमेतद्गायताम्॥

— वा० रामा० बालकाण्ड ८–९. (चतुर्थ सर्ग)

१.अ. वा० रामा० बालकाण्ड २।१५.

३. शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवति नान्यथा।

— वही. वा० रामा० बालकाण्ड २।१८.

भावना उत्तरदायी थी। इस स्थिति में यह करुणा की भावना श्लोक के रूप में परिणत हो गई। अतः उस श्लोक की आतमा या सार अन्य कुछ नहीं, अपितु वह पश्चात्ताप, जो अनुभव करने पर प्रत्येक हृदय में वही भावना जागृत करता है। करुण रस का स्थायीभाव यह पश्चात्ताप अर्थात् शोक उस रस की भावना का उद्रेक करता है। अतः वाल्मीकि के अनुसार जब कवि के भाव एवं अनुभूति किसी तीव्र संवेग के द्वारा पराजित हो जाते हैं, तो वह उत्तम श्रेणी के काव्य की रचना करते हैं। यह काव्य जब पूर्णरूपेण हृदयंगम किया जाता है, तो एक आलोचक के मन-मस्तिष्क में वही समान संवेग जागृत करता है। इसी आधार पर ध्वनि-सम्प्रदाय के व्याख्याकार आनन्दवर्धन वाल्मीकि को रस-सिद्धान्त का जन्मदाता मानते हैं।[1]

सूत्रकाल में दार्शनिक ग्रन्थों की सूत्रबद्ध रचना हुई। बौद्ध एवं जैन दर्शन का सूत्रपात हुआ। दर्शन ग्रन्थों में तन्मात्रा के रूप में रस का प्रयोग हुआ। अष्टाध्यायी एवं कामसूत्र का प्रणयन भी इसी समय में हुआ। कामसूत्र में रस को रति एवं काम का बोधक माना गया।[2] अर्थशास्त्र में रस शब्द 'द्रव्य' के लिये प्रयुक्त हुआ।

पुराण-साहित्य में रस-विवेचन के सन्दर्भ में अग्निपुराण का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जहाँ रस दार्शनिक पृष्ठभूमि में पल्लवित हुआ है। अग्निपुराण में ब्रह्मानन्द की ज्ञानयुक्त चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति को 'रस' कहा गया है।[3] यह रस ही काव्य का जीवित तत्त्व है। ब्रह्म का आदि विकार अहंकार है। अहंकार से ही अभिमान उद्भूत होता है। अभिमान 'रति' को उत्पन्न करता है। यह रति ही संचारी आदि से पोषित होकर 'श्रृंगार रस' कहलाती है।[4]

---

१. काव्यास्यातमा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्वियोगात्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ — ध्वनया० १।५.

२. रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायः।
— का० सू० २।१।६५.

३. आनन्दः सरसस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा पस्य चेतन्यचमत्काररसाह्वया ॥ — अ० पु० ३३९।२.

४. (क) वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।
— अ० पु० ३३७।३३.

(ख) आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम् ॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ।
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृंगार इति गीयते ॥
— अ० पु० ३३९।३–४.

रस का शास्त्रीय विवेचन भरत के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है, किन्तु राजशेखर ने नन्दिकेश्वर का रस के प्रथम आचार्य के रूप में उल्लेख किया है।[1] अब तक नन्दिकेश्वर के नाम से दो ग्रन्थ—अभिनय दर्पण एवं भरतार्णव प्रकाशित हुए हैं। किन्तु उसमें रस का कोई विवेचन उपलब्ध नहीं होता। हो सकता है कि उनका कोई रस-विषयक ग्रन्थ भी रहा हो, जो आज उपलब्ध नहीं है। केशव मिश्र 'सूत्रकार' भगवान् शुद्धोधनि' को रस का आद्याचार्य कहते हैं।[2] शारदातनय ने भरत से पूर्व प्रचलित रस के दो सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। एक सम्बन्ध पद्मभू से तथा दूसरे का वासुकि तथा नारद से स्थापित किया है।[3] वैसे इतना तो निश्चित हो जाता है कि अनेक रस-सम्बद्ध परम्पराएँ भरत से पूर्व विद्यमान थीं, जिनकी पुष्टि नाट्यशास्त्र में वर्णित आनुवंश्य आर्याओं एवं कारिकाओं के उद्धरणों द्वारा भी हो जाती है। इतना ही नहीं, एक स्थान पर तो भरत ने रस-शास्त्र के एक ग्रन्थ का भी नामोल्लेख स्पष्ट रूप से किया है।[4] हां, इतना अवश्य है कि भरत से पूर्व रस-विवेचन की परम्परा पूर्ण विकसित एवं शास्त्र-सम्मत नहीं थी। आचार्य-शिष्यों में प्रवाहित होती हुई इस विचारधारा को आकलित करके उसे व्यवस्थित एवं शास्त्रीय स्वरूप प्रदान करने का श्रेय भरत को ही है। भरत अग्नि-पुराण की भाँति दार्शनिक धरातल पर विचरण नहीं करते। भरत की रस-व्याख्या पर्याप्त अंशों तक नीति एवं मनोविज्ञान पर भी आधारित है, जिसमें सामाजिक तत्वों का आगमन स्वाभाविक रूप से हो गया जान पड़ता है। रस, भाव, गुण, अभिनय, रीति इत्यादि विभिन्न विषयों में से 'रस' को भरत ने सर्वप्रमुख रूप से प्रतिष्ठित किया है।[5] नाट्य के माध्यम से आस्वाद्य होने के कारण भरत रस को 'नाट्य-रस' कहते हैं।

भरत के द्वारा विकसित किया गया रस-सिद्धान्त साहित्यिक-आलोचना के स्तर पर, नाटकों के अतिरिक्त किसी अन्य रचनाशैली के सन्दर्भ में परवर्ती आलोचकों के द्वारा मान्य नहीं किया गया। इस उदासीनता का मुख्य कारण नाटक की

---

१. रूपक निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।
— का० मी० अध्याय १, पृ० ४.

२. अलं० शे० पृ० २.

३. तस्मान्नाट्यरसा अष्टाविति पद्मभुवो मतम् ॥
उत्पत्तिस्तु रसानां या पुरा वासुकिनोदिता ।
नारदस्योच्यते सेषा प्रकारान्तरकल्पिता ॥
— भा० प्र० पृ० ४७ पं० १०–१२.

४. अत्रार्ये रसविचार मुखे। — ना० शा० का० मा० पृ० ६७.

५. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। — ना० शा० चौ०, अध्याय ६ पृ० ७१.

ऐतिहासिकता एवं संगीत की ओर नाट्यशास्त्रियों की रुचि है–ऐसा जान पड़ता है। नाट्यशास्त्र के इन अनुगामियों में कोहल, मातृगुप्त, हर्ष इत्यादि का समावेश किया जा सकता है। किन्तु इनकी रचनाएँ अब पूर्ण रूप से विनष्ट हो चुकी हैं। इस विषय पर परवर्ती ग्रन्थों में उनके नामोल्लेख से ही उनके अस्तित्व का पता चलता है।

भरत के पश्चात् साहित्यिक आलोचना का सबसे प्राचीन लेखक भामह है, जिसका ग्रन्थ आज भी प्राप्य है। उसकी दृष्टि से काव्य के लिए केवल अलंकार ही आवश्यक तत्व नहीं, अपितु काव्य में रस की स्थिति भी उसे अभीष्ट है।[1] महाकाव्य के लिए तो उसने रस-स्थिति को अनिवार्य बताया है।[2] रस के सम्बन्ध में भामह के विचार स्वस्थ थे किन्तु उसने रस के विषय में विशेष विवेचन नहीं किया है।

भामह के पश्चात् दण्डी ने भी काव्य के लिए रस-स्थिति को स्वीकार किया है किन्तु उसने रस का सम्बन्ध माधुर्य गुण के साथ स्थापित किया है। यहाँ तक कि उसके अनुसार प्रत्येक अलंकार वस्तु में रस का संचार करता है।[3] इस प्रकार दण्डी भामह की अपेक्षा रस के सम्बन्ध में अधिक उदार दिखाई देता है। यद्यपि उसने भामह के समान रसवदलंकार को स्वीकार किया है, किन्तु उसने रसवद् का अर्थ 'रसपेशलम्' किया है जिसकी व्याख्या 'कुसुमप्रतिमा' टीका में इस प्रकार की गई है कि विभावादि से अभिव्यक्त चित्तवृत्ति विशेष रत्यादि रूप स्थायीभाव ही रस है और उससे सहृदयों को आह्लादित करने वाला रसवदलंकार होता है।[4]

तत्पश्चात् वामन ने रीति को 'काव्य की आत्मा' निर्धारित करते हुए भी रस की महत्ता का गुणगान काव्यात्मक रचनाओं में किया है। रस गुण की एक आवश्यक आकृति (लक्षण) का निर्माण करता है, जो कि 'कान्ति' कही जाती है।[5]

रस का सिद्धान्त उद्भट के काल में और अधिक शक्तिशाली हो गया था। उद्भट ने पूर्ववर्ती आचार्यों की रस-विषय मान्यता को स्वीकार कर रस का विस्तृत विवेचन किया है तथा नाट्य में आठ रसों के अतिरिक्त शान्त रस को भी विकसित होने योग्य बताया है।[6]

---

१. का० अलं० १।१६, ५।३.

२. का० अलं० १।२१.

३. काव्यादर्श १।५१, ६२.

४. काव्यादर्श (कुसुम प्रतिमा टीका) पृ० २११.

५. दीप्तरसत्वं कान्तिः। — का० अलं० सू० ३।२।२४.

६. नव नाट्ये रसाः स्मृताः। — का० सा० सं० ४।५.

रुद्रट अलंकारवादी आचार्य होते हुए भी रस को काव्य का अनिवार्य अंग कहते हैं। भरत-सम्मत आठ रसों में शान्त एवं प्रेयान् को सम्मिलित करके रुद्रट ने रसों की संख्या दस मानी है।[1]

व्याकरणाचार्यों के स्फोटवाद के निस्सृत ध्वनि-सम्प्रदाय के व्याख्याकार आनन्दवर्धन भी रस-सम्प्रदाय के पूर्ण समर्थक थे। उन्होंने रस को व्यंग्य कहा है।[2] आनन्दवर्धन का रस-ध्वनि सिद्धान्त भरत-सम्मत रस-सिद्धान्त से भिन्न है। उनके अनुसार उत्तम श्रेणी का काव्य रसों से युक्त एवं शब्दों से संकेतित होता है।

भरत-रस-सूत्र[3] के प्रथम व्याख्याता के रूप में भट्टलोल्लट आते हैं। इस रस-सूत्र में प्रयुक्त 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'उत्पत्ति' मानते हुए भट्टलोल्लट स्वयं को आरोपवादी सिद्ध करते हैं।[४] भट्टलोल्लट के इस सिद्धान्त को 'आरोपवाद' के स्थान पर 'भ्रमवाद' अथवा 'भ्रान्तिवाद' कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इस सिद्धान्त में उपमान एवं उपमेय का ज्ञान बराबर नहीं बना रहता अपितु इसमें दर्शक भ्रमवश नट को नट के रूप में ही न देखते हुए राम समझ लेता है।

भरत-सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार शंकुक इस संदर्भ में 'अनुमिति' को अवतरित करते हैं। जिस प्रकार धूम अथवा कोहरा को देखकर उस क्षेत्र में अविद्यमान अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार विभाव आदि के द्वारा नट में अविद्यमात रस का आस्वाद प्रेक्षक अनुमिति द्वारा कर लेता है।

इसके पश्चात् भरत-सूत्र के तृतीय व्याख्याकार भट्टनायक उत्पत्ति, अनुमिति एवं अभिव्यक्ति का खण्डन करते हुए 'मुक्तिवाद' की स्थापना करते हैं।

भट्टनायक सामाजिक में जहाँ रस की 'मुक्ति' मानते हैं, वहाँ अभिनवगुप्त रस की 'अभिव्यक्ति' स्वीकार करते हैं। अभिनवगुप्त व्यंजनावादी तथा साथ ही आनन्दवर्धन के समर्थक थे।

---

१. का० अलं० १२।१–३.

२. स च काव्य व्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति। स च ध्वनिरेवेति स एव मुख्यतया आत्मा। — ध्वन्या० पृ० १८.

३. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।
— ना० शा० चौ० अध्याय ६, पृ० ७१.

४. भट्टलोल्लटस्तावदेवं व्याचक्षे — विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनः ततो रसनिण्पत्तिः। " स्थारयेव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायो त्वनुपचितः। स चोभयोरपि—अनुकार्य, अनुकर्तर्यपि चानुसन्धानबलात्।
— अभि० भा० भाग १ पृ० २७४.

अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने काव्य एवं नाट्य–दोनों को ही रस-समुदाय रूप कहा है। इनके अनुसार आनन्दस्वरूप होने के कारण रस आतमरूप है।[1] इनके विचार से शंकुक का अनुमानवाद रस-प्रतीति की कसौटी पर खरा नहीं उतरता; क्योंकि जिन रामादि को पहले कभी देखा ही नहीं है, वे अनुमान का विषय कैसे बन सकते हैं?[2]

भोज ने रसोक्ति को ही उत्कृष्टतम् वाङ्मय कहा है।[3] इनके अनुसार मनोनुकूल दुःखादि भावों में भी आत्मगत सुखद अभिमान की प्रतीति ही रस है।[4] यह अभिमान अथवा अहंकार ही रस का दूसरा नाम है। अहंकार अथवा शृंगार से युक्त व्यक्ति ही सहृदय है, अन्यथा वह नीरस है, साथ ही सहृदय भी नहीं है।[5]

धनंजय एवं धनिक काव्य और रस के मध्य भाव्य-भावक-भाव सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। धनंजय ने शान्त रस स्वीकार नहीं किया है। इस अस्वीकृत का

---

१. नाट्यसमुदायरूपाद्रसाः।
यदि वा नाट्यमेव रसाः, रससमुदायो हि नाट्यम्।
नाट्य एव च रसाः, काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः।
....
प्रीत्यात्मा च रसस्तदेव नाट्यम्। नाट्ये एव च रसाः काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसाः।....तदाहुः काव्यकौतुके प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वाद-सम्भवः। इति। — अभि० भा० भाग १ पृ० २९०–९१.

२. तदिदमप्यन्तस्तत्वशून्यं विमर्दक्षममिति भट्टतौतः। तथा हि.......न हि वाष्पधूमत्वेन ज्ञानादग्न्यनुकारानुमानं तदनुकारत्वेन प्रतिभासमानादपि लिंगान्न तदनुकारानुमानं युक्तम्, धूमानुकारत्वेन हि ज्ञायमानान्नीहारान्नाग्न्यनुकार-जपापुंजप्रतीतिर्दृष्टा। ननु अक्रुद्धोऽपि नटः क्रुद्ध इव भाति। — अभि० भा० भाग १, पृ० २७६–७७.

३. स० कण्ठा० ५।८.

४. मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानः रस।
दुःखदातापि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति।
दयितनखदूयमानयोः विवर्धते स्तनयोः रोमांचः।
— शृं० प्र० पृ० ४६६.

५. (क) रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते। — स० कण्ठा० ५।१.
(ख) शृंगारो हि नाम – आत्मनोऽहंकारविशेषः सचेतसा रस्यमानो रस रस इत्युच्यते, यदस्तित्वे रसिको न्यथात्वे नीरस इति।
— शृं० प्र० पृ० ५१७.

कारण धनिक यह देते हैं कि 'शम' में समस्त व्यापारों के विलय हो जाने के कारण उसका नाट्य में अभिनय नहीं किया जा सकता है ।[1]

ध्वनि-निरूपक अग्रगण्य आचार्यों में मम्मट भी है। इन्होंने स्थायीभाव के साथ विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव का क्रमशः जन्य-जनक, गम्य-गमक तथा पोष्य-पोषक सम्बन्ध का निर्देश किया है ।[2] इन्होंने रस एवं ध्वनि-दोनों सिद्धान्तों का समायोजन अपने ग्रन्थ में किया है ।

कुन्तक 'वक्रोक्ति' को काव्य का जीवित मानते हुए भी रस और ध्वनि के विरोधी नहीं थे । उन्होंने प्रबन्ध को उत्तम काव्य कहा है, साथ ही वे प्रबन्ध का प्राण 'रस' को मानते हैं ।[3]

महिमभट्ट रसानुभूति में ध्वनि की वैयक्तिकता का खण्डन करके इसे काव्यानुमिति के साथ स्थानान्तरित करते हैं । रस को 'अनुमेय' मानने के कारण वे शंकुक के अनुयायी सिद्ध होते हैं ।[4]

आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार रस की आत्मा औचित्य है तथा औचित्य का पोषक रस है । औचित्य की सहायता के लिए रस की उपस्थिति से ही काव्य में चमत्कार का उदय होता है ।[5]

'अलंकार-सर्वस्व' ग्रन्थ का नामकरण देखने से ऐसा प्रतीत होता है, कि इसके रचयिता रुय्यक ने काव्य का सर्वस्व अलंकार को स्वीकार किया होगा । किन्तु वास्तविकता यह है कि वे वाक्यार्थभूत व्यंग्य रस को ही काव्य का प्राण

१. सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते ।
तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याऽभिनयाऽयोगात् ।
— द० रू० ४।३५ (अवलोक)

२. का० प्र० ४।२७–२८ (वृत्ति)

३. व० जी० ४।११.

४. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः ।
— व्य० वि० पृ० १०५.

५. (क) कुर्वन्सवशिये व्याप्तिमोचित्यरुचिरो रसः ।
मधुमास इवाशोकं करोत्यंकुरितं मनः ।।
— औ० वि० च० श्लोक १६.

(ख) औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारु चर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना । — वही, श्लोक ३.

मानते हैं। अलंकार उपकारक है तथा रस उपकार्य, अतः रसादि कभी-भी अलंकार रूप नहीं हो सकते ।[1]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शब्द एवं अर्थ को काव्य का शरीर तथा रस को उस शरीर का प्राण-तत्व स्वीकार किया है। इनके अनुसार कवि की चेतना रस में ही निवेशित होती है ।[2]

रस के इस क्रमिक-विकास के इतिहास में शारदातनय का नाम विशेष स्मरणीय है, जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' में नाट्यविषयक सामग्री का विस्तृत विवेचन करते हुए रस एवं भाव को नाट्य एवं काव्य का सर्वस्व माना है। इन्होंने रस-प्रतीति के लिए भाव्य-भावक सम्बन्ध को स्वीकार किया है ।[3]

शिगभूपाल के ग्रन्थ 'रसार्णव-सुधाकर' के नाम से ही पता चलता है कि वे रस के विशेष समर्थक थे।

भानुदत्त ने 'रसतरंगिणी' में रस के तीन प्रकार बताए हैं अभिमुख, परिमुख एवं विमुख। उन्होंने नाटक से भिन्न काव्य में शान्त रस की अवस्थिति मानी है ।[4]

शार्गदेव का 'संगीत-रत्नाकर' यद्यपि विशुद्ध रूप से संगीत विषय पर लिखा हुआ ग्रन्थ है, तथापि वहाँ भी रस की महत्ता स्वीकार की गई है क्योंकि संगीत का प्राण भी तो 'रस' है। शार्गदेव को शान्त रस की अवस्थिति मान्य है।

आचार्य विश्वनाथ ने रस का प्रतिपादन स्वतन्त्र रूप से किया है, ध्वनि के अन्तर्गत नहीं। इन्होंने रस को अलौकिक माना है ।[5]

रूपगोस्वामी के रस-सिद्धान्त के विकास में भक्ति-रस का प्रतिपादन करके धार्मिकता को समाविष्ट किया है। इन्होंने भक्ति-रस का स्थायी भाव शम (शान्त) माना है।

---

१. रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः अलंकाराणामुपकारकत्वात् रसादीनां च प्रधान्येतोपस्कार्यत्वात्। तस्माद् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमिति। एष एव च पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानाभावर्जकः।
— अलं० सर्व० पृ० १०.

२. ना० द० ३।२१, १।६५ (वृत्ति भाग)

३. भुङ्क्ते तत्र स्थितो भोगान् भोगेरसिकैः पुमान्।
— भा० प्र० पृ० ५३ पं० ७.

४. नाट्यभिन्ने परं निर्वेदस्थायिभावकः शान्तोऽपि नवमो रसो भवति।
— र० त० पृ० १६३.

५. सा० द० ३।२.

पण्डितराज जगन्नाथ ने आत्मा को रस रूप माना है। इन्होंने अभिनवगुप्त एवं मम्मट की मान्यता पर वेदान्त का आवरण चढ़ा दिया है।[1] इनके रस का आधार नाटक नहीं, काव्य है।

इस प्रकार वैदिक काल से लेकर अर्वाचीन काल तक रस-सिद्धान्त की ऐतिहासिक-परम्परा की अक्षुण्ण धारा प्रवाहित होती रही। मार्ग में अनेक रूपों एवं नानाविध मान्यताओं से परिचित एवं प्रभावित होती गई; अधिकांशतः समर्थकों का परिवेश मिला, यह सौभाग्य रहा। साहित्यिक आलोचना के इतिहास में कुल आठ सम्प्रदाय प्रचलित हुए, किन्तु शनैः शनैः दूसरे सिद्धान्तों एवं नियमों की छाया ग्रहण करता हुआ रस-सिद्धान्त सर्वाधिक प्रसिद्धि एवं लोक-प्रियता को प्राप्त हुआ।

वैसे रस-विवेचन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विहंगावलोकन करने से पता चलता है कि रस को 'काव्य की आत्मा' मानने के सिद्धान्त को कालान्तर में कई रूपान्तरों एवं परिवर्तनों का सामना करना पड़ा। क्योंकि साहित्यिक आलोचना के प्रतिस्पर्धी-सम्प्रदायों से सम्बद्ध वे आलोचक, जो भरत के पश्चात् उन्नत हुए, इस सिद्धान्त के पूर्ण समर्थक नहीं थे। किन्तु विशेष उल्लेखनीय है कि रस-सम्प्रदाय के विश्वासी अनुगामी शारदातनय ने इस सिद्धान्त का बहुत योग्यतापूर्वक प्रतिनिधित्व किया, क्योंकि यह सिद्धान्त, भरत के बाद अपने समस्त उत्तरकालीन परिवर्तनों एवं रूपान्तरों के साथ, शारदातनय के समय में प्रख्यात हो गया था।

रस का स्वरूप

रस के स्वरूप का विचार लौकिक एवं अलौकिक अनुभूति—दोनों दृष्टियों से किया जा सकता है। लौकिक अनुभूति तो रस के वैचित्र्य का प्रतिपादन करती है, जबकि अलौकि अनुभूति उस चरम आनन्द के प्रभाव का सृजन करती है, जिसे 'ब्रह्मानन्द' के नाम से अभिहित किया जा सकता है।

प्रायः सभी काव्य-शास्त्रियों ने रस के स्वरूप की अवतारणा की है, किन्तु सबका मूल स्रोत भरत-कृत नाट्यशास्त्र को ही स्वीकार करना पड़ेगा। नाट्यशास्त्र में विभाव आदि का जो वर्णन उपलब्ध है, वह रस एवं काव्य के वैचित्र्य का प्रतिपादन करता है। ये विभाव आदि वैसे तो लौकिक जगत् में कारण आदि कहलाते हैं, किन्तु जब वे काव्य-क्षेत्र में अवतरित होते हैं, तो उनके प्रभाव में सर्वथा अन्तर आ जाता है। लौकिक जगत् की भाँति सुख-दुःख की सीमा से परे एक अलौकिक अनुभव होने लगता है और सहृदय प्रेक्षक अपने हृदय में उस 'रस' का साक्षात्कार अथवा आनन्दानुभव करने लगता है, जिसे अभिनवगुप्त ने 'चर्वणा' कह

---

१. व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः। इति।
व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृतः। व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्।
— र० गं० पृ० २६.

कर पुकारा है। उसके अनुसार रस का साक्षात्कार प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति अर्थात् किसी भी प्रकार के ज्ञान से विलक्षण होता है।[1]

शारदातनय अभिनवगुप्त से सहमत तो हैं किन्तु अभिनवगुप्त की भाँति उन्होंने रस को 'चर्वणा' का नाम न देकर उसे अस्वाद्यत्व की स्थिति में पहुँचाया है। वृद्ध भरत तथा भरत के अनुसार ही शारदातनय ने स्थायीभाव को रस में परिणत किया है कि जब विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव एवं संचारी भावों से स्थायीभाव आस्वाद्यता को आनीयमान होता है तो वह रस कहलाता है।[2] जिस प्रकार स्वादिष्ट व्यंजनों के सम्मिश्रण से भोजन आस्वाद्यमान हो जाता है, उसी प्रकार स्थायीभाव भी विभाव आदि से उपचित एवं आस्वादित होकर 'रस' की संज्ञा प्राप्त करता है। भरत-वृद्ध एवं भरत के इस विचार से शारदातनय भी सहमत हैं।[3] यहाँ शारदातनय ने रस को भावों से ही भावित बताया है तथा इसकी पुष्टि के लिए वासुकि के कथन को समाहित किया है।[4]

अग्निपुराण में भी रस के स्वरूप पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है। यथा—रस आनन्दस्वरूप है। उस ब्रह्मानन्द की अनुभूति किसी-किसी को ही हो पाती है। अक्षर-रूप सनातन परब्रह्म को वेदान्त में चेतन्य ज्योतिरीश्वर माना गया है। इसी परब्रह्मानन्द की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति रस है, जिसका आदि विकार अहंकार कहा गया है। इस अहंकार से उद्भूत अभिमान में ही तीनों भुवनों की परिसमाप्ति हो जाती है। काव्य में वाक्-चातुर्य का चमत्कार रहने पर भी रस ही उसका प्राण है। इस प्रकार अग्निपुराण में रस आत्मस्थानीय है।[5] अग्निपुराण की ही भाँति नाट्यशास्त्र भी न तो रस को भाव से हीन बताता है और न भाव को रस से रहित।[6]

१. अतएव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य। तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसंगात्। नापि ज्ञाते हेतवो येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित्प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। किं तर्हि एतद्धि विभावादय इति अलौकित एवायं चर्वणोपयोगी विभावादि व्यवहारः। क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमितिचेद्भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ।
— अभि० भा० पृ० २८५.

२. भा० प्र० पृ० ३६ पं० ६–१०.

३. भा० प्र० पृ० २६ पं० १३–२२.

४. इतिवासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः।
तस्माद्रसास्तु भावेभ्यो निष्पद्यन्ते यथार्हतः॥
— भा० प्र० पृ० ३७ पं० १–२.

५. अ० पु० ३३६।१–३.

६. अ० पु० ३३६।१२ ; ना० शा० चौ० ६।३७.

भरत द्वारा प्रतिपादित रस की परिभाषा में जो 'निष्पत्तिः' शब्द प्रयुक्त हुआ है,[1] उसके विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न अर्थ, यथा—उत्पत्ति, प्रतीति, अनुमिति, ज्ञप्ति, व्यक्ति, अभिव्यक्ति, मुक्ति आदि ग्रहण करके रस के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। भट्टलोल्लट ने जो जो उत्पाद्य-उत्पादक भाव की स्थापना की, वह शारदातनय को अभिप्रेत नहीं है। भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद अथवा रसाश्रयवाद का खण्डन उन्होंने स्पष्ट रूप से किया है। उनके अनुसार रस वह आस्वाद है, जो सामाजिक को आह्लाद प्रदान करे, इसीलिए रस का आश्रय भी सहृदय ही है; नट (अनुकारक) अथवा रामादि (अनुकार्य) को रस का आश्रय नहीं माना जा सकता।[2]

शारदातनय के इस कथन पर प्रतिवादी की शंका उठती है कि रस यदि आनन्द-रूप है, तब तो आह्लादात्मक श्रृंगार ही केवल रस के रूप में प्रयुक्त होना चाहिए; अन्य वीभत्स, भयानक, करुण आदि रसता को प्राप्त नहीं हो सकते।[3] इस शंका का समाधान करने के लिए शारदातनय सर्वथा तत्पर हैं। उन्होंने कहा है कि मानव का स्वभाव ही परिवर्तनशील है। मधुर रस के पश्चात् कटु, अम्ल, कषाय, तिक्त आदि रस देशकाल आदि के भेद से कुछ विशेष प्रकार का अर्थात् विलक्षण आनन्द प्रदान करते हैं। ठीक उसी प्रकार श्रृंगार के पश्चात् वीभत्स, भयानक, करुण आदि रसों में वैचित्र्य के दर्शन होने लगते हैं और वैचित्र्य एवं विलक्षणता उत्पन्न होने पर श्रृंगार के अतिरिक्त वीभत्स, करुण आदि को भी 'रस' कहा जा सकता है। मानव-हृदय-स्थित वासनाएँ समय-समय पर रस-रूप में उद्भूत होती हुई परस्पर मित्र-शत्रु एवं उदासीन भाव से विद्यमान रहकर आह्लाद-प्रदायक होती है। इसके अतिरक्त मानव-स्वभाव की विलक्षता का क्या कहना? किसी को श्रृंगार में आनन्द आता है, तो किसी को हास्य प्रिय है। किसी को करुण अनुभूति सुख-सन्तोष एवं तृप्ति प्रदान करती है, तो किसी को अद्भुत में जो वैचित्र्य दृष्टि-गोचर होता है, वह अन्यत्र प्रतीत नहीं होता। इसलिए यह शंका उचित प्रतीत नहीं होती कि 'श्रृंगार को ही आह्लादात्मक कहा जा सकता है, अन्यों को नहीं।' प्रकृति की भिन्नता के आधार पर सहृदय जिसका आस्वाद करता है, वही आनन्द है, वही रस है।[4]

---

१. विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।
— ना० शा० चौ० अध्याय ६ पृ० ७१.

२. भा० प्र० पृ० ४० पं० १–२, पृ० ४१ पं० ५–६, पृ० ३९ पं० १६–१७.

३. श्रृंगारस्य स युज्येत तस्य ह्लादात्मकत्वतः।
अन्येषां रसता प्रायः सिद्धा केनापि हेतुना।
— भा० प्र० पृ० ४० पं० ३–४.

४. भा० प्र० पृ० ४० पं० ५–१०, १३–१४.

भरत-रससूत्र में स्थित 'संयोगात्' का अर्थ शंकुक ने गम्यगमकभाव (अनुमाप्य-अनुमापक-भाव) मानते हुए रस के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। भट्टलोल्लट की भाँति शंकुक ने भी रस की प्रतीति का आधार सामाजिक को नहीं माना है। सामाजिक को तो कृत्रिम राम आदि में रहने वाले रस का चित्रतुरगन्याय से केवल अनुमान होता है, जो सम्यक् मिथ्या, संशय एवं सादृश्य प्रतीतियों से विलक्षण है।[1] इनके समर्थन में मम्मट ने 'राम एवायं' तथा 'अयमेव रामः' इन दो वाक्यों का जो प्रयोग दर्शाया है, उसका उल्लेख करने में भी शारदातनय सचेत हैं। किन्तु उन्होंने इस 'चित्रादि-मति' का खण्डन स्पष्ट रूप से करके इस मत को रस-स्वरूप प्रतिपादन के क्षेत्र से बाहर ही रखा है; क्योंकि रसानुभव तो आह्लादात्मक होता है। अनुमितिपरक ज्ञान में आह्लाद कहाँ ? नट में राम-विषयक बुद्धि अर्थ, क्रिया, कर्म में समर्थ है, अतः वह बुद्धि यथार्थ ही है, अनुमान नहीं।[2]

रस का स्वरूप प्रतिपादित करने के लिए भट्टनायक ने जिस मुक्तिवाद की स्थापना की है, उसके अनुसार रस की स्थिति रसानुभूतिकाल में ही रहती है, उसके पूर्व या पश्चात् नहीं। 'भावकत्व' एवं 'भोजकत्व'—इन दो नवीन व्यापारों की परिकल्पना करते हुए भट्टनायक ने 'साधारणीकरण' को प्रस्तुत किया तथा भरत-रससूत्र में प्रयुक्त 'संयोगात्' का अर्थ भोक्तृभोग्यभाव-सम्बन्ध माना है। जहाँ तक रस-स्वरूप के प्रतिपादन का प्रश्न है, इस सांख्य दार्शनिक से शारदातनय पूर्णतया प्रभावित जान पड़ते हैं।[3]

अभिनवगुप्त ने रस की 'निष्पत्तिः' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' ग्रहण किया है। भट्टनायक की भाँति इन्होंने रसानुभूति तो सामाजिक में ही मानी है, किन्तु भावकत्व एवं भोजकत्व नामक दोनों व्यापार उन्हें रुचिकर प्रतीत नहीं हुए; क्योंकि उनके अनुसार ये दोनों व्यापार अनुभव-सिद्ध नहीं हैं। 'शिवागमज्ञैः' आदि कथन के द्वारा शारदातनय ने अभिनवगुप्त का मत उल्लिखित किया है। वैसे शारदातनय स्वयं तो सांख्योपचित विवेचन को अभीष्टतया अपने ग्रन्थ में स्थान देते हैं।[४]

शारदातनय ने अग्निपुराण के अनुसार दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर रस के स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत किया है। अग्निपुराण के रस-स्वरूप को अभिनवगुप्त ने स्वीकार किया है, इसका उल्लेख शारदातनय ने किया है।[५] वैसे शारदातनय

---

१. भा० प्र० पृ० ४० पं० १७–१८, पृ० ५० पं० १९–२२.
२. भा० प्र० पृ० ५० पं० १३–१४, पृ० ५१ पं० १७–२२.
३. वही पृ० ५२ पं० ५–६, ९–१२, १५–१६.
४. वही पृ० ५३ पं० ३–६.
५. संवित्प्रकाशानन्दात्मा गम्यः स्यात्स्वानुभूतितः।
अहंकारभिमानात्मा बाह्यार्थेषु प्रकाशते। —भा० प्र० पृ० ४१ पं० ७–८.

सामान्यरूप से तो नाट्यशास्त्र को ही आदर्श मानकर चले हैं, तथापि उन्होंने अहंकार को ही रस-रूप में परिवर्तित कर देने वाला सिद्धान्त स्वीकार किया है, जिसका वर्णन नाट्यशास्त्र में प्राप्त नहीं होता। हां, वह वृद्धभरत के वृहन्नाट्यशास्त्र में अवश्य प्रतिपादित रहा होगा। इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम शिव ने विवस्वान् (सूर्य) को निर्दिष्ट किया था, जिसका प्रतिपादन 'योगमालासंहिता' में भी किया गया तथा जिसमें शिव ने ताण्डव, लास्य, नाट्य, नृत्त एवं नर्त्तन का निर्देश किया है।[1] 'यह मेरा है'—इस प्रकार के ज्ञान को ही अहंकार अथवा अभिमान कहा जाता है। अभिमान अहंकार की ही एक विशेष वृत्ति का नाम है, क्योंकि अभिमान के द्वारा ही अहंकार बुद्धि को उपकृत करता है। यहाँ सांख्यों के प्रकृतिविकृतिवाद को शारदातनय ने उल्लिखित किया है। इस प्रकृति को सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी इन तीनों विधाओं में विभक्त किया गया है।[2] अहंकार को रसत्व तक पहुँचा देने वाले रस-सिद्धान्त के अनुसार सहृदय सामाजिक नाट्यावलोकन करते समय अपने अहंकार के द्वारा उसी मनःस्थिति में पहुँच जाते हैं जिसमें अनुकार्य राम आदि थे। उस समय अहंकार के अनुभव के आधार पर सामाजिक अपना दुःख-सुख भूल कर राम के ही दुःख-सुख को अपना मानते हुए रसत्व की स्थिति में पदार्पण करते हैं। इसी सिद्धान्त से समता रखता हुआ वासुकि के मत, जिसे कि प्रकारान्तर से नारद ने भी स्वीकार किया है, का उल्लेख शारदातनय ने किया है।[3] नारद ने भी अहंकार का ही परिवर्तित रूप अथवा उसका विकार 'रस' माना है। इस विषय में शारदातनय नारद के अनुमोदक कहे जा सकते हैं, किन्तु उन्होंने शान्त रस को स्वीकार नहीं किया है, जिसकी स्थिति नारद को मान्य है।

शारदातनय के अनुसार रसानुभव जीवात्मा के सांसारिक आनन्द (सांसारानन्द) के समान है, जो कि यद्यपि रहस्यों से भरा हुआ है, तथापि वह राग, विद्या एवं कला के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।[4] नाट्य का प्रेक्षण करते समय

---

१. कथितयोगमालायां संहितायां विवस्वते।
शिवेन ताण्डवं लास्यं नाट्यं नृत्तं च नर्त्तनम्।
— भा० प्र० पृ० ४५ पं० १५–१६.

२. भा० प्र० पृ० ४२ पं० २१, पृ० ४३ पं० १४, पृ० ४२ पं० १६, पृ० ४२ पं० १०–११।

३. उत्पत्तिस्तु रसानां या पुरा वासुकिनोदिता।
नारदस्योच्यते सैषा प्रकारान्तरकल्पिता॥
— भा० प्र० पृ० ४७ पं० ११–१२.

४. रागविद्याकलासंज्ञैः पुंसस्तत्वैस्त्रिभिः स्वतः।
प्रवृत्तिर्गोचरोत्पन्ना बुद्धयादिकरणैरसौ।
— भा० प्र० पृ० ५२ पं० १३–१४.

प्रेक्षकगण विभिन्न भावों का अवलोकन करते हैं और राग, विद्या एवं कला के माध्यम से उन भावों का आनन्द रस के रूप में प्राप्त करते हैं। दक्ष अभिनेता सांसारिक वस्तुओं एवं दैनिक जीवन की भावनाओं का प्रदर्शन करते हैं। उन्हें जब दर्शक अपने जीवन की घटनाओं एवं भावनाओं के अनुरूप पाता है, तो स्वयं को उस समय विस्मृत करके उस आनन्द को अनुभव करता है। यह आनन्दानुभव ही रसानुभव है। इस प्रकार शारदातनय ने रसानुभव को संसारानन्द के साथ तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस तुलना के प्रस्तुतकर्त्ता सर्वप्रथम विद्वान शारदातनय ही हैं।[1] इस तुलनात्मक विवरण को प्रस्तुत करते हुए शारदातनय ने व्यंजनावृत्ति को न मानकर धनंजय के समान तात्पर्याशक्ति को स्वीकार किया है। तात्पर्याशक्ति के द्वारा रसानुभव को प्राप्त किया जा सकता है। शारदातनय ने ध्वनि को तात्पर्याशक्ति का ही अंग माना है। ध्वनि तो तो तात्पर्याशक्ति में सम्मिलित की जा सकती है, किन्तु तात्पर्याशक्ति सदैव ध्वनि से युक्त हो, यह आवश्यक नहीं है।[2]

शारदातनय को धनंजय एवं धनिक के अनुसार भाव्य-भावकभाव-सम्बन्ध तथा भट्टनायक के अनुसार भोक्तृ-भोग्य-सम्बन्ध स्वीकार है। इन्हीं विद्वानों के मतों का उल्लेख करके शारदातनय अपने कथन की पुष्टि भी करते चलते हैं। रसानुभूति में 'निष्पत्तिः' का अर्थ 'भुक्ति' मान कर ही शारदातनय ने अपना मत स्थापित किया है।[४] यद्यपि अभिनवगुप्त ने भावकत्व एवं भोजकत्व का खण्डन कर दिया था, किन्तु इससे शारदातनय की मान्यता दुर्बल नहीं पड़ती क्योंकि उनके पास रसानुभव के लिए भावकत्व एवं लोजकत्व से भिन्न तात्पर्याशक्ति है तथा सांख्य के आधार पर अहंकार की अभिमानात्मिका वृत्ति है, जिसकी परिणति 'रस' में हो जाती है। इसके अतिरिक्त भावों के आनन्द को रसत्व तक पहुँचाने के लिए उनके पास राग, विद्या एवं कला का माध्यम है। अतः शारदातनय की रस-विषयक

---

१. Shardatanaya, no doubt, is the first man to make this comparision. — Theory of Rasa in Sanskrit Drama, page. 272.

२. भा० प्र० पृ० १५० पं० ५.

३. अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यंजकभावः। किं तर्हि भाव्यभावक सम्बन्धः? काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयाः। ते हि स्वतो एव भावकेषु विशिष्टविलावादिमता काव्येन भाव्यन्ते।

— दशरूपक ४।३७ (अवलोक) चौ० पृ० २५१–५२.

४. भुङ्क्ते तत्र स्थितो भोगान् भोगिरसिकैः पुमान्।
प्रेरकत्वेन बुद्ध्यादिकरणानां पुनः पुनः ॥

— भा० प्र० पृ० ५३ पं० ७–८.

मान्यता की स्थापना सबल रूप से हो जाती है, जिसका प्रभाव परवर्ती नाट्यकारों पर स्पष्ट रूप से अभिलक्षित होता है।

कामसूत्र में रस का अर्थ 'भाव' ग्रहण किया गया है। किन्तु शारदातनय ने इस प्रकार रस और भाव को पर्यायवाची नहीं माना है, बल्कि दोनों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को उन्होंने अग्निपुराण एवं भरत की ही भाँति स्वीकार किया है।[1] एक बात और विशेष ध्यातव्य है कि शारदातनय महिमभट्ट की 'काव्यानुमिति' को रसानुभूति में सम्मिलित करना नहीं चाहते क्यों कि अनुमान तो अविद्यमान वस्तु के विषय में किया जाता है। रसानुभूति के कारण, प्रेरक एवं भोक्ता—सब ही तो प्रत्यक्ष होते हैं, फिर अनुमान के लिए स्थान ही कहाँ रह जाता है ? 'रस केवल औचित्य का ही पोषक तत्व है'[2]—क्षेमेन्द्र के इस मत की संकीर्णता में शारदातनय उलझ कर नहीं रह जाते, अपितु उन्होंने तो रस को सम्पूर्ण काव्य का ही पोषक-तत्व माना है।

रस के विभाग (संख्या)

रसानुभव एक विशुद्ध आनन्द है, जिसे पूर्व-परम्परा के आधार पर ही शारदातनय भी एक आत्मानुभव ही स्वीकार करते हैं। यह आत्मानुभव तो केवल एक ही प्रकार का हो सकता है, क्योंकि वह अपूर्व होता है। फिर उसके विभाग कैसे ? इनके मत में सर्वप्रथम रस वस्तुतः एक ही है, किन्तु वह आश्रय-भेद से अनेक हो सकता है[3] और तब शृंगारादि रस आत्मत्व को प्राप्त हो जाते हैं।[4] इस विषय में शारदातनय ने मूल रूप से भरत की विचारधारा का ही अनुमोदन किया है, क्योंकि भरत ने भी नाट्यशास्त्र में 'रसात्' में एकवचन का ही प्रयोग किया है।[5]

रस के विभाग का बीज हमें वेदोपनिषदों में परिलक्षित होता है। 'छांदोग्योपनिषद्' में कहा गया है कि भूतों का (प्राणियों का) रस पृथिवी है, पृथिवी का रस जल, जल का रस औषधि, औषधि का रस पुरुष, पुरुष का रस

---

१. अ० पु० ३३९।१२ ; ना० शा० चौ० ६।३७ ; भा० प्र० पृ० ५६ पं० ३–४.

२. कुर्वन्सवशिये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोप्यंकुरितं मनः॥
— औ० वि० च० श्लोक १६.

३. तत्रान्तरस्य भेदा ये व्यापारस्योदिताः पृथक्।
ते सर्वे नाट्यतत्वज्ञैः कथ्यन्ते हि रसाह्वयाः॥
— भा० प्र० पृ० ३९ पं० १३–१४.

४. भा० प्र० पृ० ४३ पं० १५–१७.

५. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते। — ना० शा० चौ० अध्याय ६ पृ० ७१.

वाणी, वाणी का रस ऋचा, ऋचा का रस साम तथा साम का रस प्रणव है। वहाँ प्रणव को ही समस्त रसों में रसश्रेष्ठ कहा गया है।[1] ब्रह्मरूप रस से ऋक्, यजुः तथा साम की सृष्टि होती है।[2]

वेदों में रस का सामान्यरूप से वर्णन तो प्राप्त होता ही है, रस-विशेष का भी उल्लेख वहाँ हुआ है। ऋग्वेद में 'शृंगार' का प्रयोग तो नहीं हुआ है, फिर भी 'शृंग' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसके अनेक अर्थ निर्धारित किए गए हैं। एक ऋचा में शृंग शब्द का अर्थ क्रमशः सींग एवं ज्वालाओं से ग्रहण किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त 'शृंग' का अर्थ उज्ज्वल एवं श्रेष्ठ आदि भी माना गया है। ऋग्वेद में प्रयुक्त इन विभिन्न अर्थों के आधार पर नाट्यशास्त्र में शृंगार के पवित्र, उज्ज्वल, दर्शनीय, मेध्य आदि अर्थ किए गए हैं।[4] इसी आधार पर शारदातनय एवं विश्वनाथ ने 'शृंग' के अर्थ श्रेष्ठ, कामदेव, दर्शनीय आदि किए हैं।[5] बृहद्वचोपनिषद् में तो 'शृंगार' शब्द स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हुआ है।[6] ऋग्वेद में 'रति' भाव का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है।[7]

शृंगार के अतिरिक्त 'करुण' शब्द का प्रयोग भी ऋग्वेद में मिलता है, चाहे भले ही उसे कर्म के अर्थ में प्रयुक्त किया गया हो।[8] निर्वाणोपनिषद् में 'करुणा' शब्द का प्रयोग अपने ही अर्थ में हुआ है।[9]

ऋग्वेद में 'हास्य' रस के भी प्रयोग की स्पष्ट झलक परिलक्षित होती है। एक स्थान पर हास्यरस के स्थायी भाव 'हास' का प्रयोग प्राप्त होता है, यथा— 'मरुतो की सेना हँसती हुई अर्थात् हर्षयुक्त होती है।'[10] एक अन्य स्थल पर भी

---

१. एषां भूतानां पृथिवी रसः। पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रसः। ऋचः सामरसः। साम्न उद्गीथो रसः।

— छांदो० १, २–३, ६.

२. छांदो० ४–१७–१, ६.

३. ऋ० वे० १–४०–६.

४. यथा यत्किंचिल्लोके शुचि, मेध्यं, दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते। यस्तावदेज्ज्वलवेषः स शृंगारवानित्युच्यते।

— ना० शा० चौ० अध्याय ६ पृ० ७३.

५. भा० प्र० पृ० ४८ पं० ७ ; सा० द० ३।१८६.

६. शृंगार कलेति विज्ञायते। —बृहद्वचो० १.

७. जायेव पत्य उशती सुवासाः। —ऋ० वे० ८–२–२३.

८. ऋ० वे० १–१००–७.

६. निर्वाणो० १.

१०. मरुतां पृत्सुतिर्हासमाना। — ऋ० वे० १–१६६–२ ; ३–३३–१.

हास्य का प्रयोग प्राप्त होता है, यथा—'विद्वान् मूर्खों को नहीं हँसाते हैं।'[1] शिवोपनिषद् में भी हास्य का वर्णन है।[2] निरुक्त में भी दो स्थलों पर इसका प्रयोग मिलता है।[3]

'वीर' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अपने अर्थों में स्पष्ट रूप से हुआ है।[4] 'अव्यक्तोपनिषद्' में भी 'वीर' शब्द आया है।[5] निरुक्त में जहाँ 'वीर' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसमें उसका स्थायीभाव 'उत्साह' स्पष्ट रूप से झलकता है।[6]

ऋग्वेद में 'रौद्र' शब्द भी आया है।[7] वनदुर्गोपनिषद् में 'रौद्र' शब्द अपने वास्तविक प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[8]

'भयानक' शब्द ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता, फिर भी वहाँ 'भय' अर्थ में भयते, भयन्ते, भयमान् आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।[9] निर्वाणोपनिषद् में भी 'भय' शब्द व्यवहृत हुआ है[10]

'अद्भुत' रस का आधार भी ऋग्वेद से प्रारम्भ होता है। वहाँ अद्भुत का अर्थ आश्चर्य के अतिरिक्त 'अभूतपूर्व' भी किया गया है।[11] यही नहीं, 'महान्' एवं रमणीय अर्थ में भी अद्भुत शब्द का प्रयोग हुआ है।[12] त्रिविक्रममहानारायणोपनिषद् में अद्भुत शब्द का प्रयोग आश्चर्य के ही अर्थ में होता है।[13] निरुक्त में ऋग्वेद के आधार पर ही अद्भुत के विविध अर्थ निर्दिष्ट किए गए हैं।[14]

---

१. नावाजिनं वाजिना हासयन्ति। — ऋ० वे० ३-५३-२३.

२. शिवो० ७-१३.

३. निरुक्त - ११६, ४२८.

४. ऋ० वे० १-३०-५, १-८१-२.

५. वीरमित्याह वीरो वा एष वीर्यवत्वात्। — अव्यक्तो० ३.

६. वीरो वीरयत्यमित्रान्। — निरुक्त १, ३, ७.

७. ऋ० वेद १०-३-१, १०-६१-१.

८. वनदुर्गो० १६०.

९. ऋ० वे० १-५०-८ ; १-५८-५, ८ ; १-१००-१७ ; १-१८९-४ ; २-१२-१३ ; २-२७-५ ; २-२९-६ ; ३-३०-१० ; ७-५८-२.

१०. भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्यागः। — निर्वाणो० ५.

११. ऋ० वे० १-१८-६ ; १-२५-११ ; १-९४-१२ ; १-१२०-४ ; १-१७०-१ ; १-१४२-३ ; २-६-४ ; ४-२-१२ ; ४-१४२-१०.

१२. ऋ० वे० १-९४-१३ ; २-७-६ ; ५-६६-४ ; ६-८-३ ; ६-१५-२ ; ८-४३-२४.

१३. अद्भुतानन्दाश्चर्य-विभूति-विशेषकारणम्। — त्रि० महा० उप० ३-४-१.

१४. निरुक्त १, ३, ९.

उपर्युक्त विवरण से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि रस एवं उसके विभागों (संख्या) का मूल-स्रोत वैदिक साहित्य के आंचल से निस्सृत हुआ। नाट्य-साहित्य में प्रयुक्त श्रृंगार आदि रसों के शब्द वैदिक साहित्य में कभी अपने ही अर्थ में तथा कभी अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त हुए हैं। रत्यादि भावों की भी स्थिति वैदिक-वाङ्मय में ही सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुई है; उसी से निस्सृत धारा नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र तक प्रवाहित होती आई। वैदिक साहित्य में श्रृंगार आदि आठ रसों के अतिरिक्त 'शान्तरस' की स्थिति तो स्वयं ही प्रमाणित हो जाती है क्योंकि वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदो, पुराणों एवं वेदान्तादि दर्शन-ग्रन्थों में आत्मा-परमात्मा-विषयक जो कुछ निर्वचन हुआ है, उसके मूल में शान्त की स्थिति स्पष्ट है।

किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शास्त्रीय रूप से रस के विभागों का विवेचन सर्वप्रथम पंचमवेद नाट्यशास्त्र में ही प्रतिपादित किया गया है। यद्यपि भरत द्वारा उद्धृत आनुवंशय श्लोकों से प्रमाणित होता है कि वैदिक काल एवं भरत के समय की मध्यावधि में भी रस-संख्या पर विविध मतों की स्थापना होती रही होगी। किन्तु उन मतों को व्यवस्थित एवं शास्त्रीय रूप भरत की लेखनी ने ही प्रदान किया। भरत ने स्पष्ट रूप से श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्‌भुत, बीभत्स—इन आठ रसों को ही स्वीकार किया है। इन रसों के आठ ही स्थायी भाव भी बताये हैं।[1]

शान्तरस की स्थिति के विषय में आरम्भ से ही अनेकानेक मतभेद प्रचलित रहे हैं। 'अग्निपुराण' में शान्त सहित नौ रसों की स्थिति स्वीकार की गई है, तथापि केवल—श्रृंगार, वीर, करुण एवं रौद्र—इन चार रसों को ही प्रधान एवं स्वाभाविक कहा है।[2] शेष तो अप्रधान रस हैं। सम्भवतः अग्निपुराण से ही प्रभावित होकर शारदातनय ने भी रसों के इस जन्य-जनक-भाव का वर्णन किया होगा।[3] अग्निपुराण के ही आधार पर शारदातनय ने प्रधान चार रसों का सम्बन्ध चार वेदों से भी स्थापित किया है।[4] अग्निपुराण में कहा गया है कि इस अपार

१. ना० शा० चौ० ६।१५, १७.

२. अ० पु० ३३९।७–९.

३. श्रृंगारस्यानुकरणं हास्य इत्यभिधीयते ।।
वीरस्य कर्म लद्वीरं सोऽद्‌भुतः परिकीर्तितः ।
क्रूरंक्रिया या रौद्रस्य सेव स्यात्करुणाह्वया ।।
बीभत्सस्यापि यत्कर्म स भयानक ईरितः ।।
प्रधान्यं जनकत्वेन जन्यत्वेनाप्रधानता ।।
— भा० प्र० पृ० ५५, पं० १०–१४.

४. श्रृंगार उद्‌भूत्साम्नो वीरोऽभूद्वितो ऋचः ।
अथर्ववेदतो रौद्रो बीभत्सो यजुषः क्रमात् ।।
— भा० प्र० पृ० ५४, पं० १५–१६.

काव्य-जगत् में कवि ही ब्रह्मा (सृष्टिकर्त्ता) है, जो अपनी रुचि के अनुकूल ही काव्य-जगत् की रचना करता है। यदि कवि शृंगारी होता है, तो उसे सम्पूर्ण संसार सरस लगता है ; यदि कवि वैरागी हुआ, तो संसार भी नीरस ही प्रतीत होता है।[1] जहाँ वैराग्य की भावना का उदय होता है, वहीं शान्त रस की भी अवस्थिति हो जाती है। अग्निपुराण में शान्त को पुष्ट करने वाले त्यागादि विषयों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, यथा —'जिस प्रकार त्याग के बिना लक्ष्मी शोभाहीन हो जाती है, उसी प्रकार बिना रस के वाणी भी शोभा रहित हो जाती है।

रस के विभाग के विषय में वासुकि एवं नारद का मत समान है।[2] इन दोनों ने शान्त रस को स्वीकार किया है। नारद के अनुसार रजोगुण एवं तमोगुण से विहीन सत्वगुण युक्त मनोवृत्ति जब बाह्य पदार्थों का स्पर्श नहीं करती, तब शान्त रस का उदय होता है।[3]

अभिनवगुप्त यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि भरत को भी 'शान्त रस' से विरोध नहीं था।[4] किन्तु भरत ने स्पष्ट रूप से 'शान्त' रस का नाम अभिहित नहीं किया है। यदि उन्हें अभीष्ट होता, तो वे आठ ही स्थायी भावों को कारिका में क्यों रखते ? उन्हीं के साथ नवें स्थायी भाव की गणना भरत ने क्यों नहीं की ? वैसे यहाँ भी पाठभेद मिल जाता है।[5] इससे स्पष्ट है कि भरत ने वास्तव में आठ ही रसों को स्वीकार किया। नाट्यशास्त्र में भरत ने 'डिम' को शृंगार व हास्य से रहित छः रसों के लक्षणों से युक्त बताया है।[6] इससे स्वतः ही सिद्ध होता है कि भरत को आठ रस ही अभिप्रेत थे।

अभिनवगुप्त जो यह मानते हैं कि भरत ने रसों की नवसंख्या को स्वीकार किया है, वह शारदातनय के विचार में संगत नहीं हैं। यदि भरत ने आठ के स्थान

---

१. अ० पु० ३३९।१०–११.

२. भा० प्र० पृ० ४७ पं० ११–१२.

३. भा० प्र० पृ० ४८ पं० ४–५.

४. (क) क्वचित् धर्मः क्वचित् क्रीड़ा, क्वचिदर्थः, क्वचित् शमः।
— ना० शा० चौ० १।१०४.

(ख) दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ॥
—ना० शा० चौ० १।१११–११२.

५. जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः। — अभि० भा० पृ० २६७.

६. षड्सलक्षणयुक्तश्चतुरंको वैडिमः कार्यः।
शृंगारहास्यवर्जः शेषैरन्यैः समायुक्तः ॥ — ना० शा० चौ० २०।८८–८९.

पर नव रसों को माना होता, तो नाट्यशास्त्र की प्रत्येक प्रति में 'बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः'—यही पाठ मिलना चाहिए था। प्राचीन संस्करणों में तो 'बीभत्साद्भुतसंज्ञाश्चेत्यष्टो नाट्ये रसाः स्मृताः'—पाठ मिलता है; फिर किन्हीं-किन्हीं परवर्ती संस्करणों में 'नव नाट्ये' यह पाठ मिलने लगा। इस परिवर्तित पाठभेद का कारण यह रहा होगा कि आगे चलकर जब शान्त रस की स्थिति विद्वद्जन प्रतिपादित करने लगे, तो उन्हें अपने कथन की प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाणिक उद्धरण की आवश्यकता हुई; और वह प्रमाणिक उद्धरण उन्हें भरत के नाट्यशास्त्र से बढ़कर दूसरा क्या प्राप्त हो सकता था? अतः बहुत सम्भव है कि उन्होंने भरत की कारिका में ही परिवर्त्तन करके अपने कथन की पुष्टि बनाकर साहित्य-क्षेत्र में उतार दिया होगा। इसीलिए शारदातनय के अनुसार तो भरत आठ ही रसों के प्रतिपादक थे और इसी आधार पर उन्होंने अपना मत भी स्थापित किया है कि निर्विकार भाव से स्थित अतः अनुभाव रहित रहने के कारण शान्त रस का अभिनय सम्भव नहो।[1] सांख्य के अनुसार रस अहंकार का विकार ही तो है।[2] जब शान्त में कोई विकार ही नहीं, तब व्यवहारिक क्षेत्र में भी उसका कोई अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

शारदातनय ने रस की संख्या-विषयक अपने मत को नाट्यदर्पणकार एवं विश्वनाथ से प्रभावित नहीं होने दिया है, जैसा कि इन दोनों नाट्यकारों ने शान्त रस को भी स्वीकार किया है[3] शारदातनय अपने ग्रन्थ में अपने विरोधी मतों को भी उल्लिखित करते चलते हैं, यथा निरुक्तकार ने श्रृंगारादि आठ रसों के साथ-साथ 'शम' स्थायी भाव वाले शान्त रस को भी स्वीकार किया है।[4] परन्तु धनिक का विचार है कि अभिनय न हो पाने के कारण 'शम' स्थायीभाव को नाटक में मान्य नहीं किया जा सकता। धनंजय शान्त रस की अवैज्ञानिकता यह कह कर सिद्ध करते हैं कि निर्वेद अनुकूल एवं प्रतिकूल भावों को आत्मरूप करने में

---

१. (क) अस्य सर्वविकाराणां शून्यत्वात्तु रसात्मना।
परिणेतुं न शक्नोति तस्माच्छान्तस्य नोद्भवः॥
— भा० प्र० पृ० ४७, पं० ८–९.

(ख) अतोऽनुभावराहित्यान्न नाट्येऽभिनयो भवेत्।
— भा० प्र० पृ० २६, पं० ७.

२. साहंकाराद्विकारो यः स·····················।
— भा० प्र० पृ० ४७, पं० १४.

३. ना० द० ३।९; सा० द० ३।२५०.

४. भा० प्र० पृ० ५०, पं० ३–१०.

अक्षम है ।[१] किन्तु शारदातनय तो शान्तरस को स्पष्ट रूप से अनुभाव रहित तथा समस्त भावों एवं विकारों से शून्य कह रहे हैं ।[2] ऐसी स्थिति में किसी भी प्रकार के भावों को आत्मरूप करने की क्षमता–अक्षमता को आंकने का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

शान्त रस की स्थिति यदि नाट्य में मान ली भी जाए, तो भी उसके स्थायीभाव के नामकरण के विषय में मतभेद बना ही रहता है। एक ओर जहाँ निरुक्तकार, धनिक, नाट्यदर्पणकार एवं विश्वनाथ शान्त का स्थायी भाव 'शम' मानते हैं, वहाँ मम्मट शान्त के स्थायी भाव को 'निर्वेद' कह कर पुकारते हैं ।[3] इसकी पुष्टि में मम्मट का कथन है कि भरत ने नाट्यशास्त्र में व्यभिचारियों की गणना में सर्वप्रथम 'निर्वेद को ही रखा है। निर्वेद ही मोक्ष का साधन है। परन्तु जब भरत ने 'निर्वेद' को 'व्यभिचारी' कह दिया है तो उसे मम्मट ने स्थायीभाव कैसे मान लिया ? मम्मट का विरोध करते हुए नाट्यदर्पणकार भी कहते हैं कि एक ही समय में निर्वेद को व्यभिचारी एवं स्थायी मानने में दोष उत्पन्न हो जाता है ।[4]

जब शान्त रस एवं उसके स्थायी भाव को मानने में प्रारम्भ से ही इतने विवाद एवं मतमतान्तर प्रचलित हैं, तो इतने विवादग्रस्त एवं संदेहारूढ़ विषय को स्वीकार न करके शारदातनय ने ब्रह्मा एवं भरत के ही मत को समादृत करना श्रेयस्कर समझा ।[५] वैसे निरुक्तकार, नारद एवं अभिनव आदि शान्त के समर्थकों की ओर दृष्टिपात करते हुए शारदातनय कहते हैं कि यदि किसी प्रकार शान्त का उत्कर्ष हो भी जाये, तो उसके कुछ विशेष विभाव आदि के उपस्थित होने से ही ऐसा होगा ।[६] किन्तु इसके पश्चात् ही शारदातनय ने शान्त में अनुभावों के अभाव का भी कथन किया है। इसी अभाव के कारण, शान्त की सत्ता होने पर भी नाट्य में उसकी अनुपयोगिता सिद्ध ही है ।[७]

---

१. निर्वेदादिताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायेव तत्पोषस्तेनाष्टो स्थायिनो मताः ॥ — द० रू३ ४।३६.

२. भा० प्र० पृ० ४७, पं० ८–९.

३. निर्वेदस्थायिभात्रोऽपि शान्तोऽपि नवमो रसः । — का० प्र० ४।३५.

४. मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां, 'प्रतिकूलविभावादिग्रहः' इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च, ब्रुवाणः स्ववचनविरोधेन प्रतिहत इति । — ना० द० ३।२८ (सू० १८३)

५. ना० शा० चो० ६।८३ ; भा० प्र० पृ० २६ पं० ५–६ ; पृ० ४६ पं० २१-२२; पृ० ४७ पं० १०.

६. भा० प्र० पृ० १३५ पं० ५–२१.

७. वही पृ० १३६ पं० १–१०.

शान्त-सहित शृंगार आदि नव रसों के अतिरिक्त भी कतिपय अन्य रसों को विभिन्न विद्वानों ने साहित्य-क्षेत्र में स्वीकार किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्नेह, दुःख, सुख, लौल्य, व्यसन, उदात्त, उद्धत आदि अनेक नवीन रसों की उद्भावना की है। किन्तु इनका अन्तर्भाव पूर्व वर्णित शृंगार आदि रसों में सम्भव होने के कारण इन रसों को स्वीकार करने में शारदातनय ने किंचित् मात्र भी औचित्य नहीं समझा होगा। विश्वनाथ ने 'वत्सल' रस को 'मुनीन्द्र-सम्मत' कहकर उसे भरत-सम्मत मान लिया है, किन्तु यह युक्ति-संगत नहीं है। भरत जब नवें रस शान्त को ही स्वीकार नहीं करते, तब दसवें रस 'वत्सल' को कैसे स्वीकार कर सकते हैं? और फिर वत्सल का उल्लेख तो भरत ने कहीं भी नहीं किया है। अतः वत्सल के विषय में भरत के मत की प्रामाणिकता का आधार, जो विश्वनाथ ने ग्रहण किया है, स्वतः ही खण्डित हो जाता है। अग्निपुराण से प्रवाभित होकर विश्वनाथ ने रस का मूल-तत्त्व 'चमत्कार' माना है।[1] अन्य अनेक विद्वानों के द्वारा 'चत्कार' को भी एक रस माना जाने लगा था।[2] किन्तु इसका अन्तर्भाव अद्भुत में हो जाने के कारण ही सम्भवतः शारदातनय ने 'चमत्कार' की परिगणना की आवश्यकता नहीं समझी होगी।

रूपगोस्वामी ने माधुर्य एवं भक्ति रस की स्थापना की है। उन्होंने पाँच प्रकार की भक्ति के आधार पर भक्ति रस के पाँच भेदों का भी निरूपण किया है।[3] यहाँ भक्ति रस का स्थायी भाव 'शान्त' बताया गया है, जो युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि भक्ति आ आधार तो प्रेम भी हो सकता है। शान्त में प्रेम का स्थान कहाँ? इसके अतिरिक्त माधुर्य रस का अन्तर्भाव शृंगार में ही हो जाता है। अतः शारदातनय ने माधुर्य एवं भक्ति रस की परिकलपना ही नहीं की।

'संगीत-सुधाकर' के प्रणेता हरिपाल ने सम्भोग, विप्रलम्भ, ब्राह्य, शान्त एवं वात्सल्य को शृंगार आदि आठ रसों में सम्मिलित करके त्रयोदश रसों का

---

१. (क) आनन्द, सरसस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्कार रसाह्वयाः॥ — अ० पु० ३३९।२.
(ख) रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूते।
— हि० सा० द० चो० परिच्छेद ३, पृ० ७०.

२. Some concepts cf the Alam8ara Sastra.
— Dr. V. Raghvan, page. 268-271.

३. मुख्यस्तु पंचधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः ॥ — हरि० रसा० सिं० ५.

प्रतिपादन किया है।[1] इनमें से सम्भोग एवं विप्रलम्भ तो शृंगार के ही भेद हैं। वात्सल्य का अन्तर्भाव भी बाल-विषयक रति में हो सकता है। शान्त की अनुपयोगिता पहले ही सिद्ध की जा चुकी है। अब शेष रहा ब्राह्य रस। यद्यपि ब्राह्य रस का स्थायी भाव 'आनन्द' को बताते हुए हरिपाल ने उसे शान्त से भिन्न ठहराने का प्रयास किया है,[2] किन्तु ब्राह्य एवं शान्त के आधार में साम्य स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्य का अन्तर्भाव देव-विषयक रति में भी सम्भव हो सकता है। अत: शृंगार आदि आठ रसों के अतिरिक्त सम्भोग आदि पाँच रसों की जो स्वीकृति हरिपाल ने प्रस्तुत की है, उससे शारदातनय सहमत नहीं जान पड़ते।

भानुदत्त ने कुछ अन्य नवीन रस-भेदों की कल्पना की, यथा—अभिमुख, परिमुख तथा विमुख, स्वाप्निक, मानोरथिक तथा औपनयिक।[3] किन्तु शारदातनय के रस-विवेचन में इस प्रकार के रस-विभागों को स्थान प्राप्त नहीं हुआ है क्योंकि इनमें से किसी को निर्विवाद रूप से 'रस' की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती। अभिमुख तो रस की एक दशा है। परिमुख तथा उसके दो भेद—भावमुख एवं अलंकारमुख भी रस के अन्तर्गत नहीं आते; वे तो भाव एवं अलंकार के अन्तर्गत परिगणित होने चाहिए। विमुख में तो विभाव आदि का ही पता नहीं चल पाता। फिर विभाव आदि से हीन 'रस' कैसे हो सकता है? इसके पश्चात् भानुदत्त ने जो स्वाप्निक आदि भेद निरूपित किए हैं, उन्हें अलौकिक कहकर शृंगार आदि को लौकिक बताया है। यह भी सर्वथा अनुचित है। प्राचीन परम्परा तो रस को अलौकिक एवं ब्रह्मानन्द से युक्त मानती आई है। भानुदत्त ने शृंगार आदि को लौकिक की श्रेणी में रखकर उस समादृत परम्परा का निरादर ही किया है। यदि

---

१. शृंगारो हास्यनामा च बीभत्सः करुणस्थता।
वीरोभयानकाह्वानो रौद्राख्योऽद्भुतसंज्ञकः॥
शान्तो वाह्याभिधः पश्चाद् वात्सल्याख्यस्ततः परम्।
सम्भोगो विप्रलम्भः स्याद् रसास्त्वेते त्रयोदश॥
— संगीत सुधाकर (Madras M. S. R. No. 3082, Ch. IV. page. 16.

२. आह्लाद; प्रथमं नर्म जुगुप्सा शोक एव च॥
उत्साहदैन्य क्रोधोऽथ विस्मयस्तदनन्तरम्।
निर्वेदश्च तथानन्दः प्रीती रत्यरती तथा॥
प्रत्येकं स्थायिनो भावाः क्रमाम् प्रत्येकमीरिताः॥
— संगीत सुधाकर (Madras Ms. R. No. 3082, Ch. IV. page. 17.

३. र० त० पृ० १२१-१२४, १८१.

भानुदत्त के अनुसार स्वप्निक आदि को अलौकिक मान भी लिया जाए, तो स्वप्न भी तो लौकिक अनुभूतियों की प्रतिक्रिया मात्र है। तब स्वाप्निक नामक रस-भेद को अलौकिक कैसे माना जा सकता है ? 'मनोरथिक' को भी रस की स्थिति में नहीं पहुँचाया जा सकता है। ऐसा करने पर तो रसों की संख्या निश्चित न रहकर अनियमित हो जाएगी क्योंकि संसार में व्यक्तियों के असंख्य मनोरथ तथा आकांक्षाएँ होती हैं, अतः इस प्रकार तो अव्यवस्था-दोष उत्पन्न हो जाएगा। 'औपनयिक' भी लौकिक कल्पना-व्यापार ही है। अतः स्वाप्निक आदि रस-भेद न तो अलौकिक ही हैं और न ही रसत्व से युक्त हैं। ऐसे व्यर्थ के भेदों का निरूपण करने की कल्पना ही शारदातनय ने नहीं की।

समय-समय पर अन्य अनेक रसों की परिगणना होती रही, यथा—प्रेयस, मृगया, अक्ष, माया, व्रीडनक, कार्पण्य, प्रक्षोभ, प्रेम, कान्ति, विषाद आदि। किन्तु इनमें से कुछ का अन्तर्भाव पूर्व वर्णित शृंगार आदि रसों में सरलता से किया जा सकता है ; कुछ रसाभास अथवा भावाभास के अन्तर्गत आए हुए वर्णनों के नाम पर 'रस' कहे जाने लगे थे। अतः उनको रस मानना सर्वथा निरर्थक एवं अनुपयुक्त है। इतने रसों की परिगणना काव्यक्षेत्र में सम्भवतः इसलिए होने लगी थी कि इनके समर्थक रस के मूल स्वरूप को तो तद्रूप में समझ नहीं सके ; बस उन्होंने विभिन्न मनोवृत्तियों एवं रुचियों को रस मानना प्रारम्भ करके व्यर्थ ही संख्या-वृद्धि कर दी।

वाचिक आदि के भेद से शृंगार आदि रसों के जो विभाग शारदातनय ने प्रस्तुत किए हैं, उनका प्रतिपादन समीक्षात्मक दृष्टिकोण के आधार पर किया है।

शृंगार के भेद—भरत ने शृंगार को उज्ज्वलवेषयुक्त, पवित्र तथा दर्शनीय कहा है।[1] शारदातनय शृंगार को उत्तम एवं श्रेष्ठ मानते हैं।[2] इसीलिए शृंगार की गणना सर्वप्रथम करना न्यायसंगत ही है।

नायक-नायिका के सम्बन्धों के आधार पर शृंगार के सर्वप्रथम दो भेद किए जा सकते हैं—संयोग एवं वियोग (विप्रलम्भ)। ये भेद अत्यधिक प्रचलित एव प्रसिद्ध हैं। किन्तु अधिक प्रचलित वस्तु से हट कर कोई नई बात कहना शारदातनय को अधिक प्रिय है, ऐसा प्रतीत होता है। उन्होंने अभिनय के आधार पर शृंगार के तीन भेद निरूपित किए हैं—वाचिक, नेपथ्यात्मा (आंगिक) एवं क्रियात्मक। भावगर्भ, एकान्तयुक्त, मधुर नर्म, पेशल, सुवृत्त, सुनने में आनन्ददायक शृंगार,

---

१. ना० शा० चौ० अध्याय ६ पृ० ७३.

२. भावानामुत्तमं यत्तु तच्छृगं श्रेष्ठमुच्यते।
इयन्ति शृंग यस्मात्तु तस्माच्छृंगार उच्यते ॥ – भा० प्र० पृ० ४८ पं० ७-८.

'वाचिक' होता है। वस्त्र, अंगराग, भूषा, मालाओं से युक्त, प्रसाधनयुक्त, यौवनयुक्त अंगों वाला शृंगार 'आंगिक' अथवा 'नेपथ्यज' होता है। दन्तच्छेद, नखच्छेद, सीत्कार, चुम्बन, चूषण, लाव-हाव-हेला आदि, केलि, शयन आदि उपचार, संगीत-क्रिया इत्यादि लक्षणों से युक्त शृंगार 'क्रियात्मक' होता है।[1]

भरत धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के आधार पर शृंगार के भेदों का वर्णन करते हैं। धर्म का पालन करने के कारण इच्छित अथवा प्रार्थित वस्तु की सम्यक् प्राप्ति होने पर 'धर्म-काम' होता है। 'अर्थकाम' में अर्थ-प्राप्ति होती है या फिर अर्थ की प्राप्ति को ही ध्यान में रखते हुए स्त्री-सम्भोग किया जाता है। तीसरा है—'काम-शृंगार, इसमें कन्या को मोहित करने रमण इत्यादि करके का वर्णन हुआ है। मोक्ष प्राप्ति की इच्छा की पूर्ति होने पर 'मोक्ष-शृंगार' होता है।[2]

भरत द्वारा निर्दिष्ट 'धर्म-शृंगार' को शारदातनय 'भोग-शृंगार' कहकर पुकारना अधिक उपयुक्त समझते हैं, क्योंकि इसमें व्रतनियमादि का पालन करते हुए भोग के फलस्वरूप पुत्रादि-सुख की प्राप्ति होती है।[3] भरत-सम्मत 'अर्थ-शृंगार' के दो रूपों को एक में मिलाकर प्रस्तुत करना शारदातनय अधिक उपयुक्त समझते हैं। उनके अनुसार जिसमें अर्थावाप्ति होती है, तथा जो विभव, भोग, आस्वादयुक्त एवं सुखकारी होता है, वह 'अर्थ-शृंगार' कहलाता है।[4] उन्होंने 'काम-शृंगार' को 'ललित' की संज्ञा प्रदान की है, जिसके अन्तर्गत परस्त्री प्रेम, द्यूत, मदिरापान, मृगया, केलिक्रीड़ा, विभिन्न विषयों के आस्वादन का सुख इत्यादि आते हैं।[5] धर्म-अर्थ और काम—ये तीन भेद तो शारदातनय ने निरूपित किए हैं।[6] किन्तु मोक्ष-शृंगार का वर्णन उन्होंने नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे धर्म और मोक्ष का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मानकर केवल धर्म-शृंगार का ही वर्णन करना उचित समझते हैं। इसके अतिरिक्त उनके विचार से मोक्ष और शृंगार का परस्पर क्या

---

१. भा० प्र० पृ० ६४ पं० ३–४ ; १६–२२ ; पृ० ६५ पं० १–४.

२. ना० शा० चो० २०।७७–७६.

३. व्रतनियमतपोयोगाद्यस्मिन्बहुधा निवेशितः कामः।
पुत्रादिलोगसुखकृत्स ज्ज्ञेयो भोग (धर्म) शृंगारः ॥
— भा० प्र० पृ० २४६, पं० २०-२१.

४. अर्थावाप्तिर्यस्मिन्कामेन निवेशितेत सम्भवति।
तदधीनविभवभोगास्वादसुखेनार्थ शृंगारः ॥
—भा० प्र० पृ० २४६, पं० २२–२३.

५. परदारद्यूतसुरामृगयाद्यास्वादकेलिविनिविष्टः।
तत्तद्विषयास्वादनसुखललितः कामशृंगारः ॥ – भा० प्र० पृ० २५०, पं० १-२.

६. शृंगारत्रितयं यत्र .... । – भा० प्र० पृ० २५०, पं० ४.

सम्बन्ध ? मोक्ष और श्रृंगार का पथ कितना भिन्न है ? और फिर श्रृंगार मोक्ष-प्राप्ति का साधन कैसे बन सकता है ? इसलिए वे मोक्ष श्रृंगार के विषय में भरत के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि 'मोक्ष-प्राप्ति के प्रयत्न से मोक्ष-श्रृंगार की सिद्धि होती है।' मोक्ष प्राप्ति का साधन क्या श्रृंगार ही रह गया है ? और जैसा कि भरत ने मोक्ष श्रृंगार का सम्बन्ध ज्ञानी, संन्यासी व कर्मयोगी से माना है, शारदातनय को यह उचित नहीं जान पड़ता कि श्रृंगार का सम्बन्ध संन्यासी-ज्ञानियों से जोड़ा जाए। मोक्ष के साथ श्रृंगार का सम्बन्ध स्थापित करना हास्यास्पद-सा भी जान पड़ता है। भरत की मोक्ष-श्रृंगार विषयक मान्यता आगे चलकर सर्वप्रिय सिद्ध नहीं हुई।

भोज ने श्रृंगार को नायक-नायिका के सम्बन्धों से युक्त नहीं माना है, अपितु इसके मूल में केवल अहंकार-वृत्ति की सत्ता स्वीकार करते हैं। शारदातनय ने अहंकार को स्वीकार करने के साथ-साथ, श्रृंगार का सम्बन्ध नायक-नायिका से भी माना है। वे भोज[1] के समान अहंकार को श्रृंगार का पर्याय नहीं मानते, अपितु अग्निपुराण की भाँति उन्होंने रस को अहंकार का विवर्तित रूप ही माना है। भोज ने धर्म-श्रृंगार को मोक्ष-श्रृंगार का ही अल्परूप कहा है।[2] जबकि शारदातनय को मोक्ष-श्रंगार तो अभिप्रेय है ही नहीं, और धर्मश्रृंगार को उन्होंने 'भोगश्रृंगार' कहना अधिक उपयुक्त समझा, इससे उनकी मौलिक कल्पनाशक्ति का परिचय मिलता है।

भोज ने रस को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—रूढ़हंकारता, ४९ भावों को उपचार द्वारा रस नाम से अभिहित करना तथा प्रेमन् रस।[3] अहंकार के साथ-साथ प्रेमन् रस को भी वे श्रंगार का पर्यायवाची मानते हैं। उनकी इस परिकल्पना में मौलिकता के तो दर्शन कम, अव्यवस्था के अधिक होते हैं। अतः इस अव्यवस्थित मौलिकता की लीक से हटना ही शारदातनय को श्रेयस्कर प्रतीत हुआ होगा। उपर्युक्त कोटियों का विभाजन कोई सर्वथा नवीन तथ्य उपस्थित नहीं करता। क्योंकि प्रथम श्रेणी में जो 'रूढ़' भाव है, वह भरतादि की 'वासना' के ही समान है। दूसरी श्रेणी में ४९ भावों को रस नाम से अभिहित करने में भी वैज्ञानिकता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि इन ४९ भावों में सम्मिलित विभिन्न सात्त्विक

---

१. (क) रसोऽभिमानोऽहंकारः श्रृंगार इति गीयते। —सं० कं० भ० ५।१.
(ख) स श्रृंगारः सोऽभिमानः स रसः। — श्रृंगार प्रकाश, पृ० ४७५.

२. शोधप्रबन्ध—डा० राघवन, पृ० ४८५-७।

३. रसन्त्विह प्रेमाणमेवामनन्ति सर्वेषामपि हि रत्यादिप्रकर्षाणां रतिप्रियो रणप्रियोऽमर्षप्रियः परिहासप्रिय इति प्रेम्यैव पर्यवसानात्।
— श्रृं० प्र० (रा०) पृ० ४६३.

भाव, संचारीभाव, स्थायीभाव आदि के स्वरूप व कार्य पृथक्-पृथक् है। तीसरी श्रेणी में प्रेमन् अथवा श्रृंगार में जो सब रसों का अन्तर्भाव किया है, वह स्पष्ट रूपेण पक्षपातयुक्त है। इस अन्तर्भाव को स्वीकार करने से समस्त लौकिक व्यवहारों का किसी भी प्रकार का वर्गीकरण फिर निरर्थक हो जाएगा। सम्भवतः इसी विपत्ति को ध्यान में रखते हुए शारदातनय भोज के इस कोटिविभाजन से प्रभावित नहीं हुए होंगे।

श्रृंगार के विषय में शारदातनय ने भोज से कहीं अधिक अग्निपुराण का अनुमोदन किया है। डा० राघवन के विचार से अग्निपुराण भोज के बाद की रचना है क्योंकि उनके अनुसार उसमें भोज के समान ही अहंकार-सिद्धान्त का परिपोष किया गया है। किन्तु इसी आधार पर अग्निपुराण को भोज के बाद का नहीं ठहराया जा सकता। अहंकार को आत्मा का विकार मानने हुए अग्निपुराणकार[1] भोज का पूर्णरूपेण अनुकरण करते हुए अभिलक्षित नहीं होते। क्योंकि भोज अहंकार से रति के अतिरिक्त सभी भावों की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त अग्निपुराणकार अहंकार और श्रृंगार को पर्यायवाची नहीं मानते, जैसा कि शारदातनय ने भी स्वीकार किया है। जहाँ तक अहंकार-सिद्धान्त के प्रतिपादन का प्रश्न है, तो क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि भोज ने ही अग्निपुराण का अनुकरण किया हो। अग्निपुराण के अनुसार अहंकार से अभिमान तथा अभिमान से 'रति' की उत्पत्ति होती है। यही रति परिपुष्ट होकर 'श्रृंगार' कहलाती है। रति में ही हास आदि का समावेश हो जाता है, क्योंकि वे हास आदि इसी रति के ही इतर भेद हैं।[2] भोज अग्निपुराण की भाँति अहंकार से रति का जन्म तो स्वीकार करते ही हैं; साथ ही वे रति के अतिरिक्त अन्य सभी भावों की भी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। अतः पर्याप्त सीमा तक भोज ने अग्निपुराण का अनुसरण किया है। अग्निपुराण को तो भरत से भी पूर्व का मानना युक्तिसंगत है। शारदातनय ने भरत व भरत से पूर्ववर्ती परम्परा को सदैव समादृत किया है, इसलिए उनका अहंकार-विषयक मान्यता भोज से अधिक अग्निपुराण से अधिक मिलती-जुलती है, तो क्या आश्चर्य है ?

हास्य के भेद—शारदातनय ने हास्य रस की उत्पत्ति श्रृंगार रस से स्वीकार की है।[3] इस विषय में उन्होंने अग्निपुराण और भरत के मत को मान्य

१. आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः। – अग्निपुराण, अध्याय ३३९।३.

२. अभिमानाद् रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्याते श्रृंगार इति गीयते॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः। – अग्निपुराण, अध्याय ३३९।४-५.

३. श्रृंगारस्यानुकरणं हास्य इत्यभिधीयते। – भा० प्र० पृ० ५५, पं० १०.

किया है ।[1] वासुकि के मत का प्रतिपादन करते हुए शारदातनय कहते हैं कि श्रृंगार-सम्बन्धी प्रीति में से उद्‌भूत होने वाला चित्त का विकार ही हास्य का साधन है । उन्होंने ललिताभास के साथ विभिन्न भावों के उत्कर्ष से प्रभावित रजोगुण व तमोगुण से हास्य की उत्पत्ति को सम्बद्ध किया है ।[2] परन्तु नारद रज से हीन सत्व गुण से हास्य का सम्बन्ध बताते हैं ।[3] अभिनवगुप्त 'आभास-सिद्धान्त' के द्वारा हास्य की सिद्धि मानते हैं । उन्होंने शोक की अवस्था को भी हास्य में परिणत किया है ।[4]

शारदातनय ने हास्य के सर्वप्रथम दो भेद माने हैं—स्वाश्रय के भेद से तथा पराश्रय के भेद से ।[5] इन दोनों भेदों में भरत द्वारा निर्दिष्ट हास्य के आत्मस्थ एवं परस्थ[6] का अन्तर्भाव हो जाता, अतः इन दोनों को पृथक् से मानने की आवश्यकता शारदातनय ने नहीं समझी होगी । हां, भरत के अनुसार प्रकृति के भेद से हास्य के छः प्रकार के विभाग शारदातनय ने प्रतिपादित किए हैं । इनमें स्मित एवं हसित वरिष्ठ (उत्तम) प्रकृति के पुरुषों में, विहसित एवं उपहसित मध्यम प्रकृति के पुरुषों में तथा अपहसित एवं अतिहसित अधम (नीच) पुरुषों में होने चाहिए ।[7]

इनके अतिरिक्त शारदातनय ने वाचिक, नेपथ्यज एवं आंगिक के भेद से तीन विभाग भी किए हैं ।[8] जिनकी प्रेरणा उन्होंने भरत से ही ली होगी ।[9] जो प्रहसन वाक्य होते हैं, उन्हें वाचिक हास्य कहा जाता है । विपर्यय द्वारा जो निक्षेप, माल्याभरण, वस्त्रधारण किया जाता है वह हास्य नेपथ्यज होता है । भरत द्वारा प्रयुक्त 'विकृति' शब्द का अन्तर्भाव इस में हो जाता है । अंगों का जो विकट

१. अग्निपुराण ३३९।७, ९ ; ना० शा० चो० ६।३९-४०.

२. भा० प्र० पृ० ४४, पं० १-५.

३. तस्मादेव रजोहीनात्समत्वाद्धास्य सम्भवः । — भा० प्र० पृ० ४७, पं० १५.

४. एवं यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्रयोज्यम् ।
— अभि० भा० भाग १, पृ० २९६.

५. स्वपराश्रयभेदेन स द्विधा परिकल्प्यते । — भा० प्र० पृ० ६० पं० १.

६. यदा स्वयं हसति तदा आत्मस्थः । यदा तु परं हासयति तदा परस्थः ।
— ना० शा० चो० सं०, पृ० ७४.

७. भा० प्र० पृ० ६०, पं० २-५.

८. हास्योऽपि त्रिप्रकारः स्याद्वाङ् नेपथ्यांगभेदतः । – भा० प्र० पृ० ६४, पं० ५.

९. ना० शा० चो० ६।९७.

अभिनय देखा जाता है, तथा स्वभाव से जो कपटपूर्ण होता, वह आंगिक हास्य होता है।[1]

हास्य के जिन दो भेदों को शारदातनय स्वाश्रय हास्य तथा पराश्रय हास्य कहते हैं तथा भरत ने जिन्हें आत्मस्थ एवं परस्थ कहा है, उन्हीं को कहीं स्वसमुत्थ तथा परसमुत्थ भी कहा गया है। किन्तु तात्पर्य सबका एक ही है। हां, पण्डितराज जगन्नाथ ने इन दोनों भेदों की व्याख्या भरत से भिन्न रूप में की हैं। उनके अनुसार हास्य-विषय के अवलोकन से आत्मस्थ हास्य की तथा दूसरे व्यक्ति को हंसता देखकर परस्थ हास्य की उत्पत्ति होती है।

प्रकृति के भेद से जो छः भेद भरत ने स्मित हसितादि निरूपित किए हैं, उनमें से केवल चार ही रुद्रट ने स्वीकार किए। उन्होंने उपहसित तथा अपहसित को सम्मिलित नहीं किया। भोज ने इन दो के साथ-साथ अतिहसित को भी निकाल कर केवल तीन—स्मित, हसित और विहसित को ही स्वीकार किया। परन्तु शारदातनय को विस्तार एवं स्पष्टता प्रिय प्रतीत होती है, इसीलिए उन्होंने इन छः भेदों को उत्तम, मध्यम एवं अधम प्रकृतियों के आधार से विभक्त करके भरत के मत को ही समादृत करना उचित समझा। वैसे सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य में जहाँ कहीं भी हास्य का वर्णन हुआ है, वह मुख्य रूप से शारीरिक-संचालन के ही आधार पर हुआ है, यह निर्विवाद है।

वीर के भेद—अग्निपुराण एवं भरत की भाँति शारदातनय ने भी वीर रस को प्रधान चार रसों में से एक स्वीकार किया है।[2] भरत ने वीर रस के युद्धवीर, दानवीर एवं धर्मवीर—तीन भेदों का निरूपण किया है। यहाँ पर शारदातनय का मत भरत से कुछ भिन्न तथा भोज एवं भानुदत्त के अनुरूप है। वे युद्धवीर, दयावीर एवं दानवीर—ये तीन भेद प्रतिपादित करते हैं।[3] विश्वनाथ इन तीनों के साथ धर्मवीर को भी मानकर वीर रस के चार विभाग स्वीकार करते हैं। परन्तु जब

---

१. यद्यत्प्रहसनं वाक्यं स हास्यो वाचिकः स्मृतः।
विपर्ययेण निक्षेपो माल्याभरणवाससाम् ॥
यः स नेपथ्यजो हास्य इति निर्णीयते बुधैः।
विकटाभिनयत्वं यदंगानामवलोक्यते ॥
स्वभावाद्वाऽथकपटात्स हास्यस्त्वांगिको भवेत्।
— भा० प्र० पृ० ६५, पं० ५-९

२. अ० पु० ३३९।७–९ ; ना० शा० चो० ६।३९ ; भा० प्र० पृ० ५५, पं० ११, १४.

३. वीरो युद्धदयादानभेदेन त्रिविधो मतः ॥ — भा० प्र० पृ० ६४, पं० ६.

दयावीर और दानवीर को स्वीकार कर लिया, तो धर्मवीर को मानने की विशेष आवश्यकता शारदातनय ने नहीं समझी होगी ; क्योंकि दया एवं दान को मान लेने से धर्म का स्वतः ही प्रतिपादन हो जाता है। वैसे महाभारत में शूरवीरों के अनेक भेदों का उल्लेख मिलता है यथा—सत्यशूर, युद्धशूर, यज्ञशूर, दानशूर, बुद्धि-शूर, क्षमाशूर, योगशूर, सांख्यशूर, दमशूर, अरण्यशूर, त्यागशूर, शमःशूर, नियम-शूर, वेदाध्ययनशूर, अध्यापनशूर, आर्जवशूर, गुरुशुश्रूषाशूर, पितृशुश्रूषाशूर, मातृ-शुश्रूषाशूर, भेक्ष्यशूर तथा अतिथिशूर, आदि।[1] अभिप्राय यह है कि जिसका मन जिसके प्रति प्रभावित हुआ, वहीं शूर-वीर के एक भेद की सृष्टि हो गई।

उपर्युक्त इन सब अटपटे भेदों के मूल में सम्भवतया यह भावना रही होगी कि किसी व्यक्ति को अमुक विषय में असाधारण रूप से वीरता एवं योग्यता प्राप्त है, तो वह उस विषय में शूर-वीर हो गया। किसी भी विषय में कोई व्यक्ति तभी प्रवृत्त होगा, जब उसे उसमें अत्यधिक साहस, लगन एवं उत्साह हो। यहीं पर एक दोष उत्पन्न हो जाता है कि संसार में जितने भी असंख्य विषय हैं, उतने ही असंख्य भेद वीर रस के होते चले जायेंगे। और ऐसी स्थिति में रस की प्रभावशीलता समाप्त हो जाएगी ; साथ ही वे काव्य की दृष्टि से भी रसास्वाद्य नहीं होंगे। यथा अध्ययन वीर, लेखकवीर, विरहवीर आदि में प्रभाव की सृष्टि और रसास्वाद कोई विशेष नहीं होता। अतः सम्भवतः इस व्यर्थ की प्रभावहीनता एवं अतिव्याप्ति दोष से बचना ही शारदातनय ने श्रेयस्कर समझा होगा, तथा फलस्वरूप वीर के तीन भेद युद्धवीर,[2] दानवीर[3] एवं दयावीर[4] का ही प्रतिपादन किया, जिनमें प्रभावशीलता एवं रसास्वाद—दोनों ही यथेष्ट रूप में विद्यमान हैं।

१. The Number of Rasas — Dr. V. Raghavan. Page. 76–77.

२. निरायुधस्याप्येकस्य हीनस्यापि परिच्छदेः ।।
अभीतिर्बहुभिर्योद्धुं व्यवसायो रणे मदः।
हर्षः शस्त्रास्त्रघातेषु समरादपलायनम् ।।
भीताभयप्रदानं च प्रपन्नस्यार्तिभंजनम् ।
एवं युद्धात्मको वीरः तज्ज्ञैः कविभिरीतः ।। — भा० प्र० पृ० ६५, पं० १०-१४.

३. अर्थिनामीप्सितादर्थात्प्रदायेभ्योऽधिकं बहु ।
अर्थिनः पुनरायातान् स्वजनानितरानपि ।।
यन्मानयति दानेन वाक्येन मधुरेण च ।
एतद्दानात्मको वीरः कथ्यते दानशीलिभिः ।। — भा० प्र पृ० ६५, पं० १५-१८.

४. व्याधिदारिद्र्यशस्त्रास्त्रक्षुत्पिपासादिपीडितान् ।
अनुगृह्णाति यः प्रीत्या स वीरः स्याद्दयात्मकः ।।

— भा० प्र० पृ० ६५, पं० १९-२०.

सत्यशूर अथवा सत्यवीर को भी पृथक् से मानने में कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि इसका अन्तर्भाव धर्म में हो जाता है। भक्तिवीर को भी वीर भेद के रूप में नहीं रखना चाहिए क्योंकि भक्ति करने में हृदय का उत्साह एवं वीरता प्रकट नहीं होती, अपितु प्रेम की भावना विद्यमान रहती है। श्रद्धावीर—नामक भेद भी हास्यास्पद प्रतीत होता है। श्रद्धा में तो नम्रता की प्रधानता रहती है, वीरता से श्रद्धा का क्या मेल ? 'अहिंसा वीर' के स्थान पर यदि हिंसावीर की सृष्टि हुई होती, तब तो कुछ संगत भी बैठ सकती थी ; क्योंकि अहिंसा को मानने वाला व्यक्ति वीर रस की चरम सीमा तक कैसे पहुँच पायेगा ? अहिंसा उसे रोक देगी। वीर रस में भरकर व्यक्ति हिंसात्मक कार्य तो कर सकता है। वैसे अहिंसावीर का अन्तर्भाव युद्धवीर में किया जा सकता है, क्योंकि भारतीय परम्परा युद्ध में अहिंसा को एक बहुत बड़ा अस्त्र मानती आई है। या फिर अहिंसावीर धर्मवीर में भी अन्तर्भावित हो सकता है क्योंकि 'अहिंसा परमोधर्मः'। 'क्षमावीर' दयावीर के अन्तर्गत आ सकता है।

भानुदत्त के अनुसार, दया के मूल में करुणा ही तो काम कर रही है इसलिए दयावीर का अन्तर्भाव करुण में मान लेना चाहिए, ऐसा मानना उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि करुणरस तथा दयावीर इन दोनों के स्थायी भाव भिन्न-भिन्न हैं।[1]

हेमचन्द्र ने त्यागवीर एवं तपोवीर—नामक दो भेदों को वीररस के अन्तर्गत ही बताया है, तथा इन दोनों भेदों को युद्धवीर से भी उत्तम कहकर उन्हें सर्वप्रमुख स्वीकार किया है।[2] परन्तु हमारे विचार में जो महत्व एवं प्रभाव युद्धवीर का हो

---

१. ननु दयावीरः कथं करुण एव नान्तर्भवति। निरूपाधिमरदुःखप्रहरणेच्छादया। सा च करुणया विना न सम्भवतीतिचेन्न। करुणस्य स्थायिभावः शोकः दयावीरस्य स्थायिभाव उत्साह इति। स्थायिभावभेदेन भेदात्। ननु दयावीर करुणरस प्रतीतेः का गतिरितिचेत्। सत्यम्। करुणया विना दयावीरस्याऽनुभवादिति करुणायास्तत्रानुभावकत्यादिति ॥ — र० त०, पृ० ४०-४१.

२. अत्र तु त्यागतपोगुणो वीररसे वर्तते। त्यागतपसी च त्यागोगुणो गुणशता दधिको मतो मे परं लोकातिगं धाम तपः श्रुतमिति द्वयम् इत्यादि वचनात् समस्तगुणप्रधानइत्यनया विवक्षया वीररसस्य आदावुपन्यासः तथा कश्चिद्रसः उपघातलक्षणेन सूत्रदोषेण निर्वर्त्यते, यथा —

स एव प्राणिति प्राणी प्रीतेन कुपितेन च।
वित्तैर्विपक्षरक्तैश्च प्रीणिता येन मार्मणाः ॥

इत्यादि प्रकारं सूत्रं परोपघातलक्षणदोषदुष्टम्, वीररसश्चायम्। ततो नेन उपघातलक्षणेन सूत्रदोषेण वीररसोऽत्र निर्वृत्तः। ... तपोदानविषयस्य वीररसस्य प्रशान्तादिरसानां क्वचिदनृतादिदोषोन्तरेणापि निष्पत्तेरिति।

— The Number of Rasas, Page. 152-153.

सकता है, वह त्यागवीर एवं तपोवीर का नहीं। क्योंकि युद्ध करने की प्रवृत्ति के मूल में उत्साह स्थायीभाव स्थित है, जो हृदय प्राकृतिक रूप से विद्यमान रहता है; जबकि तप व त्याग तो जन्म से वासना के रूप में हृदय में स्थित नहीं रहते, इन्हें तो मनुष्य व्यावहारिक जगत् में विचरण करते हुए अर्जित करता है।

उपर्युक्त विवेचन में वर्णित वीर के अनेक भेदों की परिगणना से वीर रस का महत्व कम और अव्यवस्था अधिक परिलक्षित होती है। अतः इस व्यर्थ के विस्तार तथा अव्यवस्था-दोष में न पड़कर शारदातनय ने वीर रस के जो तीन भेद—युद्धवीर, दयावीर एवं दानवीर प्रतिपादित किए हैं, वे ही यथेष्ट एवं पर्याप्त हैं।

अद्‌भुत के भेद—वीर रस से अद्‌भुत की उत्पत्ति होती है।[1] अद्‌भुत शब्द की व्युत्पत्ति भी शारदातनय ने निर्दिष्ट की है।[2] इन्होंने अन्य रसों के समान ही अद्‌भुत भी तीन प्रकार का—मानसिक, आंगिक तथा वाचिक के भेद से स्वीकार किया है। मानसिक अद्‌भुत में ध्यान, नयनविस्तार, प्रसादयुक्त मुख तथा मन, आनन्दाश्रु, रोमांच, निर्निमेष दृष्टि, अनिश्चल मन इत्यादि का समावेश उन्होंने किया है। आंगिक अद्‌भुत के अन्तर्गत चेलांगुलिभ्रमण, उठ-उठकर प्रशंसा (वन्दना) करना दानप्रबन्ध, परस्पर आश्लेष तथा दोनों भुजाओं का परस्पर प्रहार करना इत्यादि आता है वाचिक अद्‌भुत में हाहाकार, साधुवाद, कपोल-स्फालन की ध्वनि, उच्च-हास, हर्षघोष, गीत तथा उच्चवचन आदि विकार होते हैं।[3]

भरत ने विभावों के आधार पर अद्‌भुत के केवल दो भेदों का निरूपण किया है—दिव्य एवं आनन्दज। दिव्य वस्तुओं के दर्शन से 'दिव्याद्‌भुत' तथा हर्षदायक वस्तुओं के दर्शन से 'आनन्दज अद्‌भुत' होता है।[4] शारदातनय ने जो दो भेद पृथक् रूप से स्वीकर किए हैं, वे सहज तथा आहार्य के नाम से अभिहित किए हैं।[5] इन्होंने तीन गुणों के आधार (त्रिगुणात्मक) पर भी अद्‌भुत के तीन अन्य भेद प्रतिपादित किए हैं।[6]

---

१. तस्मादेवाद्‌भुतो जातो रजोऽहंकारवर्जितात्। — भा० प्र० पृ० ४७, पं० १८.

२. अथ वैचित्र्य (?) इत्यस्य धातो रद्‌भुतनिर्वहः ॥
विचित्रा यस्य भवति चित्तवृत्तिस्ततोऽद्‌भुतः।
— भा० प्र० पृ० ४८, ४६ पं० २२, १.

३. भा० प्र० पृ० ६५ पं० २१-२२, पृ० ६६ पं० १-८.

४. दिव्यजश्चानन्दजश्चेव द्विधास्यातोऽद्‌भुतो रसः।
दिव्यदर्शनजो दिव्य हर्षानन्दश्च स्मृतः ॥ — ना० शा० ६।८२.

५. सहजाहार्यभेदेन स द्विधा परिकीर्तितः। — भा० प्र० पृ० ३५, पं० ३.

६. विस्मयश्चित्तवैचित्र्यं स त्रिधा त्रिगुणात्मकः ॥ — भा० प्र० पृ० ३५, पं० ४.

महादेव (सत्रहवीं शताब्दी) नामक लेखक ने अपने 'अद्भुत दर्पण' में अद्भुत का सर्वाधिक महत्व स्वीकार किया है ।[1] नारायण कवि के अद्भुत-विषयक विचारों को विश्वनाथ ने उद्धृत किया है, जहाँ सब रसों के मूल में अद्भुत की ही सत्ता स्थित मानी गई है ।[2] भानुदत्त ने भी अद्भुत को शृंगार का अंग स्वीकार किया है ।[3] वीर से तो अद्भुत का सीधा सम्बन्ध है ही । इस प्रकार के विभिन्न प्रमाणों के आधार पर कुछ विद्वानों के अनुसार अद्भुत रस सार्वत्रिक एवं सर्वप्रमुख है । परन्तु शारदातनय ने ऐसा नहीं माना है । सम्भवतः इसका यह कारण रहा हो कि अद्भुत को उत्पन्न करने वाले स्थायी भाव 'विस्मय' की मात्रा सदैव समान नहीं होती । उसकी अनुभूति में, विभिन्न व्यक्तियों के स्वभाव की भिन्नता के कारण अन्तर आ सकता है । यदि वह सार्वत्रिक होता, तो यह अन्तर नहीं होना चाहिए । इसके अतिरिक्त हास एवं शोकादि में विस्मय का अनुभव नहीं हो पाता ।

कालान्तर में अद्भुत के दृष्ट, श्रुत संकीर्तित एवं अनुमित के भेद से चार विभाग भी किए गए । इस प्रकार के विभाग शारदातनय को अभीष्ट नहीं हैं । प्रत्येक वस्तु को देखकर (दृष्ट) या सुनकर (श्रुत) ही तो विस्मय होता है ; सुनने पर अनुमान भी किया ही जाता है और जिस वर्णन को सुनाया जाएगा, उसका संकीर्त्तय (वर्णन) किया ही जाता है, इसलिए इन चारों भेदों का कथन करने में कोई नवीनता नहीं है । इसके अतिरिक्त शारदातनय द्वारा निर्दिष्ट भेदों में इन दृष्टादि चार भेदों का अन्तर्भाव भी सुगमतापूर्वक हो सकता है ।

रौद्र के भेद—अग्निपुराणकार, भरत तथा शारदातनय ने जिन चार रसों को प्रधान या जनक कहा है, उनमें से रौद्र भी एक है ।[4]

---

१. यत्सत्यमार्मितः स्तब्धेः इन्द्रियेरिन्द्रजालवत् ।
अद्भुतैकरसावृत्तिः अन्तर्मीलयतीवमाम् ॥
— The Number of Rasas. Page. 175.

२. चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपः विस्मयापरपर्यायः । पत्प्राणत्वं च अस्मात्पिता-महसहृदय गोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम् । तदाह धर्मदतः स्वग्रन्थे—

'रसे सारश्चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
तस्माददद्भुतमेवाह कृतिः नारायणो रसम् । इति ।'
— हि० सा० द०, परिच्छेद ३, पृ० ७०.

३. शृंगारादो चमत्कारदर्शनाद्यत्रमनोविकृतिरंगनया भासते तत्र शृंगारादय एव रसाः । प्रधान्येन यत्र भासते तत्राद्भुत एव रसाः । — र० त०, पृ० २८.

४. अ० पु० ३३९।७–६ ; ना० शा० ६।३९ ; भा० प्र० पृ० ५५ पं० १२, १४.

रौद्र के विभागों का निरूपण करने में शारदातनय भरत का अनुसरण करते हैं। भरत[1] की ही भाँति वे रौद्र रस के अंग, नेपथ्य तथा वाक् नामक तीन भेदों का उल्लेख करते हैं।[2] भरत ने बहुबाहु, बहुमुख, स्थूलकाय एवं विविध अस्त्रों से सुसज्जित आदि को अंग नामक रौद्र के लक्षण के रूप में वर्णित किया है। इस लक्षण को शारदातनय तनिक दूसरे ढंग से एवं विस्तार से कहते हैं। उन्होंने बहुमुख के स्थान पर बहुशिर कहा है। इसके अतिरिक्त अंग रौद्र के लक्षण में उद्धूत एवं पिंगल केश, उद्धत रक्तवर्ण नेत्र, सितेतर (कृष्ण वर्ण) आदि का समावेश स्वीकार किया है।[3] भरत ने नेपथ्य का प्रयोग वेषभूषा के लिए करते हुए 'नेपथ्य रौद्र' का लक्षण—'रक्त में आप्लावित शरीर (मुख) सिर तथा हाथ'—किया है। परन्तु शारदातनय ने यहाँ भी अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन ही प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार कृष्णरक्तवस्त्र, कृष्णरक्तानुलेपन, कृष्णरक्तमालायें तथा कृष्णरक्ताभूषणादि को धारण करना नेपथ्य रौद्र का स्वरूप बताया है।[4] वाचिक रौद्र का वर्णन करते हुए शारदातनय ने विशेष क्रियाओं का उल्लेख किया है, यथा—'काटो, मारो, छेद दो, भेद दो, इसे बांध लो, खा जाओ, में रुधिर पी जाऊँगा, पीस डालूंगा इत्यादि।'[5]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि शारदातनय ने यद्यपि भरत के अनुसार ही रौद्र के तीन भेद प्रतिपादित किए हैं; तथापि इन भेदों के लक्षणों का

१. ना० शा० चो० ६।७७.

२. अंगनेपथ्यवाग्भेदात्त्रिविधो रौद्र उच्यते ॥

— भा० प्र० पृ० ६४, पं० ८.

३. शिरोभिर्बहुभिः स्थूलैः केशैरुद्धूतपिंगलैः।
बाहुभिर्दीर्घैश्च बहुशस्त्रास्त्रधारिभिः ॥
उद्धृतरक्तनयनैर्महाकायैः सितेतरैः ।
एवं प्रकारो रौद्रोऽयमांगिकः कथ्यते बुधैः ॥

— भा० प्र० पृ० ६६, पं० ९–१२.

४. कृष्णरक्तानि वासांसि कृष्णरक्तानुलेपनम् ।
कृष्णरक्तानि माल्यानि कृष्णं रक्तं चभूषणम् ॥
एवं नेपथ्यजो रौद्र इति विद्वद्भिरुच्यते ।

— भा० प्र० पृ० ६६, पं० १३-१५.

५. छिन्धि भिन्धि बधानैनं खाद मारय ताडय ॥
पिबामि रुधिरं ते द्य पिनष्टीत्यादि युद्वचः ।
एतत्तु वाचिको रौद्र इति नाट्यविदीरितः ॥

— भा० प्र० पृ० ६६, पं० १६-१८.

वर्णन कहीं-कहीं भरत से भिन्न रूप में भी प्रस्तुत किया है। जिस भेद को भरत ने 'स्वभावज' कहा है, उसे शारदातनय 'वाचिक' कहकर पुकारते हैं।

नाट्यदर्पणकार रौद्र के विभागों का वर्णन प्रस्तुत करने के पक्ष में नहीं है, जिसका कोई विशेष कारण भी दृष्टिगोचर नहीं होता। रौद्र के विभागों का पृथक्-पृथक् कथन करके पुनः उनका समवेत रूप प्रदर्शित करते हुए शारदातनय ने स्वीकृत वर्णन को अपेक्षाकृत प्रभावशाली सिद्ध किया है।

रौद्र रस के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण, ध्यान देने योग्य बात यह है कि रौद्र के मूल में जो क्रोध स्थायीभाव स्थित है, वह भरत[1] की भाँति ही शारदातनय[2] ने भी शत्रु, मित्र, प्रिया, सेवक एवं पूज्यों के प्रति व्यंजित किया है। यह कहा जाय कि रौद्र का उपकारक जो क्रोध होता है, वह केवल शत्रु के प्रति ही पाया जा सकता है, अन्य प्रिया, भृत्य, पूज्य, मित्रादि के प्रति जो क्रोध होता है, वह तो क्षीण होता है। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है। इस विषय में शारदातनय का ही यह मत युक्तिसंगत है कि शत्रु के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के प्रति भी क्रोध की व्यंजना हो सकती है। क्योंकि लोक-व्यवहार में कभी-कभी परिस्थितियों वश शत्रु के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों यथा—भृत्य, प्रिया, मित्र, गुरु आदि के प्रति भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है, चाहे उस क्रोध की अभिव्यक्ति शब्दों द्वारा हो पाए अथवा क्रोध करने वाला अमुक व्यक्ति पर मन ही मन क्रोध करता रहे। उस क्रोध से तत्सम्बन्धी रस की सृष्टि तो हो ही जाएगी। इसके अतिरिक्त भृत्य, प्रिया, मित्र, पूज्यों आदि के प्रति जब क्रोध उत्पन्न हो जाता है, तो वे व्यक्ति फिर भृत्य, प्रिया, मित्रादि न कहलाकर 'शत्रु' की श्रेणी में ही तो आ जाते हैं। अतः क्रोध तो कभी-भी किसी के लिए भी उत्पन्न हो सकता है। अतः शारदातनय का 'शत्रुमित्रप्रियाभृत्यपूज्यादिष्वेव पंचधा' यह कथन उपयुक्त ही है।

करुण के भेद—यों तो विभावादि के आधार पर करुण के असंख्य भेद हो जायेंगे, परन्तु इस रस के भी आचार्यों ने सीमित भेद किए हैं। भरत ने धर्मोपघातज (धर्म के अनिष्ट का भय), अपचयोद्भव (अर्थ की हानि का भय) तथा शोककृत (शोक से उत्पन्न करुण) ये तीन भेद करुण के स्वीकार किए हैं।[3] किन्तु शारदातनय ने करुण के उपर्युक्त भरतकृत भेद स्वीकार नहीं किए हैं; क्योंकि इन तीनों में 'शोककृत' भेद ही प्रभावयुक्त प्रतीत होता है। वैसे इस भेद में भी कोई नवीनता नहीं है, क्योंकि शोक तो करुण का स्थायीभाव है ही। शेष दोनों को व्यभिचारियों

१. ना० शा० चो० पृ० ८२.
२. शत्रुमित्रप्रियाभृत्यपूज्यादिष्वेव पञ्चधा ॥ — भा० प्र० पृ० ७१ पं० ८.
३. ना० शा० चो० ६।७८, पृ० ७९.

के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। सम्भवत: इसीलिए भरत-सम्मत विभागों को अपने ग्रन्थ में स्थान देना शारदातनय को रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ होगा। वे करुण के मानस, वाचिक तथा कर्म-नामक तीन भेदों का प्रतिपादन करते हैं।[1] वाक्यार्थाननुसन्धान, निःश्वासोच्छ्‌वास की दीर्घता, केश, वस्त्र, अंग तथा संस्कारादि में उपेक्षा तथा दीनता, अनुभूत के प्रति अनभिज्ञता, अस्थिरचित्तता, सब विषयों से विरक्ति, स्नेहियों के प्रति भी अनिच्छा, आकाशवीक्षणता आदि लक्षण 'मानस करुण' के कहे गए हैं।[2] हाहाकार, रुदन, क्रोश, प्रलाप, दीर्घ-भाषण तथा दूर से ही आह्वान करके आक्रन्दन करना 'वाचिक करुण' के लक्षण होते हैं।[3] 'कर्म करुण' भी अनेक अनुभावों (चेष्टाओं) आदि से युक्त होता है।

करुण के भेदों के सम्बन्ध में शारदातनय जिस प्रकार भरत से सहमत नहीं हैं, उसी प्रकार भानुदत्त[4] द्वारा निर्दिष्ट स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ नामक भेदों की परिकल्पना करना भी उन्हें अभीष्ट नहीं था। स्वनिष्ठ में व्यक्ति अपने कष्टों से शोकाप्लावित होता है ; तथा परनिष्ठ जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, दूसरों के दुःख से द्रवित होना। इन दोनों भेदों के कथन में भी कोई नवीन तथ्य नहीं है। मनुष्य सदा या तो अपने दुःख से दुःखी होता है, या फिर दूसरों के शोक को देख कर करुणा से भर उठेगा। दूसरों के लिए भी वह तभी करुण होगा, जबकि वह सहृदय हो। इसलिए परनिष्ठ नामक भेद प्रत्येक मनुष्य पर घटित हो, यह आवश्यक नहीं। और शारदातनय ने जो लक्षण अपने किए गए भेदों के अन्तर्गत वर्णित किए हैं, वैसी चेष्टाएँ तो मनुष्य करुणा से पूर्ण होने पर अवश्य करेगा ही।

---

१. करुणोऽपि त्रिधा भिन्नो मनोवागंगकर्मभिः। — भा० प्र० पृ० ६४ पं० ९.

२. वाक्यार्थाननुसन्धानं निश्वासोच्छ्‌वासदीर्घता।
उपेक्षा केशवासोऽङ्गसंस्कारादिषु दीनता।
अनुभूतानभिज्ञत्वमनवस्थितचित्तता।
विरक्तिः सर्वविषया स्निग्धेष्वनभिषंगता॥
आशाशवीक्षणञ्चेति मानसः करुणः स्मृतः।
— भा० प्र० पृ० ६६-६७, पं० १९-२२ तथा १.

३. हाकारो रोदनं क्रोशः प्रलापो दीर्घभाषणम्॥
दूराह्वानमथाक्रन्दो वाचिकः करुणः स्मृतः।
— भा० प्र० पृ० ६७, पं० २-३.

४. स्वशापबन्धनक्लेशानिष्टैर्विभावैः स्वनिष्ठः।
परेष्टनाश शापबन्धनक्लेशादीनांदर्शन स्मरणैर्विभावैः परिनिष्ठः।
— र० त०, पृ० १४९.

आगे चलकर कहीं-कहीं अतिकरुण, लघुकरुण, महाकरुण, सुखकरुण आदि भेद भी परिलक्षित होते हैं। परन्तु इनमें से सबसे पहले तो 'सुख करुण' का नाम हास्यास्पद-सा प्रतीत होता है। जब करुण में शोक ही शोक है, तो सुख के लिए स्थान कहाँ ? विप्रलम्भ में जो दुख होता है, उसकी परिणति तो सुख में हो सकती है, परन्तु करुण में जो शोक है, वह तो सुख में परिणत कभी नहीं होता। सुख-प्राप्ति की समस्त आशाओं की सदैव के लिए परिसमाप्ति ही तो 'शोक' है; करुण है।

अतिकरुण तथा महाकरुण का तात्पर्य समान होने से केवल एक ही का नाम लेने से काम चल सकता है। वैसे इन दोनों के साथ लघुकरुण का भी अन्तर्भाव कभी अन्य रसों में हो जाता है; या वे कभी-कभी रस की चरम-अवस्था तक पहुँच ही नहीं पाते और भावों की ही स्थिति तक पहुँच कर उन्हीं में विलीन हो जाते हैं। इसीलिए सम्भवतः, कालान्तर में प्रचलित होने वाले इन भेदों की शारदातनय ने परिकल्पना ही नहीं की। वैसे इष्टनाश और अनिष्टप्राप्ति के मूल में जो शोक-स्थित है, उसे तो शारदातनय ने स्पष्ट ही स्वीकार किया है।[1]

बीभत्स के भेद—विभिन्न विभावादि से पुष्ट जुगुप्सा की अभिव्यक्ति बीभत्स रस के रूप में होती है। अप्रियवस्तु की ओर देखने से, गन्दी प्रतीत होने वाली वस्तु को स्पर्श, ग्रहण अथवा दर्शन करने से, दुर्गन्धपूर्ण तथा निन्दनीय वस्तु के दर्शन अथवा श्रवण से बीभत्स रस का स्वरूप सम्मुख उपस्थित होता है।

भरत ने बीभत्स के तीन भेदों—क्षोभजन्य, उद्वेगी तथा शुद्ध का उल्लेख किया है।[2] इन्हीं का ज्यों की त्यों धनंजय ने अनुसरण किया है। इनमें से शारदा-तनय ने क्षोभजन्य तथा उद्वेगज को ही स्वीकार किया है।[3] शुद्ध को उन्होंने नहीं माना है। लक्षणों के आधार पर क्षोभज बीभत्स को उन्होंने 'मानस' तथा उद्वेगज बीभत्स को 'आंगिक' भी कहा है।[4] वैसे उन्होंने भरत की भाँति 'क्षोभजन्य' का

---

१. शोकात्मा करुणो योषिन्नीचादिप्रकृतिरस्वतः।
अभीष्टविरहाच्छापात्क्लेशाच्च विनिपातनात्॥
— भा० प्र० पृ० ६२, पं० १५-१६.

२. बीभत्सः क्षोभजः शुद्ध उद्वेगी स्यात्तृतीयकः।
— ना० शा० चौ० (पृ० ७६) ६।८१.

३. बीभत्सः स्याजुगुप्सात्मा क्षोभोद्वेगविभागभाक्॥
— भा० प्र० पृ० ६३, पं० १२.

४. भा० प्र० पृ० ६७, पं० ६-१४.

लक्षण रुधिरादि से उत्पन्न तथा 'उद्वेगज' का लक्षण कृमि—विष्ठादि से युक्त प्रतिपादित किया है।[1]

भानुदत्त ने करुण की ही भाँति बीभत्स के भी स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ भेद प्रतिपादित किए हैं। किन्तु इस प्रकार का विभाजन शारदातनय को अभीष्ट नहीं है। क्योंकि ये भेद आश्रय की दृष्टि से किए गए हैं; जबकि शारदातनय ने रसों के भेद आश्रय की दृष्टि से नहीं, अपितु भावानुभाव की दृष्टि से प्रतिपादित किए हैं।

यद्यपि शारदातनय ने भरत[2] के समान ही क्षोभजन्य तथा उद्वेगज का लक्षण माना है तथापि जब वे इन दोनों भेदों को क्रमशः 'मानस' एवं 'आंगिक' भी कहने लगते हैं, तब अनुभावों के आधार पर इन दोनों भेदों का लक्षण-स्वरूप वे भरत की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तार से प्रस्तुत करते हैं।[3]

भयानक के भेद—बीभत्स रस से भयानक रस की उत्पत्ति होती है।[4] भयदायक वस्तुओं के दर्शन श्रवण या अनुमान से भयानक रस व्यक्त होता है। भय तीन स्थितियों में अनुभव हो सकता है। प्रथम तो कपोल-कल्पना से भयभीत हो जाना, द्वितीय भ्रम जन्य भय तथा तृतीय वास्तविक भय। भरत ने इन्हीं तीन स्थितियों के आधार पर तीन भेद किए हैं—अपराध जन्य, व्याजजनित तथा वित्रासितक।[5] इनमें प्रथम अपराध जन्य को कल्पित, व्याजजनित को भ्रमजन्य तथा वित्रासितक को वास्तविक भयानक रस कहा जा सकता है।

किन्तु शारदातनय ने भरतकृत भेदों से भिन्न रूप में भयानक के भेद निरूपित किए हैं। उन्होंने बीभत्स के ही समान भयानक के भी मानस तथा वाचिक आंगिक के भेद से दो विभाग प्रतिपादित किए हैं।[6] उन्होंने मानस भयानक को

१. क्षोभात्मा रुधिरान्त्रादिदर्शनस्पर्शनादिजः।
उद्वेगात्मा कृमिच्छर्दिपूतिविष्ठादिजो भवेत्।

— भा० प्र० पृ० ६३, पं० १३-१४.

२. विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो रुधिरादिजः॥ — ना० शा० चो० ६।८१.

३. भा० प्र० पृ० ६७, पं० ६-१४.

४. बीभत्सस्यापि यत्कर्म स भयानक ईरितः।
प्रधान्यं जनकत्वेन जन्यत्वेनाप्रधानता॥

— भा० प्र० पृ० ५५, पं० १३-१४.

५. ना० शा० चो० ६।८० (पृ० ७९)।

६. मानसो वाचिकश्चेति द्विधा भिन्नो भयानकः॥

— भा० प्र० पृ० ६४, पं० १२.

(भरत-सम्मत) 'स्वाभाविक' तथा आंगिक भयानक को (भरत सम्मत) 'कृतक' भी कहा है ।[1] अनुभावादि के आधार पर उन्होंने इन दोनों के लक्षण भी स्पष्ट रूप से उल्लिखित किए हैं। मानस (स्वाभाविक) भयानक के अन्तर्गत उरुस्तम्भ, हृत्कम्प, स्वेद, (पसीना), दृष्टि और पुतली का संचालन, शुष्क होंठ, मुंह का सूख जाना, गद्गद् स्वर हो जाना, विवर्ण हो जाना, विषय के प्रति अज्ञान, उक्त अनुक्त की अनभिज्ञता आदि आते हैं । आंगिक (कृतक) भयानक के अन्तर्गत दिशामोह, भययुक्त होना, बारम्बार सहायता का अन्वेषण, पीछे देखना, हाथ-पैर में कम्पन, अंगुली काट लेना, अभय की अभ्यर्थना करना, दांत दिखाना आदि लक्षण कहे गए हैं ।[2]

भानुदत्त ने बीभत्स की भाँति भयानक रस के भी स्वनिष्ट अर्थात् स्वयं में भय उत्पन्न होना तथा परनिष्ठ अर्थात् दूसरे में भय को देखकर भयभीत हो जाना, इस प्रकार के दो भेद किए हैं । किन्तु ये भेद आश्रयभेद से किए गए हैं, अतः जिस प्रकार बीभत्स के क्षेत्र में किए गए इन्हीं भेदों को शारदातनय ने मान्य नहीं किया है, उसी प्रकार भयानक के क्षेत्र में भी भानुदत्त के इन दो भेदों की परिकल्पना शारदातनय ने नहीं की । इसके अतिरिक्त भानुदत द्वारा निर्दिष्ट जो 'परनिष्ठ' नामक भेद है, उसमें भयानक रस की अभिव्यक्ति की बात कुछ असंगत-सी हो जाती है । क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जिस समय दूसरा व्यक्ति भय का आश्रय बना हुआ है, तो उसे देखकर हमारे मन में भी भय का संचार हो जाए । हां, भय-उत्पादक विषय के दर्शन से भय उत्पन्न हो सकता है । परन्तु भानुदत्त कृत भयानक के भेद विषय के आधार पर न होकर आश्रय के आधार पर हैं । इस प्रकार वर्गीकरण से कभ-कभी आधार दुर्बल पड़ जाता है ; सम्भवतः इसीलिए शारदातनय को रसों के विभागों का वर्गीकरण आश्रय की अपेक्षा अनुभाव आदि के आधार पर करना अधिक अभीष्ट रहा होगा ।

शृंगार रस का महत्व

शृंगार रस को प्राचीन काल से ही सर्वाधिक महत्व देकर 'रसराज' की उपाधि से विभूषित किया जाता रहा है । भरत ने इसे उज्ज्वल, उत्तम, पवित्र एवं दर्शनीय मानकर सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है ।[3] शृंगार के मूल में काम की

---

१. (क) स्वाभाविको मानसः स्यादांगिकः कृतको भवेत् ।

— भा० प्र० पृ० ६४, पं० १४.

(ख) ना० शा० चो० ६।६९-७१.

२. भा० प्र० पृ० ६७ पं० १५-२२.

३. तत्र शृंगारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः यथा यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणानुभीयते ।

— ना० शा० चो०, अध्याय ६, पृ० ७३.

भावना स्थित है, और ये काम सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। वृहदारण्यकोपनिषद् में पुरुष को काममय बताया गया है।[1] शिवपुराण में भी काम का महत्व वर्णित है।[2] भोज तो श्रृंगार को ही एकमात्र रस स्वीकार करते हैं। अन्य सब रसों का अन्तर्भाव श्रृंगार में ही हो जाता है।[3] श्रृंगार रस का आस्वाद तो जड़-चेतन सभी कर लेते हैं, जबकि अन्य रसों के विषय में यह आवश्यक नहीं कि सब प्राणी उनका आस्वादन सही रूप में कर ही सकें। भोज के अनुसार श्रृंगार को प्रधान बनाने वाले गुण अन्य रसों में उपलब्ध नहीं होते। जो अहंकार श्रंगार बन कर अभिव्यक्त होता है, वह मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों के मूल में स्थित रहता है।[4] अग्निपुराण के अनुसार जहाँ श्रंगार है, वहाँ सरसता है; बिना श्रंगार के तो सब कुछ नीरस है।[5] भानुदत्त ने भी श्रंगार का सर्वव्यापी महत्व स्वीकार किया है।[6] आनन्दवर्धन श्रंगार को सौन्दर्य के दृष्टिकोण से प्रधानतम स्वीकार करते हैं। साथ ही उन्होंने श्रंगार को सौन्दर्य का वर्धक भी कहा है।[7] श्रंगार का महत्व केवल काव्य की सीमाओं में ही सीमित नहीं है; अपितु इसका विस्तार सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। प्राणियों में काम की लालसा भूख-प्यास से भी बढ़कर जागृत हो उठती है। इस सृष्टि की रचना सृष्टि के सर्वप्रमुख गुण काम से ही हुई है। हास्य, करुण, भयानक, बीभत्स, रौद्र, वीर आदि के बिना तो सृष्टि की रचना और विकास हो सकता है, परन्तु श्रंगार के बिना तो सृष्टि की रचना की कल्पना ही व्यर्थ है। कामसूत्र में तो 'रस' शब्द का प्रयोग काम की शक्ति 'रति' के रूप में ही हुआ है।[8]

१. आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।
ममय एवायं पुरुषः। — बृ० आ० उप० ४।५.

२. (क) आनन्दममृतं दिव्यं परं ब्रह्म तदुच्यते।
परमात्मेति चाप्युक्तं विकाराः काम संज्ञिताः।
(ख) कामः सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्पसमुद्भवः। — शि० पु० (धर्म संहिता) ८.

३. (क) रसः श्रंगार एवएकः — श्रं० प्र० पृ० ४७५.
(ख) श्रंगारवीर करुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषु दशरसान् सुधियो, वयं तु श्रंगारमेव रसनाद्रसमामनामः॥
— श्रं० प्र० (रा०) पृ० ४७०.

४. रसोऽभिमानोऽहंकारः श्रंगार इति गीयते। — स० क० भ० ५।१-२.

५. श्रंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदश्रंगारी नीरसं सर्वमेव तत्॥ — अ० पु० ३३९।८.

६. सकलाकांक्षाविषयत्वेनाराध्यतया च प्रथमं श्रृंगारोपन्यासः।
— र० त०, पृ० १२४.

७. ध्वन्यालोक, पृ० ३९७-३९८.

८. रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगः समाप्तिरिति रतिपर्यायः।
— कामसूत्र २, १-६५.

श्रृंगार का इतना अधिक महत्व प्रतिपादित होने के कारण ही रसों की गणना करते समय स्वाभाविक रूप से श्रृंगार का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। इसके अनेक भेद तथा अनेक चेष्टाएँ हैं, जिनका वर्णन भावप्रकाशन में विस्तार-पूर्वक किया गया है।[1] इसके दो पक्ष—संयोग तथा विप्रलम्भ होते हैं, ऐसी अन्य किसी रस की विशेषता नहीं हैं। अन्य रस एकपक्षीय ही हैं। जितने अनुभाव श्रृंगार के दृष्टिगोचर होते हैं,[2] उतने अन्य हास्यादि रसों में कहाँ? श्रृंगार के अन्तर्गत विभाव तथा सात्त्विक भावों का विस्तृत रूप में स्थित रहता है। इस रस के अन्तर्गत जितने व्यभिचारी भावों का समावेश हो जाता, उतना अन्य रसों के अन्तर्गत नहीं होता।[3] मानव के अतिरिक्त प्रकृति, चराचर प्राणी, देवी-देवता, ऋतुएँ इत्यादि वस्तुएँ भी श्रृंगार के उद्दीपन बन कर उपस्थित होते हैं, जबकि अन्य हास्यादि रसों के उद्दीपनों में इतनी व्यापकता दृष्टिगोचर नहीं होती। श्रृंगार की भावना जैसी मनुष्यों में उदात्त रूप से पाई जाती है, वैसी ही व्यापक एवं उदात्त रूप से पशु-पक्षियों में भी परिलक्षित होती है।

श्रृंगार रस की जितनी अधिक अवस्थाएँ अथवा दशायें वर्णित की गई हैं, वैसी दशायें किसी अन्य रस की नहीं होतीं। अधिकतर विद्वान अभिलाषाचिन्तादि दश दशाओं का वर्णन करते हैं, परन्तु शारदातनय ने इच्छा व उत्कण्ठा को भी जोड़ कर काम की द्वादश दशायें भरत के मत के आधार पर मान्य की हैं।[4]

श्रृंगाररस के निरूपण में जितने विस्तृत प्रसंग साहित्य में प्राप्त होते हैं, वैसे अन्य किसी रस के निरूपण में नहीं होते। उन प्रसंगों में—नायक-नायिका भेद-वर्णन, उनके हावभाव, हेलादि, सखी व दूतियों के भी भेदों का विस्तृत वर्णन आलम्बन, उद्दीपन, आश्रय आदि के वर्णन का समावेश किया जा सकता है। इन सभी प्रसंगों का विस्तृत रूप से शारदातनय ने वर्णन प्रस्तुत करके श्रृंगार को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। श्रृंगार के ही वर्णन को विस्तार से करने

---

१. भा० प्र० पृ० ६४, पं० ३-४ ; पृ० २४९ पं० २०-२३ ; पृ० २५० पं० १-२.

२. उद्भावयन्ति श्रृंगारमनुभावोऽस्यतु त्रिधा ॥
स्वेदादिभिः कटाक्षाद्यै प्रिय भाषादिभिर्भवेत् ।
— भा० प्र० पृ० ५९, पं० १६-१७.

३. भा० प्र० पृ० ६४ पं० ११-१५, पृ० ९१ पं० १०.

४. दशधा मन्मथावस्था भवेद्द्वादशधाऽथ वा ॥
इच्छोत्कण्ठाभिलाषाश्च चिन्ता स्मृतिगुणस्तुति ।
उद्वेगोऽथ प्रलापः स्यादुन्मादो व्याधिरेव च ॥
जाड्यं मरणमित्यादि द्वे केश्चिद्वर्जिते बुधैः ।
— भा० प्र० पृ० ८८, पं० २-५.

में जो हेतु है, उस सुखाश्रयता एवं मोदकारकत्व का भी कथन शारदातनय ने किया है ।[1]

श्रृंगार के संयोग व वियोग -- दो ही पक्ष अन्य आचार्यों ने माने हैं ; परन्तु शारदातनय की अपनी यह विशेषता है कि उन्होंने श्रृंगार के उन दो पक्षों में अयोग को भी सम्मिलित करके तीन पक्षों का प्रतिपादन किया है ।[2] वियोग श्रृंगार के पहले मान एवं प्रवास—ये दो भेद प्रतिपादित करके फिर प्रवास के भी तीन भेद बताकर[3] वियोग के पाँच भेदों का कथन किया । तत्पश्चात् उन्होंने विस्तारपूर्वक यह बताया है कि वियोग तथा संयोग करुण के तुल्य प्रतीत होने पर भी श्रृंगार के ही भेद हैं, क्योंकि उनमें श्रृंगारत्व (रति स्थायीभाव) की स्थापना रहती है ।[४] सम्भोग श्रृंगार का स्वरूप स्पष्ट रूप से बताकर उसके भी चार भेदों का वर्णन किया है । सम्भोग तथा वियोग की विभिन्न चेष्टाओं का भी वणन शारदातनय स्पष्ट रूप से करते हैं । वियोग में तो उन्होंने द्वादश मन्मथावस्थाओं का उल्लेख किया ही है ।[५]

श्रृंगार के तीन पक्षों का उपर्युक्त विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करके शारदातनय उन हेतुओं का उल्लेख करते हैं, जो श्रृंगार को उत्कर्ष की चरमावस्था पर पहुँचाते हैं ।[६] श्रृंगार की इसी व्यापकता एवं उत्कर्ष को स्वीकार करते हुए भोज की भाँति शारदातनय मूल रूप से एक ही रस-'श्रृंगार' को मानते है, भले ही वह त्रिगुणों की वैषम्यावस्था से नानारूपों को प्राप्त प्रकृति की भाँति आश्रयभेद से अनेक रूपों को प्राप्त कर लेता हो ।

---

१. भा० प्र० पृ० ८, पृ० ७७ पं० १३-१४ ; पृ० ९३-१०२.
२. वियोगायोगसम्भोगैः श्रृंगारो भिद्यते त्रिधा ।। — भा० प्र० पृ० ८५, पं० १४.
३. (क) तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपोपहतयोर्द्वयोः ।
स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कार्योऽन्यासंगिनि प्रिये ।।
— भा० प्र० पृ० ८५, पं० १-२.
(ख) प्रवासो भिन्नदेशत्वं तच्छापादबुद्धिपूर्वतः ।
सम्भ्रमादपि तत्रैष बुद्धि पूर्वस्त्रिधा मताः ।।
— भा० प्र० पृ० ८६, पं० १३-१४.
४. साधारण्याद्विभावादेरत्रायोगवियोगयोः ।
करुणस्यानुरूप्येऽपि रतिस्याय्यनुवृत्तितः ।।
एतौ श्रृंगारभेदोस्त इति सत्कविनिर्णयः । — भा० प्र० पृ० ८७ पं० १-३.
५. भा० प्र० पृ० ८७ पं० ७-१०, १९-२२, पृ० ८८ पं० १-२२ से पृ० ९१ पं० १९.
६. भा० प्र० पृ० ९१ पं० १०-१६.

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि एकमात्र श्रृंगार रस ही सबसे अधिक प्रभावोंत्पादक, सर्वव्यापक एवं महत्वपूर्ण है, अतः इसे 'रस राज' कहना अतिशयोक्ति नहीं है। शारदातनय ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है, कि भावों में श्रेष्ठ 'श्रंग' है, तथा इस श्रंग (श्रेष्ठ) की प्राप्ति करने वाला 'श्रृंगार' ही होता है।[1]

शारदातनय का रस-विषयक दृष्टिकोण

शारदातनय ने अपना रस-विवेचन अग्निपुराण, भरत, वृद्धभरत, वासुकि, व्यास, पद्मभू आदि प्राचीन प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत करते हुए कुछ मौलिक तत्वों की भी परिकल्पना की है। अनावश्यक वस्तु का प्रवेश-निषेध करके उन्होंने अपने पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट निरूपण किया है।

इन्होंने श्रंगार से सम्बद्ध प्रीति एवं रति के द्वारा होने वाले चित्त के विकास को हास का साधन माना है। रति एवं प्रीति सिद्धान्त के द्वारा हास्य की उत्पत्ति मानने में हक गूढ़ रहस्य यह स्पष्ट होता है कि भारतीय धरा पर पल कर पोषित होने वाला हास्य प्रेम की ही महान् शक्ति का एक विवर्तित रूप है। किसी को दुःख पहुँचाकर अथवा घृणा की पृष्ठभूमि बनाकर यदि हास्य पनपा, तो फिर वह हास्य प्रत्येक के लिए सुखकारी नहीं हो सकता। हास्य के मूल में तो प्रेम-प्रीति का स्थित रहना सहज स्वाभाविक एवं अपेक्षित भी है। यहाँ एक अन्य बात भी विचारणीय है कि हास्य तो श्रंगार अर्थात् प्रीति रति से प्रभावित हो सकता है, परन्तु श्रृंगार को हास्य से प्रभावित नहीं माना जा सकता। शारदातनय ऐसे श्रृंगार को श्रृंगाराभास कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं।[2] इसके अतिरिक्त इन्होंने श्रृंगार के ललिताभास के साथ रजो एवं तमोगुण को भाव, विभाव एवं सत्वादि अभिनयों के उत्कर्ष से प्रभावित होता हुआ स्वीकार किया है।[3]

---

१. भावानामुत्तमं तच्छ्रंग श्रेष्ठमुच्यते।
इर्यति (इयन्ति) श्रंग यस्मात्तु तस्माच्छृंगारउच्यते॥
— भा० प्र० पृ० ४८, पं० ७-८.

२. हास्याभिभूतः श्रृंगारस्तदाभासो भविष्यति। — भा० प्र० पृ० १३२, पं० १७.

३. यदातु ललिताभासाभावेः स्वोत्कर्षहेतुभिः।
सत्वादिभिश्चाभिनयेः स्यायिनं वर्धयन्ति ते॥
तदा मनः प्रेक्षकाणां रजः स्पृष्टं तमोन्वयि।
चेतन्याश्रयि तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते॥
स हास्य रस इत्याख्यां लभते रस्यते च तेः।
— भा० प्र० पृ० ४४, पं० १-५.

शारदातनय रसास्वादन के विषय में एक नई विचारधारा प्रस्तुत करते हैं कि नाटक का तथा उसमें विद्यमान रस का आस्वादन भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति अपनी भिन्न-भिन्न रुचियों, मान्यताओं एवं दृष्किोणों के आधार पर करते हैं। तरुण व्यक्ति काम की तृप्ति में तुष्ट होते हैं, चतुर एवं कुशल व्यक्ति समीक्षा एवं नीति में, धन के इच्छुक व्यक्ति धन-प्राप्ति में तथा वैरागी व्यक्ति मोक्ष में सन्तोष प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार शूरवीर वीरता एवं रौद्र विषय की बातों में, वृद्ध जन धर्माख्यानों में, बुद्धिमान मनुष्य सदैव सात्त्विक बातों में तथा बालक, मूर्ख एवं स्त्रियाँ हास्यपूर्ण बातों एवं नेपथ्य में आनन्द प्राप्त करते हैं।[1]

वामन-दण्डी आदि ने रस को काव्य के अन्य तत्वों के अन्तर्गत रख दिया है; परन्तु शारदातनय ने रस का अन्तर्भाव किसी अन्य तत्व में न करके उसका स्वतन्त्र महत्व ही प्रतिपादित किया है।

रस-सिद्धान्त के विषय में विभिन्न मतों का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि भरत ने नाट्य-रस की जो शास्त्रीय परम्परा प्रवाहित की, वह भट्टनायक, शंकुक, भट्टलोल्लट, अभिनवगुप्त एवं पण्डितराज आदि परवर्ती आचार्यों के द्वारा आध्यात्म के उस मार्ग पर आनीयमान हुई, जो काव्य-रस एवं नाट्य रस को आध्यात्मपरक रस से गुम्फित कर देता है। वैसे यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाए, तो मालूम होगा कि आध्यात्म का आवरण चढ़ाने की कल्पना नवीन नहीं, अपितु इसका मूल स्रोत नाट्यशास्त्र में ही है। नाट्य रस की परम्परा के परिपोषक अन्य परवर्ती आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र, धनंजय, सागरनन्दी, शारदातनय शिंगभूपाल, भानुदत्त आदि ने स्वतन्त्र रूप से अपने जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया, वे नाट्य-परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। परन्तु यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि उन में शारदातनय के द्वारा प्रस्तुत विषय-सामग्री अपेक्षाकृत विस्तृत, उपयोगी एवं मान्य सिद्ध होती है। किन्तु इन आचार्यों के काल तक आते-आते आचार्यों का एक ऐसा भी वर्ग स्थापित हो गया था, जो रस के प्रति नाट्योन्मुख न होकर काव्योन्मुख था। इनमें भोज,

---

१. तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयक्षिते।
अर्थेष्वर्थपराश्चेव मोक्षेष्वर्थविरागिणः॥
शूरा बीभत्सरौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
धर्माख्यान पुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः॥
सत्वाभावेषु सर्वेषु बुधास्तुष्यन्ति सर्वदा।
बाला मूर्खा स्त्रियश्चेव हास्यनेपथ्ययोः सदा॥
— भा० प्र० पृ० २२७ पं० १८-२२, पृ० २२८ पं० १.

आनन्दवर्धन, मम्मट, हेमचन्द्र एवं विश्वनाथ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने रस की निष्पत्ति एवं उसका विकास नाट्य की भूमि में न करके काव्य की भूमि में करना स्वीकार किया है। जबकि भरत के अनुसार नाट्य-प्रणयन के लिए 'रस' का विद्यमान होना इतना आवश्यक है कि उसके बिना कोई भी अर्थ (काव्यार्थ) प्रवर्तित होना असम्भव है।[1] जितने गहरे पैठ के भरत ने 'नाट्य-रस' को पाया था, वहीं तक शारदातनय भी पहुँचे और नाट्य-रस की महत्ता को हृदयंगम करके उसे और भी अधिक विस्तृत एवं व्यवस्थित रूप में प्रतिपादित किया।

—०:०—

१. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। — ना० शा० ६, पृ० ७१.

अध्याय ६

नायक-नायिका के भेद एवं उनकी अवस्था का विवेचन

नाट्य-रस के आस्वादन के प्रमुख माध्यम नायक-नायिका आदि पात्र ही होते हैं। अतः इस दृष्टि से नाट्य में नायक आदि पात्रों का अपरिहार्य महत्व है। रस-भूमि में ये पात्र ही अवतरित होकर उसे सप्राण बनाते हैं। नाट्य में जिस रस की धारा प्रवाहित होती रहती है, वह जीवन की शाश्वतता की प्रतीक होती है। इस शाश्वतता को गति एवं सौरभ प्रदान करने का उत्तरदायित्व इन (नायक-नायिका आदि) पात्रों पर ही निर्भर रहता है। इन पात्रों के द्वारा मानव प्रकृति की विविधता का स्वरूप उपस्थित होकर नाट्य में पल्लवित होता है। अतः नाट्य रस के विवेचन के पश्चात् नायक-नायिका आदि नाटकीय-पात्रों का विश्लेषण यहाँ पर प्रसंग प्राप्त है।

नाट्य-शास्त्रीय परम्परा में नायक-नायिका एवं अन्य पात्रों का वर्णन अनेक विधाओं में किया गया है। मानव की चित्तवृत्तियाँ अनेक प्रकार की होती हैं। ये विविध चित्तवृत्तियाँ इतनी भिन्न-भिन्न होती हैं कि इनके आधार पर मानव-स्वभाव को कुछ वर्गों में निर्धारित करना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है; तथापि इन चित्तवृत्तियों की मुख्य विशेषताओं के आधार पर उनके अनेक भेद हो सकते हैं। किन्तु नायक-नायिका आदि पात्रों के मूल जीवन की मुख्यतः तीन प्रकृतियाँ होती हैं, अतः उनका वर्गीकरण त्रिविध–प्रकृतियों के आधार पर करना उपयुक्त है।[1]

नाट्याचार्यों ने सामान्यतः पुरुष एवं नारियों की उत्तम, मध्यम एवं अधम–इन तीन प्रकार की प्रकृतियों का निरूपण किया है। भरत ने इनका वर्णन क्रमशः

१. स्त्रीणां पुंसा च यद्यपि विचित्राः स्वभावस्तथापि प्रतिपदमशक्यकलना इति प्रकृतित्रयेण ते सर्वे शक्यसंग्रहा इति प्रकृतित्रयं वक्तव्यम्।

— अभि० भा० भाग ३, पृ० २४८.

इस प्रकार किया है—जितेन्द्रियता, ज्ञान नानाप्रकार के शिल्पों में कौशल, चातुर्य, विविध शास्त्रों में सम्पन्नता, गाम्भीर्य, औदार्य, धर्य एवं त्याग के गुणों से युक्त होने पर पुरुष की उत्तम प्रकृति होती है। लोक-व्यवहार में कुशलता, कला एवं शास्त्र में व्युतपन्न–मति, माधुर्य एवं विज्ञान से युक्त होने पर मध्यम प्रकृति होती है। नीरस वाणी, दुष्ट-शील स्वभाव, कठोरता, मित्रद्रोह, अकृतज्ञता, आलस्य, नारियों के प्रति चंचल मन, क्लेश-प्रियता, पाप, दूसरे के धन को हस्तगत करने एवं क्रोध का भाव होने पर अधम प्रकृति होती है।[1] सुकोमल हृदय वाली, मधुरभाषिणी, निष्ठुरता-रहित, गुण-वर्णन में कुशल, लज्जावती, विनययुक्त, माधुर्ययुक्त, सौन्दर्ययुक्त, गुणवती, गाम्भीर्य एवं धैर्ययुक्त स्त्री उत्तम प्रकृति वाली होती है। मध्यम प्रकृति की स्त्री उत्तम प्रकृति की स्त्री से गुणों में कुछ ही अल्प होती है, किन्तु उसमें अवगुण अत्यन्त अल्प होते हैं। अधम प्रकृति की स्त्री की प्रकृति अधम पुरुषों की प्रकृति की ही भाँति होती है।[2] इस प्रकार भरत ने नर-नारी की इन प्रकृतियों के अन्तर्गत अनेक गुणों का उल्लेख किया है। इन गुणों को प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है। किन्तु शारदातनय ने केवल नायिका की प्रकृति को ही उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा के नाम से अभिहित किया है।[3]

नायक तथा उनके भेद

उपर्युक्त मानवीय प्रकृतियों के अन्तर्गत मनुष्य के शील एवं स्वभाव के आधार पर अग्निपुराणकार, भरत एवं अन्य परवर्ती आचार्यों ने 'धीरोद्धत' आदि चार प्रकार के नायकों की परिकल्पना की है।[*] इसके अतिरिक्त भरत ने प्रकृति के आधार पर चतुर–उत्तम आदि पंचविध भेद प्रतिपादित किए हैं। साथ ही उन्होंने प्रेमावेश एवं क्रोधावेश में किए गए सम्बोधनों के आधार पर नायक के 'प्रिय, कान्त' आदि एवं 'दुश्शील, दुराचारी' आदि सात-सात भेदों का निरूपण भी किया है।[4] आगे चलकर जो 'अनुकूल' आदि भेदों की उद्भावना हुई उसका बीज भरत-कृत 'दुश्शील, दुराचारी, शठ, वाम' आदि भेदों से उपबृंहित किया गया होगा। ऐसा जान पड़ता है। प्रेम एवं कोप के सहित किए गए सम्बोधनो के आधार पर किए गए भरतकृत उपर्युक्त नायक-भेदों को शारदातनय ने भी मान्यता प्रदान की है, साथ ही उनमें प्रणयी, सुहृत्, सुभग, रुचिर एवं धृष्ट को भी सम्मिलित करके अपनी मौलिक उदारता का परिचय दिया है।[5]

---

१. ना० शा० (गा० ओ० सी०) २४।२-७ ; चो० सं० ३४।२८.
२. ना० शा० (गा० ओ० सी०) २४।८-१२.
३. भा० प्र० पृ० १०२, पं० २-१४.
※ अ० पु० ३३९।३७-३८, ना० शा० चो० ३४।१७-१९.
४. ना० शा० चो० २५।५५-६३, ३४।१६-१९.
५. भा० प्र० पृ० १०७ पं० ७-९, पृ० १०८ पं० १०-११.

धनंजय, सागरनन्दी, प्रतापरुद्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र एवं शारदातनय आदि ने नायक के जिन गुणों का उल्लेख किया है, वे भरत द्वारा निर्दिष्ट त्रिविध प्रकृति के अन्तर्गत वर्णित गुण-परम्परा से ही उद्धृत हैं।[१] धनंजय, शिंगभूपाल एवं वाग्भट्ट ने गुणों की उक्त संख्या में परिवर्तन किया है,[२] किन्तु विश्वनाथ एवं विद्यानाथ ने उनका समाहार किया है।[३] इससे जान पड़ता है कि कालान्तर में नायक के सम्बन्ध में आचार्यों की धारणा सीमित होती गई थी जैसा कि रुद्रट ने शीलाश्रित 'धीरोद्धत' आदि चतुर्विध भेदों का निरूपण न करके केवल 'अनुकूल' आदि चार भेदों का ही प्रतिपादन किया है।[४]

यहाँ पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि शारदातनय ने अनेक-अनेक स्थलों पर रुद्रट के मत को भी अभीष्ट माना है, किन्तु रुद्रट द्वारा प्रतिपादित केवल 'अनुकूल' आदि चार भेदों पर ही आश्रित रहकर उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। अतः उन्होंने 'धीरोद्धत' आदि चतुर्विध भेदों का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है तथा इन चारों प्रकार के नायकों के स्वरूप-निर्धारण में प्रकृति के अन्तर्गत उल्लिखित गुणावली से ही परिपुष्टि प्रस्तुत की है।[५] किन्तु यहाँ एक अन्य बात भी विचारणीय है कि शारदातनय प्रकृति के आधार पर जो भेद प्रतिपादित करते हैं, उनका नामकरण पूर्व-परम्परा से हट कर करते हैं। उत्तम, मध्यम, अधम—इस त्रिविध वर्गीकरण का नाम 'ज्येष्ठोमध्यः कनिष्ठश्च'[६] प्रस्तुत करके उन्होंने अपनी मौलिक रुचि का परिचय दिया है; वैसे अर्थ एवं भाव की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है तथापि मौलिकता की ओर अग्रसर होती हुई अभिरुचि अनुपेक्षणीय है।

भरत ने अनुकूल आदि चार भेदों का स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं किया है; किन्तु शारदातनय ने अग्निपुराण में वर्णित किए गए 'अनुकूल आदि' वर्गीकरण को आवश्यक एवं उपयुक्त मानते हुए उसका अनुसरण किया है।[७] इन चार भेदों में

---

१. ना० शा० चौ० ३४।२-८; द० रू० २।१-२; प्र० रू० १।११-१२; ना० द० १।६; भा० प्र० पृ० ९१ पं० २१-२२, पृ० पं० १.

२. र० सु० १।६१-१६१; का० अनु० पृ० ६२.

३. सा० द० ३।३०.

४. एवं स चतुर्धा स्यादनुकूलो दक्षिणः शठो धृष्टः।

— का० अलं० १२।६.

५. भा० प्र० पृ० ९२ पं० २-१७.

६. ज्येष्ठो मध्यः कनिष्ठश्च धिया नायकउच्यते।

— भा० प्र० पृ० ९१ पं० २०.

७. अ० पु० ३३९।३८.

धीरोद्धत आदि चतुर्विध भेद एवं ज्येष्ठ आदि त्रिविध भेद परस्पर सम्मिलित करके शारदातनय ने नायक के कुल ४८ भेद स्वीकार किए हैं।[1]

भोज ने धीरोद्धत आदि चार भेद एवं अनुकूल आदि चार भेदों के अतिरिक्त नायक, प्रतिनायक आदि भेद भी किए हैं।[2] शावदातनय ने अपने नायक भेदों में भोज द्वारा प्रतिपादित 'नायकाभास'[3] को स्थान देना उपयुक्त नहीं समझा। क्योंकि नायकाभास का तात्पर्य है—'अनभिज्ञ पुरुष'। भानुमिश्र के अनुसार अनभिज्ञ ही नायकाभास है—'अनभिज्ञः नायकाभास एव'। यहाँ प्रयुक्त 'एव' शब्द नायकाभास को मुख्य नायकों की पंक्ति में से मानो तिरस्कृत करता हुआ सा प्रतीत हो रहा है। जब 'नायकाभास' मुख्य नायकों में स्थान प्राप्त करने के लिए संदेहारूढ़ हो रहा है, तो उसे जानबूझकर अपने ग्रन्थ में रखना शारदातनय को अभीष्ट नहीं हुआ होगा।

वात्स्यायन ने कामशास्त्रीय सिद्धान्तों को नायक-नायिका भेद का आधार माना है। उन्होंने नायक का प्रमुख भेद एक ही माना है जिसे 'पति' कहा है। 'प्रच्छन्न' को नायक का गौण भेद स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त वेश्यारत नायक अर्थात् 'वैशिक' का भी उल्लेख किया है। साथ ही उन्होंने अनुकूल आदि चर्दुविध भेदों एवं उत्तम आदि त्रिविध भेदों का भी प्रतिपादन किया है।[4] नाट्य-दर्पण में 'धीरोद्धत' आदि चतुर्विध नायक एवं उनकी उत्तम आदि प्रकृतियाँ निरूपित की गईं हैं।[5]

विश्वनाथ ने शारदातनय की ही भाँति नायक के ४८ भेदों का निरूपण किया है। अन्तर केवल इतना है कि शारदातनय-कृत ज्येष्ठ आदि त्रिविध भेदों के स्थान पर विश्वनाथ ने उत्तम आदि त्रिविध भेदों को प्रस्तुत किया है।[6]

रूपगोस्वामी ने धीरोद्धत आदि एवं अनुकूल आदि भेदों के अतिरिक्त 'पति एवं उपपति'—ये दो-दो भेद तथा 'पूर्णतम, पूर्णतर एवं पूर्ण'—ये तीन-तीन भेद मानते हुए नायकों के जो कुल ९६ भेदों का निर्वचन किया है,[7] उसकी भी

१. एते ष्टचत्वारिंशत् स्युनयिकाः कविकल्पिताः ॥
— भा० प्र० पृ० ९३ पं० १०.

२. स० कण्ठा० ५।१०३-१०४, १०९.

३. स० कण्ठा० ५।१०२.

४. का० सू० अध्याय ५, ६.

५. ना० द० १।६-९.

६. सा० द० ३।३८.

७. उ० नील, श्लोक ९-३९ (नायक प्रकरण)

आवश्यकता शारदातनय को नहीं है। क्योंकि 'पूर्ण' तो पूर्ण है ही, उसे पूर्णतर एवं पूर्णतम कहना पिष्टपेषण ही होगा। अतः व्यर्थ में संख्या-वृद्धि करने की प्रवृत्ति शारदातनय को रुचिकर नहीं है क्योंकि इससे अनावश्यक विस्तार एवं अव्यवस्था ही उपस्थित होती है।

श्रीकृष्ण कवि द्वारा प्रतिपादित दिव्य, अदिव्य एवं दिव्यादिव्य[1]—इन त्रिविध भेदों की शारदातनय ने कल्पना ही नहीं की। इस विषय में शारदातनय का दृष्टिकोण इस प्रकार दूरदर्शी रहा होगा कि नायक-नायिका भेद-शृंगार रस की ही एक शाखा है; इसमें मुख्य कसौटी है—नर-नारी का सम्भोग-सम्बन्ध। यह दिव्य आदि भेद उपर्युक्त सम्भोग-सम्बन्ध का द्योतक नहीं है, साथ ही यह भेद स्वर्गलोक एवं भूलोक के नर-नारियों के मध्य में एक लक्ष्मण-रेखा खींचता हुआ-सा प्रतीत होता है। नाट्य के नायक-नायिक तो केवल 'नायक-नायिका' हैं। उसमें यह अन्तर दर्शाना उचित प्रतीत नहीं होता कि अमुक नायक-नायिका देवी-देवता होने के कारण अधिक महत्वपूर्ण हैं अथवा अमुक नायक-नायिका सामान्य स्त्री-पुरुष होने के कारण कम महत्वपूर्ण हैं। अतः शारदातनय ने दिव्य आदि भेद का प्रतिपादन न करके अपनी सार-ग्रह्यता एवं निष्पक्षता का परिचय दिया है। उपर्युक्त सम्भोग-सम्बन्ध की कसौटी पर खरे न उतर सकने के कारण ही भोज द्वारा प्रतिपादित 'सात्त्विक' आदि भेद एवं कथावस्तु पर आधारित 'नायक-प्रतिनायक' आदि भेद[2] शारदातनय एवं अन्य आगामी आचार्यों को मान्य नहीं हुए।

भानुमिश्र ने पति एवं उपपति के अनुकूल आदि चार-चार भेद, पति, उपपति एवं वैशिक के उत्तम आदि तीन-तीन भेद प्रतिपादित किए है। इसके अतिरिक्त प्रोषण के आधार पर प्रोषित पति, प्रोषितोपपति एवं प्रोषितवैशिक—ये तीन भेद निरूपि किए हैं। इन्होंने श्रीकृष्ण कवि की भाँति दिव्य आदि त्रिविध भेदों का भी वर्णन किया है, किन्तु सम्भवतः शारदातनय के दृष्टिकोण से प्रभावित होकर ही भानुमिश्र ने इन दिव्य आदि भेदों को पूर्ण रुचि के साथ स्वीकार नहीं किया है, ऐसा प्रतीत होता है।[3]

'शृंगार-मंजरी' के रचयिता सन्त अकबरशाह ने कामशास्त्रीय मान्यता के आधार पर भद्र, दत्त, कुचमार एवं पांचाल नामक चार भेद प्रतिपादित किए हैं। इनके अतिरिक्त नायिका के विरह के आधार पर नायक के—प्रोषित, अमिलित एवं विरही—ये तीन भेद वर्णित किए हैं। भानुमिश्र ने 'शठ' के जो मानी एवं

---

१. पुनर्दिव्यस्त्वदिव्श्च दिव्यादिव्य इति त्रिधा।

— मन्दा० चम्पू० पृ० ७८.

२. स० कण्ठा०, अध्याय ५.

३. र० मं० (नायकभेद प्रकरण)

चतुर—दो भेद कहे थे, उन दोनों को सन्त अकबरशाह ने पृथक् से स्वीकार किया है साथ ही 'शठ' के दो अन्य भेदों की उद्भावना की है—प्रकाश शठ एवं प्रच्छन्न शठ। इनमें से 'प्रच्छन्न' नामक भेद इन्होंने कामसूत्र से प्रभावित होकर प्रतिपादित किया है।

भरत के वैशिक-वर्णन के आधार पर शारदातनय ने भी वैशिक-नायक का स्वरूप एवं उसके गुणों का वर्णन किया है।[1] किन्तु विशेष ध्यातव्य है कि भरत ने तो वैशिक नायक का सामान्य-रूप से विवेचन किया है, जबकि शारदातनय ने वैशिक नायक के लिए भी त्रिविध प्रकृति का आधार प्रस्तुत करके उत्तम वैशिक, मध्यम वैशिक एवं अधम वैशिक के स्वरूप का भी निर्वचन किया है।[2] इस विषय में शिंगभूपाल ने शारदातनय का स्पष्ट रूप से अनुसरण किया है।[3]

उपनायक तथा उन (पूर्व वर्णित नायकों) के सहायक

पूर्व-वर्णित नायक-भेदों के अतिरिक्त नायकों के प्रधान-गौण भाव को दृष्टि-पथ में रखकर नायकों की कई विशिष्ट श्रेणियां निर्धारित की गई हैं। इनमें से कुछ तो मुख्य नायक के सहायक होते हैं तथा कुछ उसके विरोधी भी होते हैं। नाट्य के कुछ पात्रों की प्रकृति स्पष्ट नहीं होती। इस प्रकार के पात्रों की गणना उनके स्वभाव के अनुसार कभी उत्तम, मध्यम और कभी अधम प्रकृति की श्रेणी में होती है, जैसे विट, चेट, शकार आदि आदि अधम श्रेणी के ही पात्र हैं[4] तथापि कभी-कभी उनकी सम्पन्नता एवं समृद्धि के कारण, भले ही अस्थायी रूप से ही सही, उत्तम एवं मध्यम प्रकृति भी परिलक्षित होती है।

शारदातनय ने नायक के अतिरिक्त 'पताकानायक' का भी वर्णन किया है। पताकानायक मुख्य नायक से गुणों में किंचित् न्यून होता है, मुख्य नायक का भक्त होता है तथा उसके समस्त कार्यों में सहयोगी होता है। श्रृंगार रस की दृष्टि से पताकानायक अनेक प्रकार के होते हैं। शारदातनय ने पताकानायक को ही 'उप-

---

१. ना० शा० चो० २५।१-८ ; भा० प्र० पृ० १०६ पं० २-११.

२. भा० प्र० पृ० १०६ पं० १२-२२, पृ० १०७ पं० १-६.

३. कलकण्ठादिको लक्ष्यो भाणादावेव वैशिकः।
स त्रिया कथ्यते ज्येष्ठमध्यनीचविभेदतः॥
तेषां लक्षणानि भावप्रकाशिकायामुक्तानि। यथा—
— र० सु० १।८८.

४. स० कण्ठा० ५।१२१.

नायक' कहा है,[1] जिसे अग्निपुराण में अनुनायक कहा गया है।[2] धनंजय इसी का 'पीठमर्द' भी कहते हैं।[3]

सहायक पात्रों के भेदों की परम्परा मुख्यत: नाट्यशास्त्र के ही आधार पर परवर्ती आचार्यों के मध्य पल्लवित होती गई। ये पात्र 'नर्मसचिव' कहलाते हैं तथा प्रधान नायक की फलप्राप्ति में पूर्ण रूप से सहयोग प्रदान करते हैं। इनमें विदूषक, विट, चेटक, शकार इत्यादि आते हैं।[४] इन समस्त सहायक पात्रों में 'विदूषक' का सर्वाधिक महत्व है। वह मनोरंजन कराने के साथ-साथ नायक-नायिका के समागम में भी अपूर्व सहायक होता है। वह विकृत अंग, वचन वेशभूषा एवं हास्य से युक्त होता है।[५] भरत के अनुसार धीरोद्धत नायक के लिए ऋषि, धीरोदात्त नायक के लिए वीर, धीरललित नायक के लिए राजजीवी तथा धीर-प्रशान्त नायक के लिए शिष्य विदूषक होना चाहिए।[६] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी भरत निर्दिष्ट इन चतुर्विध विदूषकों का वर्णन किया है।[७] शारदातनय ने जिन चार प्रकार के विदूषकों का वर्णन किया है, वे क्रमशः देवता, राजा, अमात्य एवं वणिक् के विदूषक हैं। देवताओं का विदूषक सत्यवादी, त्रिकालज्ञ, कृत्याकृत्य का ज्ञाता, ऊहापोहनिपुण, यथादृष्टार्थवादी, नाट्यकोविद एवं परिहास करने वाला होता है। राजाओं का विदूषक शिष्ट परिहास करने वाला, वित्त एवं स्त्रियों में शुद्ध हृदय, देवी की परिचारिकाओं का प्रिय, ईर्ष्याकलहकारी, अन्तःपुर में भ्रमण करने वाला होता है। अमात्य का विदूषक अश्लीलभाषी, दम्पत्ति के अपराधों को प्रकट करने वाला, भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों से प्रेम करने वाला, परिछद्रान्वेषी, अर्थलाभ में प्रीति करने वाला, भोगिनी के साथ रमण करने वाला, परिहास युक्त वाक्य बोलने वाला एवं परिहास कथाओं में ही रुचि रखने वाला होता है। वणिज का विदूषक शठ प्रकृति का, विरूप वेषभूषा, विरूप अंग, वाणी व कर्म वाला, विरूप परिहास एवं विरूप ही अभिनय वाला होता है।[८]

---

१. पताकातायकस्तेषामुपनायक उच्यते ॥
तस्येवानुचरो भक्तः किंचिन्न्यूनश्च तद्गुणैः।
श्रृंगारापेक्षया ते पि कथ्यन्ते बहुधा पुनः ॥ —भा० प्र० पृ० ६३ पं० १२-१४.
२. अ० पु० ३३६।३६.
३. द० रू० २।८.
४. ना० द० ४।१४, भा० प्र० पृ० ६३ पं० २१-२२ ; र० सु० १।८६.
५. (क) विकृतांगवचो वेषंहास्य कृत्स्याद्विदूषकः। —भा० प्र० पृ० ६४ पं० ३.
(ख) र० सु० १।६२.
६. ना० शा० (गा० ओ० सी०) २४।१६-२०.
७. भा० प्र० पृ० २८१ पं० ६-२४, पृ० २८२ पं० १-६.
८. ना० द० ४।१५.

भरत, सागरनन्दी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र एवं शारदातनय आदि ने यह स्वीकार किया है कि ब्राह्मण होते हुए भी विदूषक की भाषा प्राकृत होनी चाहिए ।[1] प्राचीन परम्परा के अनुसार विदूषक का नामकरण किसी ऋतु, फूल अथवा किसी गोत्र-वंश से सम्बन्धित होना चाहिए । इसी आधार पर शारदातनय ने वात्स्यायन, शाकल्य, मौद्गल्य, वसन्तक एवं गालव आदि नाम विदूषक के लिए निर्दिष्ट किए हैं ।[2] इसी का अनुसरण करते हुए विश्वनाथ एवं शिंगभूपाल ने भी क्रमशः वसन्त, कुसुम आदि तथा कापिलेय एवं वसन्तक आदि विदूषक के नामों का उल्लेख किया है ।[3]

भरत ने 'विट' को वेश्योपचार में कुशल, मधुर, कवि, ऊहापोहक्षम, वाचाल एवं चतुर बताया है ।[4] धनंजय एवं रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार 'विट' किसी एक विद्या में कुशल होता है ।[5] शारदातनय के अनुसार विट किसी विद्या में चतुर तथा साथ ही कामतन्त्र में कुशल होकर नायक का सहायक सिद्ध होता है ।[6]

भरत के अनुसार 'चेटे' कलहप्रिय, बहुत कथाओं का ज्ञाता, विरूप, गन्धसेवी एवं वाचाल होता है ।[7] शारदातनय तथा शिंगभूपाल ने भी चेट को वाचाल, कलहप्रेमी, विरूप एवं सन्धानकुशल कहा है ।[8]

'पीठमर्द' विश्वसनीय सेवक एवं कुपित स्त्री को प्रसन्न करने में कुशल होता है ।[9] धनंजय एवं धनिक पीठमर्द को प्रासंगिक कथावस्तु का नायक एवं प्रधान नायक का सहायक कहते हैं ।[10]

'नर्मसचिव' पात्रों में शारदातनय ने ऋत्विज, पुरोहित, तपस्वी, वेदज्ञाता, ब्राह्मण, व्रती, सेनापति, मन्त्री, कुमार, मित्र आदि का उल्लेख किया है ।[11] ये समस्त पात्र नायक के विभिन्न कार्यों में सहायक बन कर उपस्थित होते हैं ।

---

१. ना० शा० चो० १८।३८; ना० द० ४।४०-४१; भा० प्र० पृ० २७० पं० ११-१२..
२. वात्स्यायनश्च शाकल्यो मौद्गल्यश्च वसन्तकः ।
गालवश्चेत्येवमादिनामानः स्युर्विदूषकाः ।। – भा० प्र० पृ० २७७ पं० ५-६
३. सा० द० तृतीय परिच्छेद (चो०) पृ० १०६ ; र० सु० ३।३२८-३२९.
४. ना० शा० चो० ३५।५५.
५. द० रू० २।९ ; ना० द० ४।१४.
६. भा० प्र० पृ० ९४ पं० २.
७. ना० शा० चो० ३५।५८.
८. भा० प्र० पृ० ९४ ; र० सु० १।९१.
९. अ० पु० ३३९।४० ; भा० प्र० पृ० ९४ पं० ४-५ ; र० सु० १।९०.
१०. द० रू० २।८ (अवलोक सहित).
११. भा० प्र० पृ० ९३ पं० १६-१९.

विभिन्न भाषाओं के आधार पर शारदातनय ने शकार, आभीर, चण्डाल, पुलिन्द, शबर, हालिक एवं भैरव आदि अधम श्रेणी के पात्रों का सप्त वैभाषिकों के रूप में वर्णन किया है।[1] ये विविध स्थलों पर नायक के सेवक एवं सहायक के रूप में उपस्थित होते हैं।

शारदातनय ने बौने, म्लेच्छ, नपुंसक, किरात आदि का वर्णन करने की आवश्यकता अनुभव नहीं की है क्योंकि अत्यधिक एवं निरर्थक विस्तार करने की प्रवृत्ति मौलिक उद्भावना का द्वार अवरुद्ध-सा कर देती है। अतएव भरत की मान्यता को समादृत करते हुए शारदातनय ने नायक के सहायक एवं उपनायक का जो निरूपण किया है, वह सर्वथा पर्याप्त है।

नायिका तथा उनके भेदों का विवेचन

श्रृंगार-रस का प्रमुख आधार होने के कारण नाट्य में नायिका का महत्व नायक से किसी प्रकार से कम नहीं है। नायिका नाट्य-शरीर का सरस प्राण है, जिसमें जीवन-रस की मधुर धारा प्रवाहित होती रहती है। अधिकांशतः नाटकों में नायक का उद्देश्य नायिका की सम्प्राप्ति ही होती है, अतः नायिका को नाट्य का केन्द्र-बिन्दु स्वीकार करना अतिशयोक्ति न होगी। भरत से लेकर समस्त परवर्ती नाट्याचार्यों का सर्वप्रिय विषय नायिका-विवेचन ही रहा है। इसीलिए समस्त नाट्यशास्त्रीय एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नायक एवं अन्य विषयों की अपेक्षा नायिका-वर्गीकरण का अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत विवेचन अभिलक्षित होता है। यह वर्गीकरण नायिका की उत्तम आदि त्रिविध प्रकृतियों पर ही मूलतः आधारित है। वैसे अन्य आधारों पर भी आचार्यों ने नायिका-भेद प्रस्तुत किया है यथा-विविध आचरण, काम की अवस्थाएँ, वय, अन्तःकरण, सामाजिक प्रतिष्ठा, शील, स्वभाव, अंग-रचना आदि।

भरत ने अपने नायिका-भेद के लिए अनेक व्यापक आधारों को प्रस्तुत किया है, जिनमें से सर्वप्रथम है—उत्तम आदि त्रिविध प्रकृति के आधार पर उत्तमा, मध्यमा, अधमा के रूप में नायिका के तीन भेद। इसके अतिरिक्त नायक के साथ संयोग एवं वियोग की अवस्थाओं के अनुसार स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद, सामाजिक व्यवहार के आधार पर दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री एवं गणिका— ये चार भेद, आचरण के आधार पर बाह्य, आभ्यन्तरा आदि तीन भेद, नायक के प्रति प्रेम के आधार पर मदनातुरा, अनुरक्ता, विरक्ता—ये तीन भेद, लौकिक-अलौकिक जातियों के आधार पर देवताशीला आदि इक्कीस भेद, शील स्वभाव के आधार पर धीरा, ललिता, उदात्ता एवं निभृता—ये चार भेद तथा यौवन के आधार पर प्रथम योवना, द्वितीय योवना आदि चार भेद भी भरत ने प्रतिपादित किए हैं।

---

१. भा० प्र० पृ० ३११, पं० १३-१४.

इस प्रकार भरत द्वारा प्रस्तुत विविध आधारों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने नाट्य परम्परा के परवर्ती आचार्यों के लिए नायिका-भेद की व्यापकता एवं उसके महत्व-प्रतिपादन की प्रामाणिक आधार-भूमि को प्रशस्त किया। शारदातनय ने भरत के नायिका-भेद से बीज ग्रहण करके अधिकांश रूप से रुद्रट के अनुसार ही नायिका भेद को प्रस्तुत किया है। रुद्रट नायिका के तीन भेद सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार करते हैं—आत्मीया, परकीया एवं वेश्या। किंचित् नामभेद के साथ शारदातनय ने नायिका के इन तीन भेदों को प्रतिपादित किया है—स्वीया, अन्या एवं साधारणा। इनमें स्वीया के तीन भेद किए हैं—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा। मध्या के धीरा, अधीरा, धीराधीरा—ये तीन भेद किए। यहाँ रुद्रट द्वारा प्रतिपादित संख्या को स्वीकार करते हुए भी शारदातनय किंचित् नवीनता प्रस्तुत करते हैं। वे प्रगल्भा के तीन भेद मानते हैं—भिन्ना, ज्येष्ठा, कनिष्ठा; जबकि रुद्रट ने 'भिन्ना' का उल्लेख नहीं किया है। अब मध्या एवं प्रगल्भा के उदात्ता, ललिता एवं शान्ता—तीन-तीन भेद किए। इस प्रकार कुल मिलाकर 'स्वीया' के तेरह भेद हो गए।[1]

'परकीया' के दो भेद—ऊढा व कन्यका शारदातनय ने रुद्रट के ही अनुसार स्वीकार किए। साधारणा अर्थात् गणिका तो एक ही प्रकार की होती है, इसलिए उसके भेद नहीं किए हैं। स्वीया के तेरह भेदों में ये तीन भेद और सम्मिलित कर देने से कुल सोलह भेद हो जाते हैं। स्वाधीनपतिकादि आठ अवस्था-भेद करने से १६ × ८ = १२८ भेद हुए। पुनः 'उत्तमादि' प्रकृति के अनुसार सभी नायिकाओं के तीन-तीन भेद करने पर १२८ × ३ = ३८४ भेद हो गए। यह संख्या शारदातनय ने रुद्रट के अनुसार ही स्वीकार की है।[2]

रुद्रट आत्मीया के पुनः जो दो भेद स्वाधीनपतिका तथा प्रोषितपतिका करते हैं, उस प्रकार शारदातनय ने स्वीकार नहीं किया है। उन्हें तो स्वाधीनपतिकादि आठ भेदों का पृथक् रूप से विवेचन करना ही अभीष्ट है। रुद्रट ने पुनः आत्मीया, परकीया एवं वेश्या के दो-दो अन्य भेद अभिसारिका व खण्डिता माने हैं।[3] इसका भी अनुमोदन शारदातनय ने नहीं किया; क्योंकि परकीया एवं किसी अंश तक वेश्या को छोड़कर स्वकीया को अभिसरण की कोई आवश्यकता नहीं है। 'खण्डिता' का सम्बन्ध स्वकीया के साथ एवं कुछ अंशों तक परकीया के साथ भी हो सकता है, परन्तु वेश्या के लिए 'खण्डिता' होना, न होना कोई विशेष महत्व

१. भा० प्र० पृ० ९४ पं० २०-२२ ; पृ० ९५ पं० १-२ ; का० अलं० १२।१७-२८.
२. भा० प्र० पृ० ९५ पं० ३-९ ; का० अलं० १२।३०-४०.
३. का० अलं० १२।४१-४४.

नहीं रखता, क्योंकि उसे न तो किसी से द्वेष है, न राग। यदि वह इस प्रकार की हो जाएगी तो उसका शृंगार शृंगार न रह कर 'शृंगाराभास' हो जाएगा।[१]

वित्त प्राप्ति के लिए वेश्या राग-शृंगार प्रदर्शित करती है। यहाँ शारदातनय एक अत्यन्त रुचिकर परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं; 'यदि गणिका राग-शृंगार से निर्मुक्त हो जाएगी, तो क्या कामदेव का भक्षण कुत्तों द्वारा किया जाएगा?'[२] आगे वह एक अद्भुत कल्पना प्रस्तुत करके अपने नायिका-भेद में एक नवीन उत्प्रेक्षा का समावेश करते हैं—'जिस कामदेव को प्राचीन काल शिवजी के कुपित नेत्र की अग्नि द्वारा भस्मीभूत कर दिया गया था, मानो वह वेश्या को देखने से पुनः जीवित हो उठा है।'[३]

वेश्या को अब तक सभी आचार्य अत्यन्त तुच्छ रूप से वर्णित करते आए थे। परन्तु शारदातनय ने उसका शृंगारिक महत्व प्रतिपादित करके एक उपेक्षित एवं निन्दित पात्र के साथ न्याय करके अपनी उदारता का परिचय दिया है। शारदातनय ने स्वीया एवं अन्या का मूल अन्तर भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि स्वीया केवल भोगाभिलाषिणी होती है, जबकि अन्या (वेश्या) भोग एवं धन दोनों की इच्छुक होती है।[४]

शारदातनय ने अन्या (वेश्या) की विशेष रूप से विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका एवं विप्रलब्धा—ये तीन अवस्थाएँ वर्णित की हैं।[५] उन्हें कुछ विद्वान उपयुक्त नहीं मानते।[६] परन्तु हमारे विचार से वेश्या की ये तीन अवस्थाएँ काल-क्रमानुसार सम्भव हो सकती हैं। प्रेम के लिए न होकर, धन के लिए ही सही, वेश्या नायक के लिए 'विरहोत्कण्ठिता' हो सकती है। जब उसे किसी न किसी प्रकार वित्त-प्राप्ति करनी ही है, तो वह नायक से मिथ्या प्रेम दिखाने के लिए अभिसरण भी कर सकती है। यदि नायक अपनी सद्बुद्धि के कारण उसके जाल में

---

१. 'निर्गुणेऽपि न विद्वेषो न रागोऽस्या गुणिन्यपि ।।
'शृंगाराभास एव स्यान्न शृंगारः कदाचन ।'

— भा० प्र० पृ० ९५ पं० १८-१९.

२. राग शृंगारनिर्मुक्ता यदि स्युर्गणिकाः स्वतः ।
योषित्सामान्यतो जातः स्मरः किं भक्षितः श्वभिः ।।

— भा० प्र० पृ० ९५ पं० २१-२२.

३. भा० प्र० पृ० ९६, पं० ३-४.

४. 'भोगेप्सवः स्युः स्वीयाश्चेदन्या भोगधनेप्सवः ।'

— भा० प्र० पृ० ९६, पं० १४.

५. भा० प्र० पृ० ९६, पं० ११-१४.

६. रुद्रटप्रणीत काव्यालंकार—डा० सत्यदेव चौधरी, पृ० ३७७.

न फंसे, और निर्दिष्ट समय पर न पहुँचे, तो ऐसी स्थिति में वह 'विप्रलब्धा' की अवस्था को भी प्राप्त कर सकती है।

इसी तथ्य को एक अन्य दृष्टिकोण से भी समझा जा सकता है। वेश्या भले ही भोग एवं धन के लिए इच्छित होती है, फिर भी अन्ततः वह है तो 'स्त्री' ही। अर्थ प्राप्ति एवं समृद्ध सामाजिकों के मनोरंजन के लिए शरीर-क्रय करती हुई उस वेश्या में भी 'स्त्री-हृदय' विद्यमान रहता है, जिसे वह किसी 'एक' के लिए अवश्य सुरक्षित रखती है। उसी 'एक' प्रिय के लिए वह विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका एवं विप्रलब्धा—इन अवस्थाओं को क्रमशः प्राप्त हो सकती है। अतः यह कहना हमारे विचार में उचित प्रतीत नहीं होता कि 'उपयुक्त तीनों अवस्थाओं में से एक भी अवस्था वेश्या की कमी हो ही नहीं सकती।'

अग्निपुराणकार ने कौशिक के मतानुसार सामान्य रूप से—स्वकीया, परकीया, पुनर्भू—इन त्रिविध नायिका भेदों का उल्लेख करते हुए नायिका के अनेक भेदों का संकेत किया है।[1]

भरत द्वारा मान्य अन्तःपुर आश्रित महादेवी आदि सत्रह भेद[2] भी शारदातनय को स्वीकार नहीं क्योंकि श्रृंगार रस की कसौटी 'सम्भोग-सम्बन्ध' पर नायिकाओं का वह स्वरूप किंचित् भी प्रकाश नहीं डालता जो कि अत्यावश्यक है। इसी कारण भोज-कृत कथावस्तु पर आधारित नायिका-प्रतिनायिका आदि भेद तथा पुनर्भू नायिका का यातायाता एवं यायावरा भेद भी शारदातनय ने नायिका-भेद में स्थान प्राप्त नहीं कर सका। क्योंकि पुनर्भू नायिका तथा भरत-सम्मत कृतशौचा नायिका का अन्तर्भाव 'स्वीया' नायिका के अन्तर्गत हो सकता है। अग्निपुराणकार भी पुनर्भू के सम्बन्ध में विशेष आग्रही नहीं है।[3] अतः इन्हें पृथक् मानना व्यर्थ का विस्तार करना है। वैसे शारदातनय ने भरत कृत 'देवताशीलादि' २१ भेदों का अपने ग्रन्थ में उल्लेख करके भरत द्वारा प्रतिपादित प्राचीन परम्परा को समादृत किया है।[4]

भोज ने जो नायिका, प्रतिनायिका, उपनायिका, अनुनायिका एवं नायिकाभास—ये पाँच भेद स्वीकार किए हैं।[5] वे शारदातनय को मान्य नहीं हैं, क्योंकि

---

१. स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिकाः।
सामान्या न पुनर्भूरित्पाद्या बहुभेदतः ॥
— अ० पु० ३३९।४१.

२. ना० शा० शो० ३४।२८-३१.

३. अ० पु० ३३९।४१.

४. भा० प्र० पृ० १०९, पं० १६-१९ ; ना० शा० चो० २४।९६-१३५.

५. स० कण्ठा० ५।१०१-१०२, १०५-१०६.

उपनायिका और अनुनायिका का तात्पर्य समान ही होने से किसी एक ही को रखने से काम चल सकता था। इसके अतिरिक्त नायिकाभास तो नायकाभास की भाँति ही अवैज्ञानिक प्रतीत होने से यह शारदातनय को अभीष्ट नहीं जान पड़ता।

कामसूत्र में मुख्य रूप से नायिका के त्रिविध भेद प्रतिपादित किए गए हैं—कन्या, पुनर्भू एवं वेश्या। शारदातनय ने परकीया के दो भेदों में से एक भेद कन्यका माना है, जिसे कामसूत्र में वर्णित 'कन्या' नामक भेद के समकक्ष रखा जा सकता है। पुनर्भू जिसे कि भोज ने भी 'स्वीकार किया है, का अन्तर्भाव 'स्वीया' में हो ही जाता है। वेश्या को शारदातनय ने भी 'गणिका' कहकर पुकारा है। कामसूत्र में एक 'तृतीया प्रकृति' (क्लीव) नामक एक भेद भी माना गया है, किन्तु इस ओर शारदातनय की कोई रुचि प्रतीत नहीं होती, क्योंकि 'क्लीव' को विशुद्ध रूप से 'स्त्री' कैसे माना जा सकता है?

'नाट्यदर्पण' में उत्तमा आदि भेदों के अतिरिक्त कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया एवं पण्य कामिनी—ये चार भेद तथा अन्तिमा, ललितोदात्ता, पूर्वोदात्ता ये तीन अन्य भेद भी प्रतिपादित किए गए हैं। इनके साथ-साथ मुग्धा आदि तीन भेद तथा स्वाधीनमर्तृका आदि अष्ट भेद भी नाट्यदर्पण में माने गए हैं।[1]

विश्वनाथ ने स्वीया, परकीया एवं सामान्या के अनेकानेक भेद-प्रभेद करते हुए नायिका के कुल ३८४ भेद प्रतिपादित किए हैं।[2] संख्या में तो रुद्रट एवं शारदातनय ने भी इतने ही भेद स्वीकार किए हैं किन्तु विश्वनाथ ने जो मुग्धा के प्रथमावतीर्णयौवना आदि पाँच भेद, मध्या के विचित्रसुरता आदि पाँच भेद तथा प्रगल्भा के स्मरान्धा आदि छः भेदों का निरूपण किया है, उसकी परिकल्पना शारदातनय ने नहीं की है।

रूपगोस्वामी ने भरत-सम्मत 'स्वाधीनपतिका' आदि आठ भेदों एवं उत्तमा आदि त्रिविध भेदों के अतिरिक्त स्वकीया के सात भेद तथा परकीया के आठ भेदों को परस्पर सम्मिलित करके कुल ३६० प्रकार की नायिकाओं का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त इन्होंने हरिवल्लभा, वृन्दावनेश्वरी एवं यूथेश्वरी—ये त्रिविध भेद भी निरूपित किए हैं।[3]

---

१. ना० द० ४।३, १९-२६.

२. सा० द० ३।८७.

३. उ० नील० श्लोक १-६० (हरिप्रिया प्रकरण), श्लोक १-५६ वृन्दावनेश्वरी प्रकरण), श्लोक १३-१०२ (नायिका भेद प्रकरण), श्लोक १-२४ (यूथेश्वरी भेद प्रकरण)

भानुमिश्र[1] ने ३८४ भेदों में से 'स्वाधीनपतिका' आदि आठ भेदों के अतिरिक्त 'प्रवत्स्यत्पतिका' नामक एक और नायिका भी मानी है, किन्तु इसका अन्तर्भाव प्रोषितभर्तृका में हो जाने से शारदातनय ने इसकी कल्पना नहीं की होगी। इसके अतिरिक्त भानुमिश्र की 'अन्य सम्भोग दुःखिता'[2] नायका 'खण्डिता' का ही दूसरा रूप होने से शारदातनय ने पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझा होगा, इसीलिए 'अन्य सम्भोग दुःखिता' की विचार-कल्पना ही उन्होंने नहीं की होगी।

श्रीकृष्ण कवि एवं भानुमिश्र द्वारा किए गए नायिका के दिव्या, अदिव्या एवं दिव्यादिव्या[3]—तीन भेद भी शारदातनय को मान्य नहीं हैं क्योंकि सम्भोग-सम्बन्ध की कसौटी पर ये भेद खरे नहीं उतरते जो कि अपेक्षित हैं। साथ ही ये भेद पृथिवी एवं स्वर्ग की नायिकाओं को दो सीमाओं में विभक्त करने का भी प्रयास करते हैं, जो कि नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार शारदातनय को अभीष्ट नहीं; अपितु उन्होंने नायक की भाँति नायिका के भी 'उदात्ता-उद्धता' आदि चार भेद स्वीकार किए हैं।[4]

सन्त अकबारशाह ने श्रृंगारमंजरी' में स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों में भानुमिश्र-सम्मत 'वक्रोक्ति गर्विता' नामक एक भेद और जोड़ दिया है। इन भेदों के भी अनेक उपभेदों का उन्होंने प्रतिपादन किया है। सामान्य रूप से इन्होंने स्वीया, परकीया और सामान्या—ये तीन भेद स्वीकार किए हैं; साथ ही इन तीन भेदों के अनेकानेक प्रभेद भी प्रतिपादित किए हैं। इसके अतिरिक्त कामशास्त्रीय आधार पर हस्तिनी, चित्रिणी, शंखिनी एवं पद्मिनी—ये चार भेद भी स्वीकार किए हैं।

नायिका के यौवन, कोप तथा चेष्टा आदि का वर्णन

सर्वप्रथम भरत के नाट्यशास्त्र में नायिका के यौवन की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है।[5] भरत के परवर्ती नाट्यकारों यथा—धनंजय, भोज, रुद्रट, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ आदि ने नायिका के अलंकार, चेष्टादि का वर्णन तो

---

१. र० मं० पृ० १०५.
२. र० मं० पृ० ९३ श्लोक ३३.
३. (क) पुनश्च तास्त्रिधा ज्ञेया दिव्यादिव्योभयात्मना।
— मन्दा० चम्पू० पृ० ८०.

(ख) र० मं० पृ० १०६-१०७.
४. भा० प्र० पृ० ९७, पं० २० तथा पृ० ९८, पं० ४-१५.
५. ना० शा० पृ० २९६.

किया है, परन्तु उन्होंने प्रथम द्वितीयादि चार यौवनावस्थाओं का उल्लेख नहीं किया है। भरत के अनुकरण के आधार पर शारदातनय ने यौवन के आधार पर नायिका के चतुर्विध भेदों का प्रतिपादन किया है, साथ ही इन चतुर्विध यौवन की विभिन्न चेष्टाओं एवं स्वरूप का भी विस्तृत विवेचन किया है।[1] यह वर्गीकरण शारदातनय के परवर्ती रूपगोस्वामी, सन्त अकबरशाह एवं चिन्तामणि कृत नायिका भेद में भी अभिलक्षित नहीं होता, जिससे अन्य पूर्ववर्ती एवं परवर्ती आचार्यों की अपेक्षा शारदातनय का महत्व नायिका-वर्णन के प्रसंग में स्वतः ही प्रतिपादित हो जाता है। शारदातनय ने स्त्री-पुरुषों के यौवन के काल अर्थात् अवधि का भी निर्धारण किया है।[2]

यौवन की इन चार अवस्थाओं एवं स्वाधीनपतिकादि अष्टावस्थाओं के अतिरिक्त विभिन्न अवस्थाओं एवं समय-समय पर नायिकाएँ विविध प्रकार से प्रणय-कोध भी प्रदर्शित करती हैं। सम्भोग के समय हृदय में प्रसन्न होती हुई भी बाहर से शायक के प्रति कुपित होती है।[3] परन्तु खण्डिता, कलहान्तरिता नायिकाएँ अपराधी नायक के प्रति उस समय वास्तव में क्रोधित हो उठती हैं, जब वह उन्हें उपेक्षित करके अन्य नायिका में अनुरक्त हो जाता है। धृष्ट नायक के अंगों पर परस्त्री सम्भोग के चिह्नों का अवलोकन करके भिन्न-भिन्न प्रकार की नायिकाएँ भिन्न-भिन्न रीतियों से अपना क्रोध प्रकट करती हैं; जैसे—धीरा मध्या नायिका कृतापराध प्रिय को ताने अर्थात् व्यंग वाण बेधती हैं। धीराधीरा मध्या एक ओर रोती भी जाती है और दूसरी ओर नायक को ताने सुना-सुना कर उसे लज्जित भी करती जाती है। अधीरा मध्या भी रोती जाती है, और नायक को कटु से कटु उक्तियाँ सुनाती जाती है। धीरा प्रगल्भा का कोप दो प्रकार से प्रदर्शित होता है—या तो वह नायक के साथ रतिक्रीड़ा में सहयोग न देकर तटस्थ रहे या फिर कृतापराध प्रिय के आने पर वह उसे आवश्यकता से अधिक समादृत करके उसे लज्जित करे। धीराधीरा प्रगलभा नायक पर व्यंग करती है। अधीरा प्रगलभा नायक को भटकारती है, साथ ही पीटती भी है।

शारदातनय ने नायिका द्वारा किए गए क्रोध की चेष्टाओं को स्वीकार करके उनके कोप की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नायक के वामविरूपादि व्यवहारों का विस्तृत विवेचन भरत के मतानुसार प्रस्तुत किया है।[4] उन्होंने क्रोध के सामान्य

---

१. भा० प्र० पृ० १०३, पं० १० ; पृ० १०४-१०५.
२. भा० प्र० पृ० १०५, पं० ११.
३. का० अलं० (रुद्रट) १३।२-५.
४. भा० प्र० पृ० १०८ पं० १०-२२ ; पृ० १०९ पं० १-६.

रूप से तीन भेद—क्रोध, कोप एवं रोष—प्रतिपादित किए हैं। पुनः क्रोध के पाँच विभाग किए हैं यथा—शत्रु, मित्र प्रिया, भृत्य, पूज्य में किया जाने वाला क्रोध। इसके आगे उन्होंने क्रोधियों की अष्टावस्थाओं को भी स्वीकार किया है।[1] रुद्रट ने असाध्य, सुख-साध्य एवं दुःखसाध्य के भेद से कोप के त्रिविध प्रकारों का निरूपण किया है।[2]

नारी की विभिन्न चेष्टाएँ उसके शील एवं स्वभाव के परिष्कृत रूप को प्रदर्शित करती हैं। साथ ही ये चेष्टाएँ शारीरिक शोभा में भी परिवर्धन करती हैं। प्रेम, माधुर्य एवं चातुर्य से युक्त स्त्रियों की अनुकूल चेष्टाएँ उनके नायक के प्रति राग-चिह्नों को लक्षित करती हैं। साधारणतया वे सब राग-चिह्न सभी स्त्रियों के होते हैं—मारुति कवि के इस कथन का अनुमोदन शारदातनय स्पष्ट रूप से करते हैं।[3]

शारदातनय के अनुसार वे स्त्रियां प्रिय के आलिंगन करने पर उनका गाढ़ा आलिंगन करती हैं, रोमांचित होती हैं, प्रिय के स्पर्श करने पर मोहित होती हैं, स्वेदादि सात्विक भावों से युक्त हो जाती हैं, दीर्घ निःश्वांस लेती हैं। इस प्रकार नायिकाओं की विभिन्न चेष्टाओं का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् शारदातनय श्रृंगार के उपयोगी इन भावों एवं विकारों तथा चेष्टाओं को मनीषियों द्वारा ग्राह्य (वर्णनीय कहते हैं।[4]

भरत एवं उनके परवर्ती आचार्यों (धनंजय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि) की भाँति शारदातनय ने भी नायिकाओं के अलंकारों को स्वीकार किया है। सात्विक भाव मनुष्य के मन में संवेदन के रूप में व्याप्त रहते हैं। उनकी अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से होती है। परन्तु ये अलंकार शरीर की शोभा-मात्र ही नहीं हैं, अपितु इनसे जीवन के आन्तरिक सौन्दर्य की ज्योतिर्मयी आभा भी प्रतिभाषित होती है। भरत के अनुसार ये अलंकार तीन प्रकार के होते हैं—आंगिक, अयत्नज एवं स्वाभाविक। भाव, हाव हेला— ये तीनों आंगिक अथवा शरीरज अलंकार हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, धैर्य, प्रागल्भ्य तथा औदार्य— ये सात अयत्नज अलंकार हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित एवं विहृत—ये दस स्वभावज अलंकार हैं।[5]

---

१. भा० प्र० पृ० ७१, पं० ७, २२.

२. का० अलं० १४।१८.

३. भा० प्र० पृ० ११४, पं० १६.

४. भा० प्र० पृ० ११५ पं० ७, १५ ; पृ० ११८ पं० ११-१२.

५. ना० शा० चो० २४।८-३०.

भरत के परवर्ती धनंजय, अभिनवगुप्त एवं रामचन्द्र-गुणचन्द्र की भाँति इन बीस अलंकारों को शारदातनय ने भी स्वीकार करके प्राचीनकाल से आई हुई परम्परा को अबाध गति से प्रवाहित किया है। 'भावहावश्चहेला'—इन तीनों के साथ 'शोभाकान्ति आदि' सात अलंकारों को मिलाकर दस सात्विक अलंकार स्वीकार किए हैं ; तथा 'लीला विलास आदि' दस शरीरज अलंकारों का प्रतिपादन किया है।[1]

इन अलंकारों से युक्त स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार की चेष्टाएँ अपने शील व स्वाभावानुसार प्रदर्शित करती हैं। क्योंकि ये अलंकार देहाश्रित होने के साथ-साथ भाव एवं रस के आधार भी होते हैं, अतः वे जीवन के अन्तर-बाह्य को सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य एवं स्नेह के प्रकाश से ज्योतिर्भान करते रहते हैं।[2]

नायिका की सहायिकाएँ—जिस प्रकार नायक के सहायकों का नाट्य में विशेष निरूपण हुआ है, उसी प्रकार नायिका की सहायिकाओं का भी विवेचन परम्परागत प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र में दूतियों का उल्लेख मिलता है। वहाँ उनके भेद, गुण एवं कार्यों की गणना हुई है। कथिनी, लिंगिनी, रंगोपजीवना, प्रातिवेश्या, सखी, दासी, कुमारी, दारुशिल्पनी, धात्री, पाषंडिनी आदि नाम उल्लिखित हैं।[3]

रुद्रट ने इन्हीं को 'अगम्या नारियां' के नाम से अभिहित किया है। इनमें सम्बन्धिनी, सखी, श्रोत्रिया, राजदारा, उत्तमवर्णदारा, निर्वसितदारा, भिन्नरहस्या, व्यंगा अथवा विकृतांगा तथा प्रव्रजिता को सम्मिलित किया है।

दूती आदि के निरूपण में शारदातनय ने भरतकृत नाट्यशास्त्र से ही आधार ग्रहण किया, तथा कथिनी, लिंगिनी, दासी, कुमारी, कारुशिल्पनी, प्रातिवेश्या, सखी, रंगोपजीवनी, धात्रेयिका, प्रेक्षणिका आदि दूतियों का उल्लेख किया है।[4] ये दूतियां या सहायिकाएँ देश-काल की मर्मज्ञ, मधुरभाषिणी, चतुर, प्रोत्साहन प्राप्त करने में कुशल, मन्त्रणाप्रदात्री, नवानुराग में, मानादि प्रसंग में तथा विरहकाल में नायिका का नायक से समागम कराने वाली होती हैं।[5] उत्सव के अवसर पर, अभिसरण के समय, रात्रिसंचरण में, उद्यान में या नायक के घर जाते समय ये सहायिकाएँ नायिका के साथ नानाविध उपाय करती हुई विद्यमान

१. भा० प्र० पृ० ८, पं० २३-२४, पृ० ९ पं० १-३.
२. भावयन्बहिरन्तस्स्थानर्थान्भाव उदाहृतः।
— भा० प्र० पृ० ८, पं० १०.
३. ना० शा० चो० २५।६-१८.
४. भा० प्र० पृ० ९४, पं ६-८.
५. भा० प्र० पृ० ९४, पं० ११-१४.

रहती हैं। दासी सेवा करती है। धात्री व्याधि इत्यादि को दूर करने में कुशल होती है। सखी विशेष रूप से नूतन अनुराग के समय नायक-नायिका का प्रथम समागम कराने में सहायता प्रदान करती है।[1] साथ ही साथ सखी नायिका का प्रेम-संदेश, जिसे लज्जावश नायिका स्वयं नायक से नहीं कह पाती, नायक के पास पहुँचाती है एवं उसकी विरह व्यथा का वर्णन करके नायक के हृदय में भी नायिका के प्रति रतिभाव जाग्रत करने में अपनी कुशलता का परिचय देती है।

दूतियों के इन्हीं समस्त आवश्यक गुणों की सहायता से नाट्य की कथा-वस्तु को उत्तरोत्तर निर्बाध गति से अग्रसर होने का अवसर प्राप्त होता है। दूतियों की इसी उपादेयता को दृष्टिपथ में रखकर, भरत एवं परवर्ती सभी आचार्यों की भाँति शारदातनय ने नायिका-वर्णन के साथ-साथ नायिका की इन सहायिकाओं का वर्णन भी विशेष रूप से किया है।

उपसंहार—भरत से लेकर परवर्ती आचार्यों के नायक-नायिका-भेद पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि प्रारम्भ में अग्निपुराण, भरत एवं भोज के ग्रन्थों में इस विषय का विस्तृत वर्णन तो अवश्य प्रस्तुत किया गया, परन्तु सुव्यवस्था अधिक परिलक्षित नहीं होती। भानुमिश्र ने विषय की व्यवस्था तो भली-भाँति प्रतिपादित की, परन्तु विषय का विस्तार उन्होंने भी रखा। रुद्रट और विश्वनाथ ने भी व्यवस्था तो सुदृढ़ प्रस्तुत की, किन्तु उनके द्वारा प्रस्तुत विषय-सामग्री अत्यन्त संक्षिप्त थी। ध्यान देने योग्य बात है कि शारदातनय ने भरत और रुद्रट—इन दोनों प्रमुख आचार्यों का यथासम्भव अनुकरण करके विषय-सामग्री का अनुपात भी आवश्यकतानुसार उचित रखा, साथ ही सुरुचिपूर्ण व्यवस्था का भी ध्यान रखा।

नायक-नायिकादि भेद प्रसंग में एक बात विशेष ध्यातव्य है कि भरत ने अपना पात्र-विधान सर्वथा नाट्योन्मुखी रखा है परन्तु भरत-परवर्ती आचार्यों की भाँति शारदातनय के पात्र-विधान की कल्पना रसोन्मेषी है, जिससे काव्य का प्रमुख उद्देश्य अर्थात् 'रस की चरम आस्वाद्यानुभूति' का लक्ष्य भी पूर्ण हो जाता है। नायक-नायिकादि पात्रों को केवल नाट्योपयोगी दर्शाने से उनमें लोक-जीवन की वास्तविकता का प्रतिबिम्ब परिलक्षित नहीं होता, अपितु वे व्यावसायिक नायक-नायिकादि के रूप में सम्मुख उपस्थित होते हैं।

अतः पात्र-विधान की संयोजना में नाट्यरस का आनन्द पूर्णरूप से मिलता चले—इसी उद्देश्य की पूर्ति को दृष्टिपथ में रखकर शारदातनय ने भरत के परवर्ती

---

१. भा० प्र० पृ० ६४, पं० १५-१६.

आचार्यों की भाँति नायक-नायिकादि पात्रों की योजना केवल नाट्योन्मुख न रखकर रसोन्मुख रूप से प्रतिपादित की है ।

इस प्रकार प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक नाट्य एवं काव्य-क्षेत्र में नायक-नायिका-भेद के निरूपण की जो परम्परा प्रस्रवित होती रही है, वह श्रृंगार-रस के आलम्बन-विभाव के परिवेश में ही सुशोभित रही । अग्निपुराण एवं भरत से आगे बढ़कर यह धारा भोज, रुद्रट, रुद्रभट्ट, वाग्भट्ट के समीप होती हुई शारदातनय तक आई और विश्वनाथ, विद्यानाथ, श्रीकृष्ण कवि, रूपगोस्वामी एवं भानुमिश्र आदि तक प्रवाहित होती गई ।

–:०:–

अध्याय ७

नाट्य का शरीर

नाट्य का सामान्य लक्षण

अग्निपुराण में नाट्य को त्रिवर्ग का हेतुभूत साधन कहा गया है।[1] नाट्य के लक्षण का शास्त्रीय-विवेचन करते हुए भरत ने सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि नाट्य समस्त त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्त्तन है। वह नाना भावों से सम्पन्न, नानाविध अवस्थान्तरात्मक एवं लोकवृत्त का अनुकारक होता है।[2] नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्य के इसी स्वरूप के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने अधिकांशतः नाट्य का सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया है। शारदातनय-कृत नाट्य के स्वरूप पर भरत के साथ-साथ धनंजय का भी प्रभाव जान पड़ता है।[3] नट में राम आदि की जो तादात्म्यापत्ति होती है, वह नाट्य कहलाती है। प्रेक्षकों के द्वारा उस रूप को देखे जाने के कारण वह (नाट्य) 'रूपक' भी कहलाता है तथा मुख पर कमल के आरोप के समान उस रूप का आरोप किया जाता है।[4]

भरत ने जिस अनुव्यवसाय-विशेष रूप अनुकीर्त्तन को 'नाट्य' माना है, उसे अभिनवगुप्त से पूर्ववर्ती (नाट्यशास्त्र के) व्याख्याकार 'अनुकरण' रूप कह कर शंका करते हैं कि 'लोक में तो सब जगह नृत्य-गीत-वाद्य आदि का प्रयोग नहीं होता।' इसके साथ ही वह स्वयं ही अपनी शंका का समाधान यह कहकर देते हैं

१. त्रिवर्गसाधनं नाट्यमित्याहुः करणं च यत्। — अ० पु० ३३८।७.

२. ना० शा० चो० १।१०४, १०८–१०९.

३. द० रू० १।७.

४. अवस्थानुकृतिर्नाट्यमिति सामान्यलक्षणम्।
रामादितादात्म्यापत्तिर्नटे या नाट्यमुच्यते॥
रूपकं तद्भवेद्रूपं दृश्यत्वात्प्रेक्षकेरिदम्।
रूपकं तदारोपात्कमलारोपवन्मुखे॥ — भा० प्र० पृ० १८० पं० २–५.

कि 'लोक में भी आसन-गमन-स्नान-भोजन आदि के पूर्व गीतवाद्य आदि का प्रयोग किया जाता है।' किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि अभिनवगुप्त ने अनुकीर्त्तनरूप नाट्य को अनुकरण रूप स्वीकार नहीं किया है तथा इसके प्रमाणस्वरूप उन्होंने भरत-मुनि की कारिका को ही उद्धृत किया है।[1]

धनंजय एवं शारदातनय जो 'अनुकृति' शब्द का प्रयोग किया है उसका आधार भरतमुनि का 'अनुकीर्त्तन' ही है; जबकि धनिक ने 'अवस्थानुकारः' कह कर अनुकीर्त्तन के स्थान पर अनुकरण-रूप अर्थ का निर्देश किया है। फिर भी उन्होंने उस तादात्म्यापत्ति का भी उल्लेख किया है, जिसे भरत एवं अभिनवगुप्त साधारणीकरण की क्रिया कह चुके हैं।[2] इस तादात्म्यापत्ति का प्रतिपादन शारदातनय ने भी नाट्य-स्वरूप-निर्देशन के अवसर पर स्पष्ट रूप से किया है।[3]

शार्ंगदेव ने भरत-परम्परा से प्रभावित होकर नाट्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। विश्वनाथ ने दृश्यकाव्य को 'रूपक' की संज्ञा प्रदान करते हुए उसके रूपकत्व की सिद्धि के लिए जो तद्रूपारोपण की स्थापना स्वीकार की है, उस पर शारदातनय का स्पष्ट प्रभाव जान पड़ता है। नाट्य-विवेचन की इस परम्परा में शिगभूपाल भी धनंजय एवं शारदातनय से प्रभावित हैं, इसमें सन्देह नहीं। श्री रूपगोस्वामी ने भी भरत-परम्परा को ही समादृत किया है।[४]

पुराणकाल[५] से लेकर भरत, धनंजय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय और उनके पश्चात् विश्वनाथ, शिगभूपाल आदि परवर्ती आचार्यों की नाट्य-परम्परा में 'रूपक', 'अभिनय', 'नाट्य' एवं 'नाटक' शब्द दृश्यकाव्यों के लिए प्रचलित रहे हैं, जो कि युक्तियुक्त भी हैं। वस्तुतः ये समस्त शब्द अर्थ एवं प्रयोग की दृष्टि से पर्यायवाची हैं, क्योंकि नाट्य में अभिनय ही तो मूल-तत्त्व है और पात्र को स्वयं से पृथक् दूसरे रूप को ग्रहण भी करना पड़ता है।

नाट्य, नृत्त और नृत्य

नाट्यशास्त्रीय परम्परा में नाट्य, नृत्त एवं नृत्य—इन तीनों की परिचर्चा यत्र-तत्र उपलब्ध होती रही है। वैदिक युग में 'नृत्त' एवं 'नृत्ति' शब्द का उल्लेख

---

१. हि० अभि० भा० भाग १, पृ० १८७–१८८, २०१.

२. द० रू० (अवलोक) १।७ ; हि० अभि० भा० भाग १, पृ० १८६.

३. भा० प्र० पृ० १८० पं० ३.

४. सं० र० ७।१७ ; सा० द० ६।१ ; र० सु० ३।१–२ ; ना० चं० श्लोक १, पृ० १.

५. वि० पु० (नाटकाख्यानलक्षणम्) ३।१७–५ ; हरि० पु० (विष्णुपर्व) ९३।८–११, अ० पु० अध्याय ३३८।१, ७.

है,[1] जिससे पता चलता है कि नाट्य, नृत्त एवं नृत्य में से 'नृत्त' ही सर्वाधिक प्राचीन है। 'नट' शब्द का उल्लेख अष्टाध्यायी के अन्तर्गत जहाँ हुआ है,[2] वहाँ से नटसूत्रों का सूत्रपात हुआ। वैसे 'नट' धातु का प्रयोग ऋग्वेद में भी एक स्थान पर है।[3] वैदिक काल में नट् एवं नृत्त का प्रयोग जिस अर्थ में हुआ, आगे चल कर उसी अर्थ में अभिनय एवं नृत्य का प्रयोग भी होने लगा।[4] किन्तु फिर भी नाट्य, नृत्य एवं नृत्त—इन तीनों में सूक्ष्म एवं महत्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित होता है।

पाणिनि ने 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति नट् धातु से मानी है।[5] मोनियर विलियम्स एवं बेवर महोदय नट् धातु को 'नृत्त' का ही प्राकृत रूप मानते हैं।[6] यहाँ यह कहना अपेक्षित होगा कि जो विद्वान् नट् धातु का जन्म 'नृत्त' के अत्यन्त बाद का मानते हैं,[7] वे सम्भवतः ऋग्वेद में प्रयुक्त नट् धातु से परिचित नहीं है। यह दूसरी बात है कि नट् एवं नृत्त--इन दोनों धातुओं का प्रयोग ऋग्वेद में स्वतन्त्र अर्थों में हुआ है।[8] नृत्त एवं नृत्य इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति 'नृत्त' धातु से हुई है।

भरत ने नाट्य को लोक की सुखदुःखात्मक अनुभूतियों से युक्त एवं आंगिक आदि अभिनयों से आविष्ट कहा है।[9] नृत्य एवं नृत्त इसी नाट्य के समीपवर्ती तथा उपकारी हैं।[10] अतएव इन तीनों में नाट्य ही सर्वप्रधान है। सागरनन्द के अनुसार

---

१. प्रांचो अगामनृत्तये। — ऋ० वे० १०।१८।३, १।३६।२, ८।२४।६.
नृत्ताय सूतं। — यजुष् ३०।६०.

२. अष्टा० ४।३।११०.

३. ऋ० वे० ७।१०४।२३.

४. (क) नट नृत्तौ इत्थमेव पूर्वमपि पठितम्। तत्रायं विवेकः पूर्वं पठितस्य नाट्य-मर्थः। यत्कारिषनटव्यपदेशः। — सि० को० (तिङन्त प्रकरण)
(ख) मालविका० अंक १, २.
(ग) 'नाट्यसर्वस्व दीपिका' — टाइम्स आफ़ संस्कृत ड्रामा, पृ० ८.

५. अष्टा० ४।३।१२९.

६. संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ५१५ ;
ए हिस्ट्री आफ इडियन लिटरेचर, तृतीय संस्करण, पृ० १९७.

७. टाइम्स आफ़ संस्कृत ड्रामा, पृ० ७.
दी इण्डियन थियेटर, अध्याय ६, पृ० १३६—डा० चन्द्रभान गुप्त.

८. सायण भाष्य—१०।१८।३ (नट्=व्याप्नोति, नृत्त=हिलना-डुलना),
नृत्त एवं नट् के अर्थ के लिए द्रष्टव्य ५।१०५।२३.

९. ना० शा० गा० ओ० सी० १।११६.

१०. भा० प्र० पृ० १८१ पं० १०–११.

नाट्य-विषयक अभिनेय काव्य को रूपक अथवा नाटक कहा जाता है।[1] भरत आदि की ही भाँति अभिनयदर्पण में नाट्यवेद को अभिनय की दृष्टि से नाट्य, नृत्य, नृत्त – तीन प्रकार का बताया गया है। साथ ही नाट्य, नृत्त एवं नृत्य के लक्षण भी प्रस्तुत किए गए हैं। लोक के द्वारा पूज्य किसी प्राचीन कथा के अभिनय को नाट्य कहते हैं। भावाभिनयहीन नृत्त कहलाता है। रस, भाव, व्यंजन आदि से युक्त राजदरबारों में किया जाने वाला अभिनय नृत्य कहलाता है।[2]

भावप्रकाशन के 'अष्टमोऽधिकारः' में शारदातनय ऐसी विभिन्न प्रकार की कविताओं (काव्यों) को प्रस्तुत करते हैं, जो दर्शकों के हृदय में रसास्वाद को जागृत करती हैं। शारदातनय के अनुसार ऐसी कविताओं की संख्या तीस है, जबकि भोज ने चौबीस एवं विश्वनाथ ने अट्ठाइस ही स्वीकार की है।[3] शारदातनय ने ये तीस प्रकार नाट्य (रूपक) एवं नृत्य नामक दो मुख्य विभागों में विभक्त किए हैं। भरत-निर्दिष्ट प्रसिद्ध दश रूपक नाट्य के अन्तर्गत लिए गए हैं, जो कि रसात्मक हैं तथा अन्य बीस प्रकार नृत्य के भेद माने जाते हैं, जो कि भावात्मक हैं।[4] नाट्य एवं नृत्य का सबसे मुख्य अन्तर उनकी क्रमशः रसाश्रयता एवं भावाश्रयता ही है। रस एवं भाव पर आधारित होने के कारण ही नाट्य वाक्यार्थाभिनयात्मक तथा नृत्य पदार्थाभिनयात्मक होता है।[5] नृत्य केवल दृश्य ही होता है, जबकि नाट्य दृश्य के साथ-साथ श्रव्य भी हो सकता है। अतः यह कथन उचित है कि नाट्य सर्वांगपूर्ण होता है। नृत्य की सीमा नाट्य की अपेक्षा संकुचित होती है, उसमें केवल आंगिक अभिनय की प्रधानता रहती है जबकि नाट्य में आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य—इन चतुर्विध अभिनयों का समावेश रहता है। यद्यपि नाट्य एवं नृत्य—इन दोनों के माध्यम से श्रोता एवं दृष्टा सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetic) के आनन्द का अनुभव करते हैं तथापि नृत्य के प्रकार केवल कतिपय भावों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः वे कभी-कभी नाट्य से निम्न श्रेणी के समझे जाते हैं।

'नृत्त' रस पर आधारित होता है। बिना हाव-भाव दर्शाये हुए शरीर के विशेष संचालन को नृत्त द्वारा लय एवं ताल के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

---

१. एवं विधं नाट्यविषयं नाटकं प्रस्तौति।

— ना० ल० को० पृ० १.

२. अभि० द० श्लोक ११–१६.

३. भा० प्र० पृ० २२१ पं० ४–१० ; सा० द० ६।३–६.

४. भा० प्र० पृ० २२१ पं० ११–१२.

५. द० रू० १।६ ; भा० प्र० पृ० १८१ पं० ७–८.

नृत्त नटाश्रित होता है, जबकि नृत्य नर्तकाश्रित कहा जाता है।[1] धनंजय एवं शारदातनय नृत्त को देशी एवं नृत्य को मार्गी की संज्ञा प्रदान करते हैं।[2] शार्गदेव ने भी नृत्त को समस्त अभिनयों से वर्जित गात्राविक्षेप मात्र कहा है तथा नृत्य को भावों द्वारा अभिव्यक्त एवं आंगिक अभिनय और 'मार्ग' संज्ञा से युक्त कहा है।[3] इस विषय में शार्गदेव धनंजय एवं शारदातनय से पूर्ण रूप से प्रभावित जान पड़ते हैं। इन्हीं दोनों विद्वानों की भाँति शार्गदेव ने भी नृत्त के दो भेद—ताण्डव एवं लास्य माने हैं।[4] विशेष कथनीय है कि ताण्डव एवं लास्य का जितना विस्तृत साथ ही सुव्यवस्थित निरूपण शारदातनय ने प्रस्तुत किया है,[5] वैसा अन्यत्र दर्शनीय नहीं है। उन्होंने नाट्य, नृत्य एवं नृत्त सम्बन्धी विभिन्न आवश्यक बातों को बताते हुए उनके प्रयोग के लिए उचित काल के निर्देश का भी ध्यान रखा है,[6] जिनका प्रेरणा-बीज उन्हें सम्भवतः अभिनयदर्पण[7] से प्राप्त हुआ होगा जो भावप्रकाशन में सुरुचिपूर्ण ढंग से फलीभूत हुआ है। यही कारण है कि यद्यपि नाट्य, नृत्य एवं नृत्त—इन तीनों विषयों पर अभिनवभारती, दशरूपक, सिद्धान्त कौमुदी, प्रतापरुद्रयशोभूषण, संगीत-रत्नाकर, मन्दारमरन्दचम्पू आदि ग्रन्थों में भी उल्लेख प्राप्त होता है,[8] किन्तु जैसा विषद विवेचन भावप्रकाशन में किया गया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय एवं उपादेय है।

नाट्य का संगीत से सम्बन्ध

नाट्य का संगीत के साथ 'मणिकांचन संयोग' होता है। 'संगीत' शब्द में गीत, वाद्य तथा नृत्य या नृत्त—तीनों का समावेश होता है।[9] गायन के अधीन

---

१. भा० प्र० पृ० १८१ पं० ६, पृ० २६८ पं० १०–१३, पृ० २६६ पं० १६–१७.
२. द० रू० १।६ ; भा० प्र० पृ० २६६ पं० १०, १८–१६.
३. सं० र० ७।२–३, २७–२८.
४. ताण्डवं लास्यमित्येनद् द्वयं द्वेधा निगद्यते। — सं० र० ७।२८.
५. भा० प्र० पृ० २६६ पं० २०–२२, पृ० २६७ पं० १२२, पृ० २६८ पं० १४–२२, पृ० २६६ पं० १–१६.
६. भा० प्र० पृ० १६६ पं० ५–८.
७. अभि० द० श्लोक १२–१४.
८. हि० अभि० भा० भाग १ पृ० १३, १३१–१३२ ; वै० सि० कौ० (तिङन्ते चुरादिप्रकरणम्), पृ० ३८८ ; (तिङन्ते दिवादि प्रकरणम्) – पृ० ३२२ ; प्र० रुद्र० यशो० पृ० १०१ (बाम्बे संस्कृत सीरीज) ; सं० र० अध्याय ७ (नर्त्तनाध्यायः) ; मन्दा० चम्पू० पृ० ५६ (काव्यमाला सीरीज)।
६. गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।
— सं० र० (प्रथम-स्वरगताध्याय, श्लोक २१)

वादन, वादन के अधीन नृत्य है, अतः गायन अथवा गीत सर्वप्रधान है।[1] संगीत-रत्नाकर में उल्लिखित इस कथन पर 'भावप्रकाशनम्' का प्रभाव स्पष्ट रूपेण जान पड़ता है, क्योंकि शारदातनय गीत, वाद्य एवं नृत्त को नाट्य का उपकारक कहते हुए उनमें से गीत अथवा गेय को नाट्य का प्राण कह चुके हैं।[2] यही गेय चतुर्वर्ग (धर्मार्थकाममोक्ष) की प्राप्ति का साधन है।[3] नाट्य का मूल उद्देश्य भी धर्मार्थादि की सिद्धि ही है। अतः नाट्य एवं संगीत का सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। नाट्य वेद की रचना के लिए प्रजापति ने चारों वेदों से क्रमशः वस्तु, गीत, अभिनय एवं रस—चार तत्वों को ग्रहण किया।[4] इससे स्पष्ट है कि नाट्य वेद के सृजन के लिए गीत भी उतना ही आवश्यक एवं महत्वपूर्ण तत्व है, जितना कि वस्तु, अभिनय एवं रस। इसीलिए नाट्यादि के प्रयोग में संगीत की योजना गायकों के द्वारा प्रदर्शित की जाती है।[5]

प्राचीन युग से आज तक नाट्यगृहों में नाटक के प्रदर्शन के पूर्व से ही गीत वाद्य (Orchestra) का प्रयोग होता रहा है। हास्य रस प्रधान अथवा करुण रस प्रधान—जैसा भी नाटक का इतिवृत्त होता है, तदनुरूप संगीतयोजना का समारम्भ किया जाता है, इससे नाटक के अनुरूप एक नैसर्गिक वातावरण की सृष्टि होती रहती है। नाटक के मध्य में भी अवसरानुकूल संगीत योजना का अपना पृथक् महत्व होता है। किसी प्रकार से उत्पन्न हुई नीरसता अथवा अवरुद्धता के निराकरण हेतु गीत, वाद्य एवं नृत्त की योजना रुचिकर एवं लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। युद्ध, मृत्यु आदि अनेक घटनाओं, जिनका प्रदर्शन रंगमंच पर सम्भव नहीं हो पाता, का स्पष्ट संकेत संगीत द्वारा दिया जा सकता है। पात्रों के चरित्र के उभार के लिए संगीत का प्रयोग गुणकारी सिद्ध होता है, यथा नाटक के नायक-नायिका यदि शिव-पार्वती हैं, तो उनके लिए ताण्डव एवं लास्य नृत्तों की योजना आवश्यक रूप से करणीय है। नायक कृष्ण के चरित्रचित्रण के लिए वेणु वाद्य का प्रयोग करना अपेक्षित होगा। प्रकृति के मनोरम दृश्य के प्रदर्शन के समय तदनरूप सुकोमल

---

१. नृत्तं वाद्यानुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च ॥
अतो गीत प्रधानत्वादत्रादावभिधीयते ।
— सं० र० (प्रथम-स्वरगताध्याय, श्लोक २४–२५)

२. नृत्तं गीतंच वाद्यंच नाटकाद्युपकारकम् ।
गेयं प्राणाः प्रयोगस्य सर्व वा गेयमुच्यते ॥ – भा० प्र० पृ० १८१, पं० १५-१६.

३. गेय साध्यं हि धमार्थकाममोक्षचतुष्ट्यम् । – भा० प्र० पृ० १८१, पं० १७.

४. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि । – ना० शा० चो० १।१७.

५. नाटकाद्युपयोगोऽत्र गायकानां प्रदर्श्यते ॥ – भा० प्र० पृ० १८१, पं० १४.

सरस स्वर-लहरी नाट्ययोजना में प्रभावोत्पादकता की सृष्टि करेगी। पात्रों की शोक-हर्षादि विभिन्न मनस्थितियों के प्रकटीकरण के लिए करुण अथवा उल्लासयुक्त स्वरों की सृष्टि करने वाला वाद्य संगीत सहायक सिद्ध होगा।

यतश्च संगीत तथा संगीतवाद्य भी श्रोताओं के हृदय में रस उत्पन्न करने में नाटकीय प्रस्तुतीकरण की सहायता करते हैं, शारदातनय संक्षेप में भारतीय संगीत का मूल देने का उत्तरदायित्व लेते हैं। वे सृष्टि के साथ ही साथ इसका आरम्भ करते हैं तथा इसका कथन का उल्लेख करने में वे शैव व तान्त्रिक दर्शन के ३६ तत्वों (सिद्धान्तों) का अनुसरण करते हैं। इस विषय के प्रतिपादन के समय वे सांख्य तथा वेदान्त-दर्शन का विस्तारपूर्वक कथन करते हैं।[1]

ध्यातव्य है कि नाट्य परम्परा से प्राप्त ग्रन्थों में संगीत एवं उसके अंगों का इतना विषद विवेचन भावप्रकाशन के अतिरिक्त अन्यत्र अप्राप्य है। भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र, दशरूपक, नाट्यदर्पण इत्यादि पूर्ववर्ती नाट्यविषयक ग्रन्थों में नाट्य एवं संगीत के सम्बन्ध पर भी वैसा प्रकाश नहीं डाला गया है, जिसके प्रति शारदातनय सचेत हैं। यद्यपि भरत ने भी संगीत के महत्व को स्वीकार किया है[2] तथापि वे गीतवाद्य को नाट्य प्रयोग का एक सहायक मात्र कहते हैं; वे गीत-वाद्यादि को नाट्य के अन्तर्गत नितान्त लीन नहीं मानते अपितु, उन्हें नाट्य में अलातचक्र के के समान मिला हुआ स्वीकार करते हैं।[3] गीतवाद्यादि का अधिक प्रयोग उन्हें नाट्य में प्रभिप्रेत नहीं है।[4] वैसे गीतवाद्यादि-विधान की परम्परा भरत से पूर्व भी विद्यमान रही थी, क्योंकि भरत ने अपने ग्रन्थ में नारद, स्वाति, तुम्बरु आदि आचार्यों का भी उल्लेख किया है। जो भी हो, नाट्य में संगीत-प्रयोग के प्रति भरत उतने उदार नहीं जान पड़ते, जितने कि शारदातनय हैं। हां अभि-नवगुप्त ने गीत को नाट्य (प्रयोग) का प्राण स्पष्ट रूपेण कहा है।[5]

शारदातनय के परवर्ती काल में जो संगीत विषयक ग्रन्थों यथा-संगीत-रत्नाकर, संगीतमकरन्द आदि की जो रचना हुई, उनमें संगीत-विषयक विवेचन

---

१. भा० प्र० पृ० १८१ पं० १८–२२, पृ० १८२ पं० १–२२, पृ० १८३ पं० १-२२.

२. गीते प्रयत्नः प्रथमं तु कार्यः शय्यां हि नाट्यस्यवदन्दि गीतिम्।
गीते च वाद्ये च हि सुप्रयुक्ते नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति॥
— ना० शा० २२।४४१, का० मा० सं०

३. एवं गीतं च वाद्यं नाट्यं च विविधाश्रयम्।
अलातचक्रप्रतिमं कर्त्तव्यं नाट्यप्रयोक्तृभिः॥ – ना० शा० २८।७, का० मा० सं०

४. ना० शा० ५।१५८–६०, गा० ओ० सी०

५. प्राणभूतं तावद् ध्रुवागानं प्रयोगस्य।
— अभि० भा० बड़ौदा संस्करण, तृतीय खण्ड, पृ० ३८६.

ता किया गया, परन्तु वहाँ दार्शनिक शैली का अभाव तो है ही, साथ ही संगीत एवं नाट्य के सम्बन्ध पर भी कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। इसके लिए शारदातनय निसंदेह प्रशंसा के पात्र हैं। उन्होंने संगीत-विषयक विवेचन में विस्तार की अपेक्षा तो रखी है, परन्तु वे विस्तार के प्रति ऐसे दुराग्रही भी नहीं हुए हैं कि विवेचन अव्यवस्थित हो उठे। अपितु संगीत जैसे सुकोमल सरस विषय की उत्पत्ति का मूल दार्शनिक पृष्ठभूमि में खोजने का सफल प्रयास करते हुए उन्होंने अपनी अपूर्व प्रतिभा का तो परिचय दिया ही है, साथ ही इस ओर एक मौलिक विचारधारा को प्रस्तुत करके संगीत-क्षेत्र को एक सुष्ठु परिवेश प्रदान किया है।

नाद, वर्ण, श्रुति, स्वर आदि के सम्बन्ध में विचार

नाद—'नद् शब्दे' धातु से भावअर्थ में घञ् प्रत्यय लग कर 'नाद' शब्द बनता है जिसका अर्थ है शब्द।[1] हरिवंश पुराण में भी नाद शब्द का अर्थ शब्द माना गया है।[2] यह शब्द ही ध्वनि है, यही नाद है।[3] इसी नाद के अधीन ही यह सारा जड़-चेतन जगत् है।[4] 'नाद' ब्रह्म का प्रतीक है। यह समस्त जगत् नादात्मक है; इसके बिना न गीत की सत्ता है, न स्वर की। नृत्त भी नाद के बिना सम्भव नहीं है। नाद के बिना ज्ञान एवं शिव की भी स्थिति नहीं है। नाद ही परम् ज्योति एवं परम् हरि है।[5] नाद का 'नकार' प्राणवायु का एवं 'दकार' प्राणाग्नि का सूचक है।[6] वाक्यपदीय के अनुसार कण्ठाभिघात से उत्पन्न ध्वनि ही अकार आदि की व्यंजक है।[7] 'संगीतसमयसार' में नाद के तीन स्थान मन्द्र, मध्य एवं तार क्रमशः हृदय,

---

१. शब्दकल्पद्रुम (द्वितीय काण्ड) पृ० ८५८.

२. विभान्ति ते देववराः ससाध्याः प्रध्माति शंखस्वनसिंहनादाः ॥

— हरि० पु० २३५।५६.

३. अ० को० २५५–२५६.

४. नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः ।
वचसो व्यवहारो यं नादाधीनमतो जगत् ॥

— सं० र० अध्याय १, द्वितीय प्रकरण, श्लोक २.

५. न नादेन विना गीतं न नादेन विना स्वरः ।
न नादेन विना नृत्तं तस्मान्नादात्मकं जगत् ॥
न नादेन विना ज्ञानं न नादेन विना शिवः ।
नाद रूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परं हरिः ॥

— संगीत दामोदर (शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड, पृ० ८५८)

६. शब्दकल्पद्रुम (द्वितीय काण्ड) पृ० ८५९.

७. वा० प० ब्रह्मकाण्ड – ९७.

कण्ठ एवं शिर से सम्बन्ध बताये गए हैं। इसी मत को शार्ंगदेव ने भी स्वीकार किया है।[1] शार्ंगदेव ने ध्वनि की उत्पत्ति में आत्मा, मन, वह्नि, वायु आदि का जो क्रम प्रतिपादित किया है, उस पर शारदातनय-कृत निरूपण का स्पष्ट प्रभाव द्रष्टव्य है।[2] नाद शब्द की व्युत्पत्ति एवं उसके पंचविध होने के विषय में शार्ंगदेव मतंग के अनुयायी हैं।[3] शारदातनय ने नाद की उत्पत्ति के विषय में पंचवायु द्वारा धातुओं को व्याप्त करके धमनियों के मुख से उत्पन्न ज्वलिताग्नि से नाद को प्रवर्तित किया है,[4] जो कि उनका मौलिक कथन है। उनसे पहले नाट्योत्पत्ति में अग्नि का तो कथन हुआ है, परन्तु धातुओं एवं धमनियों का महत्वपूर्ण कार्य कहीं भी प्रतिपादित नहीं किया गया है। उनके अनुसार तीन आभ्यन्तर नाड़ियों—इडा, पिंगला व सुषुम्ना में से सुषुम्ना मध्यमा नाड़ी शिखा वह्नि के समाश्रित होती है, जो कि प्राणों से संसृष्ट होकर 'नाद' के नाम से स्पष्ट होती है।[5] द्वाविंशत् नाड़ियां हृदय की मध्य नाड़ी में स्थित होकर मरुत् के साथ नाद का स्पष्टीकरण करती है।[6] शार्ंगदेव ने भी इसी के आधार पर द्वाविंशत् नाड़ियां स्वीकार की हैं, जो हृदय की उर्ध्व नाड़ी से संलग्न हैं।[7] आहत एवं अनाहत[8] नादों में से आहत

---

१. सं० र० १।७.

२. भा० प्र० पृ० १८७ पं० ३–८ ; सं० र० १।३–४.

३. नादोऽतिसूक्ष्मः सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः।
इति पंचभिधाधत्ते पंचस्थानस्थितः क्रमात् ॥
नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ॥ — सं० र० १।५–६.

४. भा० प्र० पृ० १८७, पं० ७–८.

५. सिराजालधरा नाम तिस्त्रश्चाभ्यन्तराश्रयाः।
इडा च पिंगला चेति सुषुम्ना चेति नामतः ॥
सुषुम्ना मध्यमा नाड़ी शिखां वह्नेः समाश्रिता ॥
शिखा प्राणेन संसृष्टा नादाख्यां लभते स्फुटम् ॥
— भा० प्र० पृ० १८४, पं० १३–१६.

६. एवं द्वाविंशतिर्नाड्यो मध्यनाड्यां हृदि स्थिताः।
युगपन्मरुदाहत्या नादस्तासु प्रवेक्ष्यति ॥
— भा० प्र० पृ० १८५, पं० ११–१२.

७. हृद्यूर्ध्वनाडीसंग्ना नाड्यो द्वांशितिर्मताः ॥
—सं० र० १।८ (तृतीय प्रकरण)

८. आहतो नाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते।
— सं० र० (पिण्डोत्पत्ति प्रकरण) श्लोक १.

नाद संगीतोपयोगी है, और अनाहत नाद योगियों द्वारा गम्य होता है। वह सुषुम्ना से ऊपर की ओर जाकर व्योम में स्थित होता है।[1] उसका प्रयोग सर्वसाधारण द्वारा नहीं किया जा सकता।

वर्ण—'वर्ण' की उत्पत्ति बताते हुए शारदातनय समस्त वर्णों को व्यक्त करने वाले सप्त स्थानों का प्रतिपादन करते हैं। व्यक्ति स्थानों में वर्णों की ही उन्होंने आगे चलकर 'स्वरसंज्ञा' कही है।[2]

भरत ने वर्ण एवं अलंकारों का एक साथ कथन किया है। उन्होंने आरोही, अवरोही, स्थायी एवं संचारी—चार प्रकार के वर्णों का निरूपण किया है। उनके अनुसार वर्ण के केवल तीन ही स्थान हैं,[3] जबकि शारदातनय ने सप्त स्थानों का उल्लेख किया है।[4] भरत ने वर्ण की निष्पत्ति का प्रतिपादन करते हुए उसे गान से सम्बद्ध कहा है।[5] इसी आधार पर शार्ंगदेव ने गानक्रिया को वर्ण कहकर उसे चतुर्विध माना है।[6] परन्तु संचारी वर्ण का लक्षण उन्होंने भरतानुसार न मानकर मतंग[7] के अनुसार स्वीकार किया है। अलंकार वर्णों के ही समाश्रित होते है।[8]

श्रुति—प्राचीन काल से कहा जाता रहा है कि 'श्रूयते इति श्रुतिः' अर्थात् जो कानों से सुनी जा सके, वह प्रत्येक ध्वनि श्रुति है। मतंग मुनि ने व्युत्पत्ति बताते

१. सुषुम्नावर्त्मनेवोर्ध्वं याति व्योमाम्बुजावधि।
योगिनां नादरूपेण स्वानुभूतिविधायिनी॥
— भा० प्र० पृ० १८४, पं० १७–१८.

२. भा० प्र० पृ० १८४, पं० १६, २१–२२ ; पृ० १८५ पं० १६.

३. ना० शा० चो० २६।१६–२२.

४. स्थानानि सर्ववर्णानां सप्त व्यक्तिकराणि तु।
— भा० प्र० पृ० १८४, पं० २२.

५. ना० शा० चो० २६।२३–२४.

६. सं० र० अध्याय १, प्रकरण ६, श्लोक १–३.

७. मतंगेन त्वेवं संचारिवर्णल-णमुक्तम् –
यत्र ताने संचरन्ति स्वरा अन्यान्त्यसंहिताः।
एकैकशो द्विशो वा स संचारी वर्ण उच्यते॥
यथा मालवकेशिके सा सा स नि म म नि म प नि रि रि पा
पनिपनिध एवमादि। — सं० र० अध्याय १, प्रकरण ६, पृ० १५२.
(अड्यार संस्करण, प्रथम भाग)

८. एतान् समाश्रितान् सम्यगलंकारान्निबोधत॥ — ना० शा० चो० २६।२४.

हुए कहा है कि श्रुतियों की संज्ञा 'श्रुति' इसीलिए है क्योंकि वह सुनने योग्य है।[1] अभिनवगुप्त प्रत्येक प्रकार की ध्वनि को श्रुति कहते हैं, चाहे वे रंजक हो, अथवा अरंजक, क्योंकि सुनाई तो सभी देती हैं।[2] इसी आधार पर शार्ंगदेव भी भरत का अनुसरण करते हुए श्रुतियों की संख्या बाईस स्वीकार करते हैं।[3] अभिनवरागमंजरी में ध्वनि की व्यवस्थिति को श्रुति कहा गया है। यह श्रुति वह संगीतपयोगी नाद है, जो स्पष्ट रूप से सुनने योग्य हो।[4] विश्वावसु ने श्रुति की परिभाषा करते हुए द्विविध श्रुतियों का उल्लेख किया है।[5] कोहल ने श्रुतियों को समुद्र की उत्ताल अनन्त तरंगों के समान अनन्त माना है।[6] भरत ने श्रुतियों की संख्या तो द्वाविंशति ही प्रतिपादित की है, किन्तु उन्होंने श्रुतियों की अवस्थाएँ तीन–आयत, मृदु व मध्य–कही हैं।[7] सप्तक में श्रुतियों के क्रम का भी उल्लेख उन्होंने किया है, तथा षड्ज ग्राम एवं मध्यम ग्राम की श्रुतियों का भी पृथक्-पृथक् वर्णन किया है।[8]

---

१. श्रवणार्थस्य धातोः क्तिन्प्रत्यये च सुसंश्रिते।
श्रुति शब्दः प्रसाध्योऽयं शब्दज्ञैः कर्मसाधनः। — मतंग — भरतकोश

२. अभि० भा० तृतीय अध्याय.

३. ना० शा० (बड़ौदा संस्करण) अध्याय २८ पृ० ४३३ ; सं० र० अध्याय १, प्रकरण ३, श्लोक ८.

४. संगीतं ध्वनिसम्भूतिः श्रुतयस्तद्व्यवस्थितिः।
नित्यं गीतोपयोगित्वमभिज्ञेयत्वमप्युत।
लक्ष्ये प्रोक्तं सुपर्याप्तं संगीतश्रुतिलक्षणम्॥ — अभि० रा० मं० — भातखण्डे

५. श्रवणेन्द्रियग्राह्यत्वाद्ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत्।
सा चैका द्विविधा ज्ञेया स्वरान्तरविभागतः॥
नियत श्रुतिसंस्थातो गीयन्ते सप्तगीतिषु।
तस्मात्स्वरगता ज्ञेयाः श्रुतयः श्रुतिवेदिभिः॥
अन्तरस्वरवर्तिन्यो ह्यन्तरश्रुतयो मताः।
— विश्वावसु (सं० र० अध्यायी, प्रशरण ३, अड्यार संस्करण, पृ० ७१.

६. आनन्त्यं हि श्रुतीनां च शूचयन्ति विपश्चितः।
यथा ध्वनिविशेषाणामानन्त्यं गगनोदरे॥
उत्तालपवनोद्वेलजलराशिसमुद्भवाः।
इयत्तां प्रतिपद्यन्ते न तरंगपरम्पराः॥
— कोहल (सं० र० अध्याय १, प्रकरण ३, पृ० ७२–अड्यार संस्करण)

७. ना० शा० चो० पृ० ३१६ ना० शा० (बड़ौदा संस्करण) अध्याय २९.

८. ना० शा० (बड़ौदा सं०) अध्याय २८, पृ० ४३३–४३४.

भरत के ही अनुसार शारदातनय ने षड्ज ग्राम एवं मध्यम ग्राम—ये दो ही ग्राम स्वीकार किए हैं, जिनका उल्लेख उन्होंने ध्वनि-विवक्षा के अवसर पर किया है।[1] भरत[2] की भाँति उन्होंने भी गांधार ग्राम का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु नारद का अनुसरण करते हुए नान्यदेव ने गांधार ग्राम का प्रयोग बताया है।[3] नान्यदेव ने तो गांधार ग्राम का प्रयोग लौकिक भी बताया, किन्तु सोमेश्वर ने इसका निषेध बताया है।[4] नारद गांधार ग्राम का प्रयोग स्पष्टरूपेण केवल स्वर्ग में ही बताते हैं।[5]

शारदातनय ने ध्वनि-विवक्षा के प्रसंग में रागों की मूर्च्छना का भी उल्लेख किया है, साथ ही उन्होंने दोनों ग्रामों के आधार पर तानत्रय में सप्तस्वरमूर्च्छनाएँ एवं द्वादशस्वरों के आधार पर द्वादशस्वरमूर्च्छनाओं का कथन किया है,[6] जिस पर नन्दिकेश्वर एवं मतंग[7] का प्रभाव पड़ा है, क्योंकि नाट्यशास्त्र में तो केवल सप्तस्वरमूर्च्छना का ही उल्लेख है।[8] वहाँ द्वादशस्वरमूर्च्छना की कोई चर्चा नहीं की गई है। अभिनवगुप्त[9] तथा कुम्भ[10] ने इस द्वादशस्वरमूर्च्छना का खण्डन किया है। इस पर भी शारदातनय सप्तस्वरमूर्च्छना के साथ-साथ द्वादशस्वरमूर्च्छना के पक्ष में हैं। सम्भवतः नन्दिकेश्वर[11] की भांति उनकी दृष्टि में भी यही बात रही होगी कि

१. भा० प्र० पृ० १८८ पं० ११, १३–१४.

२. अथ द्वे ग्रामो षड्जो मध्यमश्चेति। —ना० शा० चो० पृ० ३१८ अध्याय २८.

३. नारदेन तदनुसारिणा नान्यदेवेन (च) गान्धारग्रामजातरागा उपदिष्टाः, नारदेन यज्ञोपयोगिनः। नान्यदेवेन लौकिकविनोदे च ते प्रयोज्यन्ते।
— भरतकोश (प्रो० रामकृष्ण कवि) पृ० ५४२.

४. ते लौकिकविनोदेष्वप्रशस्ता इति सोमेश्वरेणोक्तम्।
— भरतकोश (प्रो० रामकृष्ण कवि) पृ० ५४२.

५. गान्धारग्रामस्य केवलं स्वर्गे प्रयुक्तत्वं नारदेनाभिहितम्। — वही.

६. भा० प्र० पृ० १८८, पं० १२, १५–१८.

७. सा च मूर्च्छना द्विविधा सप्तस्वरमूर्च्छना द्वादशस्वरमूर्च्छना चेति।
— बृहद्देशी (अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली) पृ० २२.

८. क्रमयुक्ताः स्वराः सप्तमूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः। — ना० शा० चो० २८।३१.

९. यत्र (यन्मतंगेन विवृता) द्वादशस्वरमूर्च्छना सा अभिनवादिभिरनादृता।
— भरतकोश (प्रो० रामकृष्ण कवि) पृ० ४२४.

१०. भरतकोश (कुम्भ) पृ० २८९.

११. नन्दिकेश्वरेणाप्युक्तम्—'द्वादश स्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः। जातिभाषादिसिद्ध्यर्थं तारमन्द्रादिसिद्धये।' यद्याप्याचार्य्यैः सप्तस्वरमूर्च्छनाः प्रतिपादिताः स्थानत्रितयप्राप्त्यर्थं द्वादशस्वरैरेव मूर्च्छनाः प्रयुक्ताः।
— बृहद्देशी, पृ० ३२.

तीनों स्थानों की प्राप्ति के लिए मूर्च्छना बारह स्वरों के आधार पर ही प्रयुक्त की जानी चाहिए, सप्तस्वरमूर्च्छनावाद से तीनों स्थानों (मन्द्रमध्यतार) की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

शारदातनय श्रुति की उत्पत्ति बताते हुए उसका सम्बन्ध हृदयग्रन्थि के ऊपर कपालफलक के नीचे संचरित प्राणों से स्थापित करते हैं।[1] वे ध्वनियों की संज्ञा 'श्रुति' कहते हैं, ये ध्वनियां भी धमनियों के अनेक विध होने के कारण अनेक होती है। अतः स्पष्ट है कि धमनियों की जितनी संख्या होती है, उतनी ही श्रुतियों की संख्या माननी चाहिए।[2] धमनियों के आधार पर श्रुति संख्या का निर्धारण सर्वथा मौलिक प्रयोग है। धमनियां चतुर्विंशति होती हैं, अतः शारदातनय के मत में श्रुतियां भी २४ मानी जा सकती हैं।[3] वैसे विभिन्न विद्वानों ने श्रुतियों की संख्या पृथक्-पृथक् स्वीकार की है। भरत, शार्गदेव, लोचन, अहोबल, हृदय-नारायणदेव, श्रीनिवास, अभिनवरागमंजरीकार, रामामात्य, सोमनाथ, पार्श्वदेव तथा पुण्डरीक आदि विद्वान् बीस श्रुतियों को मानते हैं। जबकि हनुमन्मतानुसार श्रुतियां अट्ठारह हैं। कोई-कोई विद्वान् बीस, कोई त्रिविध, कोई षट्षष्टि तथा कोई-कोई अनन्त श्रुतियां स्वीकार करते हैं।[4]

भरत से पूर्व संगीत पर दो ग्रन्थ 'नारदीयशिक्षा' तथा 'माण्डूकीशिक्षा' उपलब्ध होते हैं, परन्तु आश्चर्य का विषय है, इनमें श्रुतियों का वर्णन लेशमात्र भी न करके केवल स्वरों का वर्णन किया गया है।

यद्यपि शारदातनय ने श्रुतिसंख्या चौबीस स्वीकार की है, और शार्गदेव ने बाईस ; तदापि शार्गदेव ने शारदातनय से प्रभावित होकर ही श्रुतियों का सम्बन्ध

---

१. त्रुटिकालमिताः स्युस्तु श्रुतयः श्रुतिगोचराः।
यदूर्ध्वं हृदयग्रन्थेः कपालफलकादधः॥
प्राणाश्चरन्ति तत्रैता व्यज्यन्ते श्रुतयः पृथक्।
— भा० प्र० पृ० १८५, पं० १३–१५.

२. भा० प्र० पृ० १८७ पं० ९–११.

३. धमन्यः स्युश्चतुर्विंशदखन्नाभिमाश्रिताः।
— भा० प्र० पृ० १८६ पं० ९.

४. द्वाविंशतिं केचिदुदाहरन्ति श्रुतिः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासामानन्त्यमन्ये प्रतिपादयन्ति॥
— कोहल (सं० र० अध्याय १, प्रकरण ३, अडयार सं० पृ० ७२)

हृदय की उर्ध्व नाड़ियों से स्थापित किया है ।[१] शारदातनयकृत प्रतिपादन का स्पष्ट प्रभाव 'संगीतसमयसार' नामक ग्रन्थ में भी दृष्टिगोचर होता है, भले ही इस ग्रन्थ में श्रुतियों की संख्या बाईस ही मानी गई हो । शारदातनय ने जिन चौबीस धमनियों के आधार पर श्रुति संख्या चौबीस स्वीकार की है, उन धमनियों का धातुवर्धकत्व भी निरूपित किया है,[2] जिसमें उन्होंने अपना आयुर्वेद विषयक ज्ञान भी प्रदर्शित किया है । उन्होंने श्रुतियों को षडंगों से सुसम्पन्न कहा है, तथा उन षडंगों का क्रमशः पृथक्-पृथक् वर्णन करते हुए[3] श्रुतियों के भिन्न-न्यूनाधिक के भेद से तीन विभाग किए हैं ।[4] साथ ही इन तीनों श्रुति भेदों का लक्षण भी निरूपित किया है । श्रुतियों का यह त्रिविध भेद शारदातनय की अपनी विशेषता है, जिसमें भिन्ना नामक भेद द्विश्रुतिक, न्यूना त्रिश्रुतिक तथा अधिका चतुःश्रुतिक ; इनमें से भिन्न में स्वरित व अनुदात्त स्वर होते हैं, 'न्यून' में उदात्त, अनुदात्त व स्वरित तथा 'अधिक' में उदात्तानुदात्त स्वरित एवं प्रचय का समावेश होता है ।[५] इन त्रिविध भेदों में श्रुतियों की गणना-व्यवस्था का बीज उन्हें भरत के श्रुतिनिदर्शन[६] से प्राप्त हुआ होगा । यहीं से शार्गदेव ने श्रुतिस्वर विभाजन के नियम-निर्देश की प्रेरणा प्राप्त की होगी ।[७] श्रुति के उपर्युक्त त्रिविध भेदों के आधार पर शारदातनय ने पाँच ग्राम रागों—शुद्ध, गौड़, वेसर, भिन्न व साधारण का उल्लेख किया है ।[८] इन्हीं को शार्गदेव ने 'राग' न कहकर 'गीति' कह दिया है और उनके

१. हृद्यूर्ध्वनाडीसंलग्ना नाड्यो द्वाविंशतिर्मताः ॥
तिदश्च्यस्तासु तावत्यः श्रुतयो मारुताहतेः ।
उच्चोच्चतरतायुक्ताः प्रभवन्त्युत्तरोत्तरम् ॥
एवं कण्ठे तथा शीर्षे श्रुतद्वाविंशतिर्मता ।
— सं० र० अ० १ प्रकरण ३, श्लोक ८–१०.

२. भा० प्र० पृ० १८६, पं० ११–२२, पृ० १८७ पं० १–२.

३. भा० प्र० पृ० १८८ पं० २१–२२, पृ० १८९ पं० १–६.

४. तास्त्रिधा स्युः पुनर्भिन्नन्यूनाधिकविभागतः ।
— भा० प्र० पृ० १८९, पं० ७.

५. भा० प्र० पृ० १८९ पं० ८–१२.

६. तिस्रो द्वे चतस्त्रश्च चतस्त्रस्तिस्त्र एव च ।
द्वे चतस्त्रश्च षड्जाख्येग्रामे श्रुतिनिर्दर्शनम् । — ना० शा० चौ० २८।२२.

७. चतुश्चतुश्चेव षड्जमध्यमपंचमाः ।
द्वे द्वे निषादगांधारो तिस्त्री ऋषभधेवतो ।
— सं० र० अध्याय १, प्रकरण ३.

८. भा० प्र० पृ० १८९ पं० १३–१७.

क्रमशः पृथक्-पृथक् लक्षण भी शारदातनय से भिन्न प्रकार के प्रस्तुत किए हैं।[1] दोनों में भिन्नता इसलिए रही होगी कि शार्गदेव ने ये गीतियां स्वराश्रित कही हैं, जबकि शारदातनय इन ग्रामरागों को 'यथाश्रुतिभवाः' कहते हैं। वैसे शार्गदेव की ये पाँच गीतियाँ ग्रामरागों को उत्पन्न करने के लिए उपयुक्त हैं।[2] इन पाँचों गीतियों का प्रतिपादन कल्लिनाथ के काल में उपलब्ध नाट्यशास्त्र में अवश्य रहा होगा।[3] कल्लिनाथ,[4] मतंग[5] व शिंगभूपाल[6] इन पाँचों गीतियों को दुर्गामत के अनुसार मानते हैं। मतंग तथा कलिनाथ ने शुद्धगौडादि पाँच ग्रामरागों को भी निरूपित किया है,[7] जिनके लक्षण शारदातनय से पृथक् हैं।

भरत ने नाट्यशास्त्र के २८ वें अध्याय में जो श्रुति सम्बन्धी मत प्रस्तुत किया है, वह संक्षिप्त है, परन्तु शारदातनय ने शरीर विज्ञान तथा आयुर्वेदशास्त्र के आधार पर जो श्रुति-निरूपण प्रस्तुत किया है, वह अपेक्षाकृत विशद साथ ही पर्याप्त अंशों में मौलिकता लिए हुए है, उसका प्रभाव परवर्ती संगीत-ग्रन्थकारों यथा—शार्गदेव, पार्श्वदेव आदि पर भी जान पड़ता है।

स्वर—श्रुतियों से उत्पन्न स्वर अनुरणनात्मक होता है, जो मन का रंजन करने के कारण स्वर (स्वन्) कहलाता है।[8] मतंग के इस कथन की ही भाँति शारदातनय

---

१. सं० र० (अड्यार सं०) रागाध्याय पृ० ३, ६.

२. पंचधा ग्रामरागाः स्युः पंचगीतिसमाश्रयात्। गीतयः पंच शुद्धा च भिन्न गौडी च वेसरा। साधारणीति ....

— सं० र० अ० सं०, रागाध्याय, पृ० ३.

३. तथा चाह भरतः – 'पूर्वरंगे तु शुद्धा स्याद भिन्ना प्रस्तावनाश्रया। वेसरा मुखयोः कार्य्या गर्भे गौडी विधीयने। साधारितावमर्शे स्यात् सन्धो निर्वहणे तथा ....

— कल्लि० सं० र० टीका, अड्यार संस्करण, रागाध्याय पृ० ५.

४. शुद्धादयस्तु प्राधान्येन स्वराश्रिताइतीह ग्रन्थकार एता पंच गीतीर्दुर्गामतानुसारेणालक्षयत्।

— कल्लि० सं० टी० अ० सं० रागा० पृ० ६.

५. गीतयः पंचविज्ञेया शुद्धाभिन्ना च वेसरा।
गौडी साधारणी चेव इति दुर्गामते मतम्॥

— मतंग, सं० र० टी० रागा० पृ० ५.

६. तत्रदुर्गामतमाश्रित्य पंचगीतय इत्युक्तम्।

— शिंग० सं० टी० अ० सं० रागा० पृ० ५.

७ मतंग, कल्लि० सं० र० टोका, अ० सं० रागा० पृ० २५–२६.

८. भ० को० मतंग, पृ० ६५५.

स्वर को 'श्रुतिसमुद्भूत' कहते हैं।[1] ये स्वर सात प्रकार के होते हैं जिनके नाम क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद हैं।[2] अरंजक ध्वनि को 'स्वर' नहीं कहा जा सकता है। अतः स्वर की सामान्य परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि वह ध्वनि जो रंजक हो, 'स्वर' कहलाती है। शार्ंगदेव-कृत स्वर की परिभाषा मतंग के अनुसार परिलक्षित होती है।[3] मतंग ने 'स्वर' शब्द की व्युत्पत्ति भी प्रस्तुत की है।[4] नान्यदेव[5] एवं संगीतराज[6] के अनुसार स्वर रंजनात्मक तथा अनुरणात्मक होता है। इनके द्वारा दी गई परिभाषा भी स्वर की पूर्वकाल से चली आई परिभाषाओं से प्रभावित है। स्वर की विभिन्न परिभाषाओं में मूल रूप से उसका अनुरंजनात्मक रूप ही मुखरित हुआ है। वैसे कहीं-कहीं 'कार्य-कारणभाव' से भी श्रुति की स्वरोत्पत्ति दर्शायी गई है। कहीं दर्पण में मुख के विवर्तन के समान ही स्वर को श्रुतियों से विवर्तित बताया गया है। कहीं-कहीं स्वरोत्पत्ति के लिए परिणामवाद को प्रस्तुत किया गया है। कहीं-कहीं अभिव्यक्तिवाद का उल्लेख है।[7] इनमें से मतंग को परिणामवाद एवं अभिव्यक्तिवाद अभीष्ट है।[8]

शारदातनय सामान्य स्वरसंज्ञा[9] का प्रतिपादन करके कण्ठादि सप्तस्थानानुसार षड्जादि सप्तस्वरों की क्रमशः उत्पत्ति एवं स्वरूप का निरूपण सर्वथा विशेष ढंग से प्रस्तुत करते हैं।[10] यहाँ उन्होंने स्वरों की श्रुतियों का जो अन्तर

---

१. ......श्रुतिभ्यः स्वरसम्भवः। — भा० प्र० पृ० १८४, पं० २०.

२. ना० शा० चो० २८।१९.

३. सं० र० अध्याय १, प्रकरण ३, श्लोक २४–२५.

४. राजृदीप्तावस्य धातोः स्वशब्दपूर्वकस्य च।
स्वयं हि राजते यस्मात्तस्मात्स्वर इति स्मृतः॥
— मतंग (सं० र० अध्याय १ प्रकरण ३, अड्यार सं०, पृ० ८४)

५. स्वयमात्मानं रंजयति निपातनात् इति स्वर निरूपितः।
— भ० को० (नान्यदेव), पृ० ७५९.

६. श्रुत्यनन्तर भावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः
योगाद्धा रुढिनो वाऽपि स स्वरः श्रोतृरंजकः॥
— भ० को० (संगीतराज) पृ० ७५५.

७. सं० र० अध्याय १, प्रकरण ३, श्लोक २४ (अड्यार संस्करण, पृ० ८३)

८. वही

९. व्यक्तिस्थानेषु वर्णानां स्वरसंज्ञा भवन्ति ताः।
— भा० प्र० पृ० १८५, पं० १६.

१०. भा० प्र० पृ० १८५, पं १०–२२ से पृ० १८६ पं० १–२ तक।

निर्दिष्ट किया है, वह भरत से प्रभावित है।[1] सप्त स्वरों की उत्पत्ति में शारदातनय ने जो कण्ठतालु आदि सप्त स्थानों का उल्लेख किया है, उसका स्पष्ट प्रभाव 'संगीतसमयसार' नामक ग्रन्थ में वर्णित स्वर विवेचन पर अभिलक्षित होता है।[2] ये षड्जादि स्वर अपने नियत स्थानों में वायु द्वारा आहत होने पर स्वयं उच्चरित (स्वर्यमाण) होकर स्वर संज्ञा से अलंकृत होते हैं।[3] इसके अतिरिक्त शारदातनय सप्त धातुओं से स्वरों की उत्पत्ति के मत का भी उल्लेख करते हैं। इसी अवसर पर वे सप्त धातुओं का उल्लेख करने के लिए भी सजग हैं।[4]

नाद से निस्सृत बाईस श्रुतियों पर आधारित सप्त स्वरों के आकाशसम्भूत होने के विषय में शारदातनय दो भिन्न मत प्रस्तुत करते हैं। प्रथम मत के अनुसार बाईस श्रुतियों के साथ सप्त स्वरों का कारण बाईस 'नाड़ियां' बताई गई हैं, तथा यह मत 'संगीत मकरन्द'[5] एवं 'संगीतरत्नाकर'[6] में भी प्राप्त होता है। दूसरा मत अन्य किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध न होने के कारण उनका अपना मौलिक है, जिसके अनुसार सप्तस्वर अपना मूल सात धातुओं त्वगादि[7] में प्राप्त करते हैं, जो नाभि से आरम्भ होने वाली बाईस धमनियों (शिराओं) से सम्बद्ध हैं। जब प्राणापानादि पंचवायु मस्तिष्क के द्वारा सन्तुलित की जाती हैं, तो वे धमनियों के माध्यम से शुक्लादि धातुओं में आग प्रज्वलित कर देती हैं। नाद उपर्युक्त अग्नि व धातु के अनुपात से उत्पन्न होता है। यही नाद षड्जादि 'स्वर' के रूप में जाना जाता है। विभिन्न स्वरस्थान तथा स्वरों से जुड़ी हुई श्रुतियों की संख्या धातुओं व धमनियों की विभिन्न स्थिति पर आधारित होती है। इस विवेचन के समय संगीत का विज्ञान बहुत घनीभूत रूपेण व्यवहृत हुआ है तथा इस विषय में शारदातनय

---

१. ना० शा० चो० २८।२३–२६.

२. षड्जादीनां निरुक्तिरुक्ता संगीतसमयसारकारेण
— सं० र० अड्यार संस्करण, अध्याय १, प्रकरण ३. श्लोक २४ की व्याख्या, पृ० ७४.

३. स्वर्यमाणतया तत्तत्स्थानेषु मरुदाहतेः।
स्वरसंज्ञां लभन्ते ते तत्तन्नामपुरस्कृता॥
— भा० प्र० पृ० १८६, पं० ३–४

४. भा० प्र० पृ० १८६, पं० ५–८.

५. संगीतमकरन्द — पृ० २२, श्लोक १३–२१.

६. संगीतरत्नाकर — १।३.

७. भा० प्र० पृ० १८६, पं० ८ ; पृ० १८७ पं० १४–२० ; पृ० १९४ पं० ५–७.

सैद्धान्तिक रूप से भरत, अभिनवगुप्त एवं भोज की संगीत-शिक्षा का अनुसरण करते हैं।[१]

वैदिक सामगान में प्रयुक्त स्वरों को समादृत करते हुए वे उदात्तादि चार स्वरों का भी उल्लेख करते हैं। इसके आगे वे सप्त धातुओं की शरीर के सप्त नाभिकण्ठादिस्थानों में स्थिति बताते हुए षड्जादि सप्त स्वरों की क्रम से स्थिति भी निर्धारित करते हैं। तत्पश्चात् स्वरों का मन्दतारादि भेद-कथन करते हैं। आगे चलकर उन्होंने उदात्तादि चार वैदिक स्वरों में निहित, कम्पित तथा अकम्पित—तीन स्वरों का समावेश करके इन सप्तस्वरों से रागोत्पत्ति के विविध प्रकारों का निरूपण किया है। इसी प्रसंग के अन्तर्गत वे षाडव औडव व सम्पूर्ण के भेद से राग की जातियों का प्रतिपादन करते हैं।[2] जाति के ग्रहअंशादि दशविध लक्षण भी प्रस्तुत करते हैं[3] जिस पर भरत-कृत जातिलक्षण का प्रभाव जान पड़ता है।[4] उन्हें रागों की संख्या 'सप्तशत' स्वीकार है।[५] वे पूर्ण, भाषा, विभाषा, अनुभाषादि रागों का भी निरूपण करते हैं,[६] जिनका प्रचलन उनके परवर्ती संगीत-कारों द्वारा पर्याप्त समय तक किया जाता रहा था। ये भाषादि राग मतंग, कल्लिनाथ एवं शार्ंगदेव ने भी निरूपित किए हैं।[७] किन्तु एक तो उनका लक्षण शारदातनय से भिन्न है ; दूसरे, वहां पर पूर्ण नामक[८] भेद भाषादि भेदों के साथ जुड़ा हुआ परिलक्षित नहीं होता। एक बात और कि शारदातनय ने याष्टिक एवं

१.

२. भा० प्र० पृ० १८७ पं० १२–१३, २१–२२ ; पृ० १८८ पं० १–१० ; पृ० १८९ पं० १८–२२ ; पृ० १९० पं० १–८.

३. ग्रहांशस्तारमन्द्रो च षाडबौडविते अपि।
अल्पत्वंच बहुत्वंच न्यासोपन्यास एव च॥
एतद्रागविभागार्थं दशकं जातिलक्षणम्। — भा० प्र० पृ० १९०, पं० ९–११.

४. ग्रहांशो तारमन्द्रो च न्यासोपन्यास एव च।
अल्पत्वं च बहुत्वं च षाडवोडविते तथा॥ — ना० शा० चो० २८–७०.

५. एतैः सप्तशतं रागाः सङ्ख्याता गीतकोविदैः॥
— भा० प्र० पृ० १९०, पं० १२.

६. भा० प्र० पृ० १९० पं० १३–१८.

७. मतंग, कल्लि० सं० र० टी० अडयार सं० रागा० पृ० १०.

८. रागाः सम्पूर्णनामानः स्वरसप्तकसंयुताः।
तानान्येकोनपंचाशत्कथ्यन्ते पूर्णनामसू॥
— भा० प्र० पृ० १९०, पं० १३–१४.

शार्गदेव की भाँति अन्तर भाषा[1] का प्रयोग न करके अनुभाषा[2] शब्द का प्रयोग करके उसके २८ भेद किए हैं। उन्होंने भाषाराग बयालीस बताये हैं,[3] जबकि याष्टिक मुनि के अनुसार पन्द्रह, मतंग के अनुसार छः, काश्यप एवं शार्दूल के अनुसार क्रमशः बारह व चार ही बताये गये है।[4] विभाषा रागों के भेद शारदातनय ने पेंतीस कहे हैं[5] जबकि याष्टिक ने कुल बीस विभाषाएं ही मानी हैं।[6] मतंग ने जिन चार भाषाओं का नाम मुख्या, स्वराख्या, देशजा एवं संकीर्णा कहते हैं।[7]

शारदातनय ने स्वरसप्तक के तीन स्थान मन्द्रमध्यतार का भी उल्लेख किया है,[8] जैसा कि शार्गदेव ने भी किया है।[9] भरत ने श्रुतियों के योग से स्वर चतुर्विधि (वादी अनुवादी सम्वादी-विबादी) प्रतिपादिक किए हैं।[10] शार्गदेव ने भी श्रुतियों की स्वरों में व्यवस्थिति वर्णित की है। उन्होंने सप्तस्वरों के उच्चारण का सम्बन्ध क्रमशः मयूरचातकादि पक्षियों की वाणियों से माना है,[11] जिसके विषय में वे "नारदीशिक्षा" एवं "माण्डूकीशिक्षा" से प्रभावित हुए हैं। इन ग्रन्थों में स्वरों के विभिन्न वर्णों का भी विभाजन किया गया है, जिसके आधार पर शार्गदेव ने भी स्वरों के वर्णों का वर्णन किया है।[12] शार्गदेव ने शुद्ध-विकृत मिलाकर बारह

---

१. एवं षण्णावर्तिभांषा विभाषा विंशतिस्तधा।
चतस्त्रो न्तरभाषा स्यु शार्गदेवस्य सम्मता ::॥
—सं० र० टी० अ० सं०, रागा० पृ० १३.

२. अष्टाविंशतिभिस्तानेरनुभाषा चतुस्स्वरेः।
—भा० प्र० पृ० १६०, पं १७.

३. द्विचत्वारिंशता तानेः भाषाः षड्भिः स्वरैर्भवेत्।
—भा० प्र० पृ० १६०, पं० १५.

४. कल्लि० सं० र० टीका, अ० सं० रागा० पृ० ११.

५. पंचत्रिशन्मतैस्तानैर्विभाषा : पंचभि : स्वरं : ॥
— भा० प्र० पृ० १६०, पृं० १६.

६. सं० र० टी० अडयार संस्करण, रागा० पृ० १०,११,१२.

७. वही।

८. मन्द्रमध्यमतारं तत्स्थानत्रयमितोरितम्। — भा० प्र० पृ० १६० पं० ५.

९. ते मन्द्रमध्यताराख्यस्थानभेदास्त्रिधा मता :।
—सं० रं० अडयार संस्करण, अध्याय १, प्रकरण ३, श्लोक ३६.

१०. ना० शा० चौ० २८/२०.

११. सं० र० अ० सं०, अध्याय १, प्रकरण ३, श्लोक २८-३१, ४६-४७.

१२. पद्माभः पिंजरः स्वर्णवर्णः कुन्दप्रभोऽसितः।
पीतः कुर्बर इत्येषां जन्मभूमी रध बूवे।
—सं० र० अ० १, प्र० ३, श्लोक ५४-५२.

रामामात्य ने सात-सात शुद्ध-विकृत मिलाकर कुल चौदह तथा सोमनाथ ने पन्द्रह विकृत स्वरों का उल्लेख किया है।[१] परन्तु शारदातनय भरत के समान षडजादि सप्तस्वरों का ही वर्णन करते हैं। उन्होंने नाद, श्रुति, स्वर, वर्ण का परस्पर सम्बन्ध दृष्टिपथ में रखते हुए एक साथ ही उनका अति सुन्दर व स्पष्ट वर्णन किया है।[2]

इनके अतिरिक्त शारदातनय ने संगीत से सम्बन्धित अन्य अनेक पारिभाषिक शब्दों का भी उल्लेख किया है यथा–पद, यति, गति, स्थान, लय, काल, सप्तविंशदलंकार, गमक आदि। इन सबके योग की गीत में अत्यावश्यकता होती है।[3]

पद—'पद' का लक्षण एवं विभाग स्पष्टरूप से शारदातनय कहते हैं।[४] भरत-कृत 'पद' के लक्षण एवं विभाग भिन्न रूप से निर्दशित किए गए हैं।[५]

यति—शारदातनय ने द्वन्द्व, भिन्न व समा के भेद से तीन प्रकार की 'यति' प्रतिपादित की हैं, साथ ही उनके पृथक्-पृथक लक्षण भी बताये हैं।[६] संगीत रत्नाकर में भरत की लय की प्रवृत्ति अथवा प्रयोग का नियम 'यति' कहा गया है। वहाँ पर यति के भेद शारदातनय कृत भेदों से कुछ भिन्न हैं।[७] वैसे यतियों के तीन मार्ग शारदातनय ने भरत के अनुसार ही चित्र, कार्तिक व दक्षिण के भेद से ही स्वीकार किए हैं।[८] शार्गदेव ने इन तीनों में 'ध्रुव' नामक एक मार्ग और जोड़ दिया है।[९]

१. त एव विकृतावस्थाद्वादशप्रतिपादिता:। –सं०र०अ० १, प्र० ३, श्लोक ३९.
स्वरमेलकलानिधि – (रामामात्य)
रागविवोध – (सोमनाथ)

२. भा० प्र० पृ० १८६, पं० ५-६, पृ० १८४, पं २०-२२.

३. भा० प्र० पृ० १९० पं० २०-२२, पृ० १९१ पं० १-२.

४. तद्भवं तत्समं देशीत्येतत्स्यात्पदलक्षणम्।
पदं स्दराधिकरणमर्थप्रत्ययकारिवत् ।। –भा० प्र० पृ० १९१ पं० ३-४.

५. (क) विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयम्- - - -ना० शा० गा० ओ० सी० अध्याय १४, पृ० २१४.

(ख) 'यत्स्यादक्षरसम्बद्धं तत्सर्वं' पदसंज्ञितम्। —ना० शा० बड़ौदा सं०, पृ० ५३५.

(ग) 'विभक्त्यन्तं पदं ज्ञेयं निबद्धं चूर्णमिव वा।
—ना० शा० गा० औ० सी० अध्याय १४, पृ० २३४.

६. भा० प्र० पृ० १९१, पं ५-१२.

७. सं० र० अ० सं० ताला० पृ० २५.

८. तासां नागस्त्रियो पि स्युः चित्रवार्तिक दक्षिणाः। –भा० प्र० पृ० २९१, पं० ६.

९. सं० र० अ० स० ताला० पृ० ५.

गति—शारदातनय ने पाँच प्रकार की गतियों का निरूपण किया है।[1] इन गतियों का स्वरूप सिंहादि जन्तुओं की गति (चाल) से परिकल्पित है।

लय—यह तीन प्रकार की होती है—द्रुत, मध्य, विलम्बित।[2] 'संगीतरत्नाकर' के अनुसार ताल-क्रिया के अनन्तर विश्रान्ति का नाम 'लय' है, जिसके द्रुतादि तीन भेदों के साथ ही मार्ग में विश्रान्ति के परिणाम भेद होने से अनन्त भेद हो जाते हैं।[3] भरतानुसार अक्षर, छन्द एवं पदों से समान होने पर गीत में लय की उत्पत्ति होती है[4] तथा कलाकालकृत वह लय तीन प्रकार की होती है।[5] परन्तु संगीत-रत्नाकर में लय का उपयोग अक्षर, शब्द या बाक्य का प्रयोग करते समय नहीं क्योंकि व्यावहारिक दृष्टकोण से वे संगीत से सम्बद्ध नहीं।[6]

काल—काल द्विमात्रिक, चतुर्मात्रिक एवं अष्टमात्रिक—के भेद से त्रिविध कहे गये हैं जो कि यतियों के तीन मार्गों—चित्र, वार्तिक व दक्षिण में कमशः नियमित किए जाते हैं।[7]

अलंकार—शारदातनय ने प्रसन्न, मधुर, रक्त इत्यादि सत्ताईस अलंकार की गणना की है। इन सत्ताइस अलंकारों का उपयोग भी उन्होंने प्रस्तुत किया है।[8] अलंकारों की छत्तीस संख्या के विषय में वे भरत के मत का भी उल्लेख करते हैं।[9] परन्तु नाट्यशास्त्र के काव्यमालासंस्करण[10] तथा चौखम्बासंस्करण[11] में अलंकारों की संख्या तेंतीस प्राप्त होती है। वहाँ अलकार का बहुत प्रकार से महत्व वर्णित है।

गमक—शारदातनय कम्पित-स्फुरितादि सप्त गमकों का वर्णन करते हैं। इसके बाद ही वे द्वादश मार्ग गमकों की भी गणशा करते हैं।[12]

---

१. भा० प्र० पृ० १६१, पं० १३-१४.

२. भा० प्र० पृ० १६१, पं० १५.

३. सं० र० टीका, अडयार सं० तालाध्याय, पृ० २४.

४. ना० शा० ३१।५३१, का० सं०.

५. ना० शा० ३१।४ (चौ०)

६. लयो क्षरे पदे वाक्ये यां सौ नात्रोपयुज्यते।
—सं० र० अ० सं ताला० पृ० २५.

७. भा० प्र० पृ० १६१, पं १६-१७.

८. भा० प्र० पृ० १६१, पं० १८-२२, पृ० १६२ पं० १-४.

९. षटित्रशत्स्युरलंकारा वर्णेषु भरतोदिताः।
वर्णात्रयानलंकारान्वदन्त्यण्ये त्रयोदश।। —भा० प्र० पृ० १६२, पं० ५-६.

१०. ना० शा० का० मा० सं० २६।२३-४६.

११. अलंकारास्त्रत्रिंशदेवमेते मयोदिता:। —ना० शा० चौ० २६।७६.

१२. भा० प्र० पृ० १६२, पं० ७-८, १०-१६.

गीत—गीत का विवेचन करते हुए वे मानादि के द्वारा गीत के योग में उत्कर्ष भी प्रस्तुत करते हैं। प्रसंगवश मानपंचक के विभाग एवं लक्षण का भी निर्देश करते हैं।[१]

रीति—शारदातनय ने एक स्थल पर पाँच रीतियों का उल्लेख किया है।[2] अग्निपुराण में इनमें से चार का ही उल्लेख है। आचार्य भामह ने इनमें से वैदर्भ एवं गौणीय का ही निर्देश किया है। बाणभट्ट ने उदीच्य, प्रतीच्य, दाक्षिणात्य एवं गौड़—इन चार रीतियों अथवा पद्धतियों का प्रयोग किया।[3] दण्डी ने रीति के लिए 'वर्त्म' एवं 'मार्ग' शब्दों का प्रयोग करके वैदर्भी तथा गौणीय मार्गों का व्यवहार किया[४], जिस पर ऋग्वेद का प्रभाव है। ऋग्वेद में रीति शब्द का प्रयोग 'धारा' के अर्थ में, गायन एवं मार्ग के अर्थ में तथा गति के अर्थ में किया गया है।[५] भरत से प्रभावित होकर दण्डी ने रीतियों का गुणों के साथ सम्बन्ध निर्दिष्ट किया है। यद्यपि नाट्यशास्त्र में रीतियों का वर्णन नहीं मिलता, तथापि चार प्रवृत्तियों का निर्देश अवश्य है।[६] वामन ने तो रीति को ही 'काव्य की 'आत्मा' कहा। उन्होंने अब तक चलती आई हुई वैदर्भी एवं गौड़ी में पांचाली का समावेश भी किया। उनके पश्चात् रुद्रट ने इन तीन रीतियों में लाटी नामक चतुर्थ रीति की परिकल्पना की। कुन्तक ने तीन ही रीतियां मानी थीं। आनन्दवर्धन रीति के लिए 'संघटना' शब्द का प्रयोग करते हैं, जो असमासा, मध्यसमासा, एवं दीर्घ समासा के भेद से तीन प्रकार की होती है। महिमभट्ट वेदर्भी को ही एकमात्र रीति कहते हैं। भोज ने 'शृंगारप्रकाश' में तो उपर्युक्त चारों रीतियों का ही प्रयोग किया है, किन्तु 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में अवन्तिका एवं मागधी—ये दो अन्य भेद भी किए हैं। राजशेखर वैदर्भी, पांचाली गौड़ी के अतिरिक्त एक मैथिली रीति का भी उल्लेख कर चुके थे। हेमचन्द्र ने तीन वृत्तियों—उपनागरिका, कोमला, परुष के आधार पर मम्मट के अनुसार वैदर्भी, पांचाली एवं गौड़ी रीति को स्वीकार

१. भा० प्र० पृ० १६२ पं १७-२२, पृ० १६२ पं० १-६ तक.

२. रीतयो गौडपांचाललाटवेदर्भमिश्रजा :। —मा० प्र० पृ० १६३ पं० ७.

३. अ० पु० अध्याय ३४० ; का० अलं०(भामह) १।३५ ; हर्षचरितम् (प्रस्तावना) १।७.

४. काव्यादर्श १।४१-४२.

५. (क) महीवरीति : शवसासरत् पृथक्। —ऋ० वे० २।२८।१४.
   (ख) वातेवाजुयानिर्धेवरीति :। —ऋ० वे० २।३९।५.
   (ग) ऋ० वे० ६।१०८।१०.

६. ना० शा० चौ० १४३६, १७।६६-१०७.

किया। रूय्यक ने साहित्य-मीमांसा में वैदर्भी, अवन्ती, पांचाली एवं गौड़ी नामक चार रीतियों का उल्लेख किया है। प्रथम वाग्भट्ट ने रुद्रट के अनुसार गौड़ी एवं वैदर्भी रीतियों पर विचार किया है। जयदेव पर भी रुद्रट का ही प्रभाव है। विद्याधर ने तीन रीतियां बताई। शिगभूपाल ने कोमला, कठिना, मिश्रा को वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली कहा। विद्यानाथ ने वामन के अनुसार ही गौड़ी, वैदर्भी एवं पांचाली रीतियां मानीं। द्वितीय वाग्भट्ट ने वामन, रुद्रट एवं मम्मट के आधार पर रीति-विवेचन किया। विश्वनाथ ने चारों रीतियां स्वीकार कीं। केशवमिश्र ने गौड़ी, वैदर्भी एवं मागधी रीतियाँ मानी हैं। पण्डितराज ने रीति एवं वृत्तियों में मम्मट की भाँति अभेद स्वीकार करके महिम के समान वैदर्भी को ही स्वीकार किया है।[1]

शारदातनय ने कवियों की शैली अर्थात् रीतियों को अनन्त कहा है।[2] उन्होंने चार प्रकार के अनुभावों में से बुद्ध्यारम्भानुभाव के अन्तर्गत रीति, वृत्ति एवं प्रवृत्ति को रखा है। रीति के चतुर्विध विभेदों के पार्थक्य के साधन चार प्रकार के प्रतिपादित किए हैं। वैदर्भी आदि चार रीतियों के अतिरिक्त वे दो अन्य सौराष्ट्री एवं द्राविडी रीतियों का भी उल्लेख करते हैं, जो कि श्रुतपूर्व नहीं हैं। इतना ही नहीं, उन्हें तो १०५ प्रकार की रीतियाँ मान्य है जिनका कि ग्रन्थ के अति विस्तार के भय से वे पृथक्-पृथक् वर्णन नहीं करते।[3] इस प्रकार भामह, अग्निपुराणादि से लेकर १२वीं शताब्दी तक रीति की संख्या के विषय में विभिन्न मतों को स्वीकार किया जाता रहा था। इस दिशा में शारदातनय का यह अत्यन्त सराहनीय कार्य रहा कि उन्होंने अति प्रचलित चार रीतियाँ अर्थात् गौड़ी, पांचाली, लाटी एवं वैदर्भी को तो स्वीकार किया ही, साथ ही अन्य जितनी भी प्रचलित

---

१. का० अलं० सू० १।२।६-१३; का० अलं० (रुद्रट) २।४; व० जी० पृ० ४७; ध्वन्या० ३।५-६; व्य० वि० २।१६; शृं०प्र० परिच्छेद १७; स० कण्ठा० २।३२-३३; का० मी० पृ० ३६, बाल-रामा० १०।३५; का० अनु० (हेमचन्द्र) अ० ४; का० प्र० ६।८०-८१; सा० मी० प्रकरण ६; वाग्० अलं० २।१४६; चन्द्रा० ६।२२; एका० ५;६; र० सु० १।२२८-२३०, २३६-२४०; प्र० रु० यशो० २७, ३१; का० अनु० (द्वि० वाग्भट्ट) अध्याय २ पृ० ३१; सा० द० ६।२-६; अलं शे० १,२,२; र० गं पृ० ११७.

२. प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातित : प्रतिप्रीति ।
आनन्त्यात्संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्विधेत्येका ।।
—भा० प्र० पृ० ११, पं० २१-२२.

३. भा० प्र० पृ० ११ पं० १३-१६, २३-२४.

रीतियाँ शेष रहीं, उनके लिए एक शब्द 'मिश्रजा' प्रयुक्त किया ।[१] इसमें मैथिली, अवन्तिका, मागधी तथा स्वयं उनके द्वारा वर्णित सौराष्ट्री व द्राविणी, जो उपर्युक्त चार रीतियों के क्षेत्रसे बाहर थीं, समाविष्ट हो गईं । और इस प्रकार एक सर्व-रीति 'मिश्रजा' को जन्म देकर शारदातनय ने अपने समन्वयात्मक उदार दृष्टि-कोण का सुन्दर परिचय दिया है ।

शिगभूपाल का रीतिवर्णन भोज व शारदातनय से प्रभावित जान पड़ता है, क्योंकि शारदातनय की सौराष्ट्री व मिश्र नामक रीतियों को उन्होंने भी स्वीकार किया है ।[2] बहुरूप मिश्र ने 'दशरूपक व्याख्या' में शारदातनय से पूर्ण प्रभावित होकर रीतिवर्णन एवं उनके विभेदकारक साधनों के लक्षण स्वीकार किए हैं, जिनके नाम बहुरूप मिश्र ने शारदातनय[3] द्वारा प्रतिपादित तारतम्य के आधार पर इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं—समासतारतम्य, उपचारतारतम्य, बन्धसौकुमार्यादितारतम्य, अनुप्रास भेद व योगादि भेद ।[4] उपर्युक्त रीतिविवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि शारदातनय का प्रभाव अनेक परवर्ती ग्रन्थकारों पर पड़ा । कालान्तर में धीरे-धीरे रीतिविषमय विचार एवं संख्या में ह्रास होता गया ।

चतुरायाम—गीत प्रयोग में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न पारभाषिक शब्दों के निरूपण के क्रम में रीति के विवेचन के पश्चात् शारदातनय आगति आदि चार प्रकार के आयामों का भी प्रतिपादन करते हैं ।[५]

गीति और छन्द

गीति—'गीति' के विषय में अभिनवगुप्त, भोज, सोमेश्वरादि तथा भरतादि के यति का विस्तार से कथन शारदातनय ने अपने ग्रन्थ 'शारदीय' में सुष्ठुरूपेण प्रस्तुत किया है । किन्तु दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ आज अप्राप्य है । इस ग्रन्थ में संगीत के विभिन्न विषय एवं उसके भेद आदि देखे जा सकते थे ।[६] लेखक का कथन है कि

१. रीतियो गौडपांचाललाटवैदर्भमिश्रजाः ।

—भा प्र० पृ० १६३, पं० ७.

२. र० सु० १।२१७, २४१-१४३.

३. भा० प्र० पृ० ११, पं० १८.

४. एतांसांचतसृणाँ च रीतीनाँ समासतारतम्याद् उपचारतारतम्याद्, बन्धसोकुमार्यादिकारतम्याद् योगादिविभेदाच्च परस्परं वेद-इत्यनुपन्धनतव्यमिति ।

—काव्यात्ममीमाँसा, पृ० १६३.

५. आगतिश्च गतिश्चापि व्यावृत्तिर्व्यांकुलीनता ।।
एतद्गीतप्रयोगेषु चतुरायामसंज्ञिता ।। —भा० प्र० पृ० १६३, पं० ८-९.

६. भा० प्र० पृ०१६४, पं० ५-१०.

भोजादि के द्वारा गीति का स्वरूप विवेचन नहीं कहा गया है ।[1] शारदातनय गीति से उत्पन्न दोषों की संख्या 'सात' निर्धारित करते हैं। जबकि भरत ने गीतिज दोषों की संख्या 'दस' प्रतिपादित की हैं ।[2] गीति के विषय में शारदातनय अपने 'शारदीय' नामक ग्रन्थ में भरत के मत से प्रभावित एवं सहमत हैं। इसलिए भरतकृत गीतिविवेचन पर भी दृष्टिपात करना अपेक्षित है। भरत के अनुसार—मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता व पृथुला--ये चार गीतियाँ होती हैं। मागधी नामक गीति में तीनों प्रकार की लय, तीनों यति, तीनों (लघु, गुरु, प्लुत) प्रकारके अक्षर तथा इक्कीस ताल होती हैं। अर्धमागधी नामक गीति में मध्य व दृत लय, लघु व गुरु अक्षर तथा मागधी से आधी तालों का प्रयोग होता हैं। सम्भाविता गुर अक्षरों से समन्वित तथा पृथुला लघु अक्षरकृता होती है। ये गीतियाँ ध्रुवायोग के बिना ही गांधर्वगान के प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयोज्य होती हैं।[3] वर्ण के आश्रित गीति अलंकारों के सहयोग से श्रोताओं के लिए अत्यन्त सुखद एवं प्रसन्नतादायक होती है। गीति के अलंकार प्रशन्नतादि, प्रशन्नान्तः, प्रशन्नाधन्त, प्रशन्नमध्य, सम, स्थिर आदि कहे गये हैं। प्रथम चार अलंकारों के अतिरिक्त शेष अलंकार वर्णाश्रिता गीति में रागात्मकता का संचारण करते है।[4] गीति के लिए अलंकार एवं अलंकारों के लिए गीति का होना अपेक्षित है। जिस प्रकार चन्द्र के बिना रजनी, जलविहीन नदी, पुष्प रहित लता तथा अविभूषित होने के कारण स्त्री व्यर्थ है, उसी प्रकार अलंकार से हीन गीति हो जायेगी।[5]

शार्गदेव ने गीति को वर्णादि से अलंकृत तथा गान क्रिया, सद लय से अन्वित कहा है। भरत की ही भाँति वे चार प्रकार की गीतियों का उल्लेख करते हुए उनके लक्षणों का भी प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने तालाश्रित गीति का भी लक्षण निरूपित किया है। मागधी इत्यादि गीतियों का जो स्वरूप उन्होंने प्रतिपादित किया है, उस पर मतंग का भी प्रभाव है।[6]

---

१. इंदृवस्वरूपं भोजायेः स्वप्रबन्धेषु मोदितम् ।
—भा० प्र० पृ० १६४, पं० ४.

२. ना० शा० चौ० अध्याय २६; भा० प्र० पृ० १६४ पं० ३.

३. ना० शा० चौ० २६।७६-८०.

४. ना० शा० का० भा० सं० २६।२३-७४.

५. शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लताविपुष्पेव ।
अविभूषितेब च स्त्री गीत्यालंकारहीनास्लात् ।।
—ना० शा० चौ० २६।७५.

६. सं० र० अडयार संस्करण, अध्याय १, प्रकरण ८ (गीति) श्लोक १४-२५.

छन्द—रागगीतों में शारदातनय छन्दों की 'आठ' संख्या स्वीकार करते हैं।[1] उसके साथ ही वे छन्द का स्वरूप भी कहते हैं। यहाँ पर छन्दों की विशेष गति मात्रावर्ण से कल्पित (युक्त) नहीं हैं, अपितु जो राग धातु तथा मातु प्रयोगों में तालमान के बिना प्रयुक्त होता है, वह छन्द है।[2] यहाँ छन्द के स्वरूप-वर्णन के समय 'धातु' एवं 'मातु' शब्दों का प्रयोग हुआ है। धातु का अर्थ राग एवं ताल से है तथा मातु का अर्थ है—भाषा अर्थात् वाणी। इस प्रकार राग धातु एवं मातु अर्थात् राग एवं वाणी—इन दोनों पक्षों में प्रयुक्त हैं, तो वह 'छन्द' कहलाता है। छन्द स्वरूप के प्रतिपादन के पश्चात् अतलादि प्रत्येक छन्द का पृथक्-पृथक लक्षण भी निरूपित किया गया है।[3]

नाट्यवस्तु का विवेचन

नाट्य के मूलभूत तत्त्वों—वस्तु, नेता, रस में से सर्वप्रथम वस्तु की गणना की जाती रही है।[4] नाट्यवस्तु के विस्तृत क्षेत्र का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्मता से किया जाता रहा है। नाट्य सार्वभौम हे,[5] अतः उसकी वस्तु भी संकुचित नहीं होगी। यह वस्तु ही नाट्य अथवा प्रबन्ध का शरीर है, जिसे भरत भी काव्य का शरीर कहते हैं।[6] नाट्यवस्तु अथवा नाट्यशरीर के क्रियात्मक परिवेश में नाट्य की आत्मा-रस का परिपाक होता है। दूसरे शब्दों में रसरूपी आत्मा के अमूर्त्त स्वरूप को नाट्यवस्तु रूपी शरीर के मूर्त्त स्वरूप द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है और यह रसाभिव्यक्त ही नाट्य का मूल उद्देश्य है। नाट्यवस्तु अर्थात् नाट्यशरीर को 'इतिवृत्त' की संज्ञा प्रदान की गई है। इस इतिवृत्ति में नायिकादि

---

१. अतलं तरलं चैव मुल्लोलमलगं तथा।
उग्राणं लिप्सितं चेव घट्टितंघविघट्टितम्।
एतानि रागगीतेषु चन्दांसीति च मन्वते॥
—भा० प्र० पृ० १९३, पं ११-१२.

२. छन्दोगति बिशेषोऽत्र न मात्रावर्ण कल्पित:।
धातुमातृषु यो राग: तालमानविनाकृत:॥
—भा० प्र० पृ० १९३, पं १३-१४.

३. भा० प्र० पृ० १९३ पं० १५-२२ से पृ० १९४ पं १-२ तक.

४. अत्रवस्तुस्वरूपन्तु प्रथमं सम्यगुच्यते। —भा० प्र० पृ० २००, पं० १४.

५. एतद्द रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च
सर्वोपदेश जननं नाट्यमेतद्द भविष्यति॥ —ना० शा० चौ० २१।१.

६. भा० प्र० पृ० २००, पं० १५ ; ना० शा० चौ० २१।१.

पात्रों का चरित्रचित्रण होता है।[1] शारदातनय के इस कथन से शिंगभूपाल भी पूर्णतया प्रभावित हैं।[2]

भरत, धनंजय एवं भोज ने इतिवृत्ति अर्थात् नाट्यवस्तु का विवेचन सामान्यतया न करके सीधे उसके आधिकारिकादि भेदों का वर्णन प्रस्तुत कर दिया है;[3] जबकि शारदातनय नाट्यवस्तु का सामान्य विवेचन विस्तार से प्रस्तुत करके उसके आधिकारिकादि भेदों का निरूपण करते हैं।[4] उन्होंने दस रूपक की भाँति ही आधिकारिक को मुख्य एवं प्रासंगिक को अंग रूप कहा है।[5] विश्वनाथ एवं शिंगभूपाल ने भी यह वस्तु द्विविध मानी है।[6]

नाटक में फल प्राप्ति का अधिकार नायक को होता है, अतः आधिकारिक वस्तु में मुख्य नायक से सम्बद्ध कथा का समावेश होता है। इसके अतिरिक्त जो सहायक कथामें उपकारी के रूप में प्रस्तुत की जाती हैं, वे प्रासंगिक अथवा आनुषंगिक के नाम से अभिहित की जाती हैं।[7] नायकनायिकादि का काव्यव्यापी वृतान्त जोकि त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) का साधक होता है, आधिकारिक कहलाता है।[8] शारदातनय के इस कथन पर अग्निपुराण का प्रभाव जान पड़ता है।[9] नाट्य को कथावस्तु के इन द्विविधि भेदों की कल्पना कवि स्वेच्छा से न करके फलोत्कर्ष के औचित्य के आधार पर करता है। धीरोदत्त या धीरोदात्तादि नायकों के लिए जैसी फल-प्राप्ति अपेक्षित होगी, उसी के उत्कर्ष में कवि को कथावस्तु का निबन्धन करना चाहिए।[10]

---

१. भा० प्र० पृ० २००; पं० ६, १७.

२. रक्षितारस्तु नेतार इतिवृत्ति तु कथ्यते।
इतिवृत्तिकथावस्तुशब्दाः पर्यायवाचिनः ॥ —र० सु० ३।४.

३. ना० शा० चौ० २१।२ : द० रू० १।११ ; शृं० प्र० द्वादशप्रकाश, पृ० ४८५ (मैसूर प्रकाशन)

४. भा० प्र० पृ० २०० पं० १४-२२, पृ० २०१ पं० १.

५. द० रू० १।११ ; भा० प्र० पृ० २०१ पं० २.

६. सा० द० ६।४२ ; र० सु० ३।१८.

७. ना० शा० चौ० २१।३-५ ; द० रू० १।१२-१३ ; ना० ल० को० पृ० २२४ ; ना० द० १।१० ; भा० प्र० पृ० २०१ ; सा० द० ६।४३-४४ ; र० सु० ३।१६-२०.

८. भा० प्र० पृ० २०१, पं० ५-६.

९. अ० पु० अ० ३४०.

१०. कविर्यत्फलनूत्कर्षेण विवतति तत्प्रधानफलम् तथा कविरपि न स्वेच्छया, फलयोत्कर्ष निबद्धमर्हति, किंत्वोचित्तयेन। यस्य धीरोदत्तादेयदेव फल-मुचितं तस्यैवोत्कर्षेनिबंधनीय : । —अभि० भा० भाग ३, पृ० ४.

आधिकारक एवं प्रासंगिक कथावस्तु के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए क्रमशः राम का तथा सुग्रीव-विभीषण का वृतान्त प्रस्तुत किया जा सकता हैं।[१] धनंजय प्रासंगिक कथावस्तु के भी दो भेद पताका व प्रक्री का प्रतिपादन करते हैं।[२] शारदातनय ने प्रासंगिक वस्तु को त्रिविधि बताया है–पताका, प्रकरी तथा पताका स्थानक।[३] वैसे तो धनंजय ने भी पताकास्थानक का उल्लेख किया है, किन्तु वह प्रासंगिक वस्तु की त्रिविध कहने की दृष्टि से नहीं, अपितु पताका के प्रसंग में ही पताकास्थनक की व्युत्पत्ति कही है।[४] भरत ने तो इस प्रकार का पताकादिभेद से वस्तु का वर्णन प्रस्तुत किया ही नहीं है। साहित्यदर्पणकार ने पताकास्थानक का वर्णन पृथक् से करके पताका और प्रकरी की गणना केवल पंचार्थप्रकृतियों में की है,[५] प्रासंगिक कथावस्तु के भेद के रूप में नहीं। हाँ, शिंग-भूपाल, बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य—को पंचविध इतिवृत्त कहते हैं।[६]

पताका एवं प्रकरी का सामान्य-स्वरूप धनंजय की भाँति स्वीकार करके शारदातनय उन दोनों का विस्तार से सोदाहरण स्वरूप प्रतिपादन करते हैं।[७] इसके पश्चात् पताकास्थानक का विस्तृत वर्णन करते हुए उन्होंने पहले तो धनंजय की भाँति पताकास्थानक 'द्विविध' बताये हैं, तत्पश्चात् चार प्रकार के पताका-स्थानक का उल्लेख किया है जिसका अनुसरण करते हुए विश्वनाथ ने एवं शिंग-भूपाल, ने भी चतुर्विध पताकास्थानक स्वीकार किया है।[८] भरत भी चार प्रकार का ही पताकास्थानक मान चुके हैं।[९] शारदातनय विश्वनाथ एवं शिंगभूपाल द्वारा प्रस्तुत किए गए चतुर्विध पताकास्थानक वर्णनों पर भरत की ही छाप है। दश-रूपककार के समान ही शारदातनय आधिकारिक तथा द्विविध प्रासंगिक (पताका-

---

१. द० रू० १।११ वृत्ति; भा० प्र० पृ० २०१ पं० ९-१० ; सा० द० ६।४३-४४ (वृत्ति) पृ० ३८३ ; र० सु० ३।१९.

२. सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेश भाक् ॥

—द० रू० १।१३.

३. भा० प्र० पृ० २०१, पं० ११–१२.

४. द० रू० १।१४.

५. सा० द० ६।४६-४९, ६४.

६. र० सु० ३।७-८.

७. द० रू० १।१३ ; भा० प्र० पृ० २०१, पं० १३–२२, पृ० २०२ पं० १–५-

८. द० रू० १।१४ (वृत्ति) ; भा० प्र० पृ० २०२ पं० १३–२३, पृ० २०३ पं० १–१०, सा० द० ६।४४–४९ ; र० सु० ३।१५–१६.

९. ना० शा० चो० २१।३१–३५.

प्रकरी) के पुनः तीन-तीन प्रकार के वस्तु भेद करते हैं–प्रख्यात, उत्पाद्य एवं मिश्र। इन भेदों में जब दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य भी समाविष्ट कर दिए जाएँ, तो वस्तु नवधा (नौ प्रकार की) हो जाती है।[1] तत्पश्चात् शारदातनय इस नाट्य वस्तु का फलकथन (त्रिवर्ग प्राप्ति) प्रस्तुत करते हैं।[2]

नाट्यदर्पणकार ने इतिवृत्त को 'चरित' भी कहा है। उनके अनुसार अभिव्यक्ति की प्रक्रिया की दृष्टि से यह 'चरित' चतुर्विध होता है – सूच्य, प्रयोज्य, अभ्यूह्य एवं उपेक्ष्य।[3] इतिवृत्त का इस प्रकार का भेद वर्णन शारदातनय ने प्रस्तुत नहीं किया है ; क्योंकि इनका समावेश दूसरे प्रकार से उनके विवेचन में हो जाता है यथा—नीरस एवं अनुचित वस्तु की सूचना दे देना चाहिए जैसा कि भरतादि ने भी स्वीकार किया है।[4] प्रयोज्य को शारदातनय ने दृश्य श्रव्य कहा है।[5] अभ्यूह्य का समावेश उत्पाद्य हो जाता है तथा जो उपेक्ष्य है, वह तो त्याज्य है ही, उसका प्रयोग करना निरर्थक ही है।

पंचावस्थाएँ, पंचअर्थप्रकृतियाँ, पंचसंधियाँ आदि

नाट्यप्रयोग में साध्यफल की प्राप्ति हेतु नायक अपने कार्य-व्यापार में प्रारम्भ से अन्त तक व्यस्त रहता है। इस बीच उसे विभिन्न अवस्थाओं साधनों अथवा उपायों, दशाओं आदि के मध्य होकर गुजरना पड़ता है। नाट्यप्रयोग के आरम्भ में नायक फलप्राप्ति हेतु जो पुरुषार्थ करता है, वह पंचावस्थाओं, पंचअर्थप्रकृतियों एवं पंचसंधियों के द्वारा प्रसारित होता हुआ, नाट्यावसान के समय साध्य को प्राप्त करता है।

---

१. द० रू० ३।१५ ; भा० प्र० पृ० २०३ पं० ११–१६.

२. भा० प्र० पृ० २०३ पं० १६–२१, पृ० २०४ पं० १–३.

२. ना० द० विवेक १, कारिका १०–११.

४. नीरसो नुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
नीरसं लौकिकोपेतमशास्त्रीय च यद्भवेम्॥
तद्वस्तु सूचनीयं स्यादित्याहुर्भरतादयः।
— भा० प्र० पृ० २१४, पं० १७–१९.

५. द्वेधा विभागः कर्त्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत्किंचिद्दृश्यश्रव्यमथापरम्॥
— भा० प्र० पृ० २१४, पं० १५–१६.

पंचावस्थाएँ—नायकादि के प्रारम्भ में किए हुए कार्य-व्यापार की अपेक्षा से पाँच अवस्थाएँ होती हैं,[1] प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम।[2] ये अवस्थाएँ काल एवं स्वभाव की दृष्टि से भिन्न-भिन्न होती हुई भी क्रियाफल की प्राप्ति के लिए परस्पर सम्बद्ध रहती हैं, अतः इन पाँचों अवस्थाओं का प्रयोग एवं विकास समग्र रूप में ही होना श्रेयस्कर है।[3] प्रारम्भ नामक अवस्था में आधिकारिक इतिवृत्त विद्यमान होना चाहिए, क्योंकि आधिकारिक वस्तु में निहित जो साध्य बीज रूप में स्थित है, वही अन्त में फल रूप में नायक को प्राप्त होता है।[4] शारदातनय को पंचावस्थाओं के विषय में भरतादि का मत स्वीकार है।[5] परन्तु वे भरत की भाँति केवल अवस्था लक्षण प्रस्तुत करके ही इति नहीं कर देते, अपितु धनिक की भाँति भिन्न-भिन्न नाटक, नाटिका, प्रकरण इत्यादि रूपकों में से उन अवस्थाओं के अनुरूप उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी उनमें जागरूक रही है।[6] धनिक एवं विश्वनाथ ने रत्नावली नाटिका में योगन्धरायण की उक्ति के द्वारा 'आरम्भ' नामक अवस्था का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। शिंगभूपाल ने बालरामायण की आरम्भावस्था को लिया है। नाट्यदर्पणकार ने इस संदर्भ में 'वेणीसंहार' में भीम की सहदेव के प्रति उक्ति 'अथ भगवान् कृष्णः' इत्यादि को प्रस्तुत

---

१. कार्यस्य नायकादीनां व्यापारापेक्षया पुनः।

— भा० प्र० पृ० २०६, पं० ३.

२. ना० शा० चौ० २१।९–१३ ; द० रू० १।१९–२२ ; ना० ल० को० पृ० ६६–६९ ; ना० द० १।३५–३६ ; भा० प्र० पृ० २०६ पं० १–२ ; सा० द० ६।७०–७३ ; प्र० रु० पृ० १०५–६ ; र० सु० ३।२३–२५ ; शृं० प्र० पृ० ४८४, द्वादश प्रकाश (मैसूर प्रकाशन)।

३. अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम्।
यद् दृश्यते निवृत्ते तु फलयोगः स उच्यते॥
सर्वस्येव हि कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।

— ना० शा० चौ० २१।१४–१५.

४. अभि० भा० भाग २, पृ० ९.

५. (क) पंचावस्था भवन्तीति भरतादिभिरुच्यते॥

— भा० प्र० पृ० २०६, पं० ४.

(ख) सर्वस्येव हि कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
यथानुक्रमशोह्येताः पंचावस्था भवन्ति हि॥

— भा० प्र० पृ० २०६, पं० १५–१६.

६. भा० प्र० पृ० २०६, पं० ५–१४, १७–२२ ; पृ० २०७ पं० १–२.

किया है।[1] ध्यातव्य है कि शारदातनय ने इन सब से पृथक् दृष्टान्त का उल्लेख किया है, जिसे उन्होंने 'शाकुन्तलम्' में से दुष्यन्त की 'असंशयं क्षत्रेत्यादि' उक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है।[2] प्रयत्न नामक अवस्था का दृष्टान्त धनिक एवं विश्वनाथ ने 'रत्नावली' के चित्रलेखन रूप व्यापार के रूप में रखा है। शिंगभूपाल ने बालरामायण में राम के द्वारा ताड़कादि निपातन एवं भूतपतिखनुर्दलनादि प्रयत्नों के द्वारा प्रयत्नावस्था का वर्णन किया है। नाट्यदर्पणकार ने 'रत्नावली' के चित्रलेखन व्यापार के साथ-साथ 'नलनिवास' नामक नाटक के तृतीय अंक में राजा का मकरिका के साथ वार्तालाप का उदाहरण भी प्रयत्नावस्था के रूप में प्रस्तुत किया है।[3] यहाँ भी इन सबसे पृथक् दृष्टान्त शारदातनय ने रखा है। उन्होंने 'मालती-माधव' में माधव एवं मालती के संगम के आशय से कामन्दकी के 'प्राणेस्तपोभि-रित्यादि' वचनों को प्रयत्नावस्था के रूप में चित्रित किया है।[4] प्राप्त्याशा का उदाहरण धनिक एवं विश्वनाथ ने 'रत्नावली' के तृतीय अंक में रत्नावली के भेष बदलकर अभिसरण करने के समय विदूषक की 'एवं जदि अआलवादाली – इत्यादि उक्ति के रूप में दिया है। शिंगभूपाल बालरामायण में सीतापहरण के पश्चात् राम तथा सुग्रीव की संधि एवं सेतुबन्धनादि में प्राप्त्याशा देखते हैं। नाट्यदर्पणकार नें वेणीसंहार के तृतीय अंक में भीम की 'कृष्टा येन' इत्यादि उक्ति में प्राप्त्याशा को प्रस्तुत किया है। शारदातनय ने प्राप्त्याशा का दृष्टान्त 'मालतीमाधव' में 'प्रीतेविधातरी' इत्यादि श्लोक के रूप में प्रस्तुत किया है।[5] नियताप्ति के विषय में धनिक एवं विश्वनाथ 'रत्नावली' में रत्नावली के छुटकारे के लिए राजा के द्वारा देवीवासवदत्ता के प्रसादन रूप व्यापार को प्रस्तुत करते हैं। शिंगभूपाल नियताप्ति का उदाहरण भी 'बालरामायण' से ही ग्रहण करते हैं। नाट्यदर्पणकार ने वेणीसंहार में भीम तथा अर्जुन के 'कर्त्ता द्यूतच्छलानां' इत्यादि वचन से नियताप्ति का उल्लेख किया है। शारदातनय इस विषय में 'सन्देह निर्णयोजातः साभिलाषं भवेत् च' इत्यादि दुष्यन्त की उक्ति को रखते हैं।[6] फलागम का

---

१. द० रू० १।२० (अवलोक) ; सा० द० ६।७१ ; र० सु० ३।२३ पृ० २१४

२. भा० प्र० पृ० २०६, पं० १७–१८.

३. द० रू० १।२० (अवलोक) ; सा० द० ६।६२ ; र० सु० ३।२४ ; ना० द० १।३५ सू० ३९.

४. भा० प्र० पृ० २०५ पं० १९–२०.

५. द० रू० १।२१ ; सा० द० ६।७२ ; र० सु० ३।२४ पृ० २१४–२१५ (त्रि०सं० सी० न०) ; ना० द० १।३५ सू० ४० ; भा० प्र० पृ० २०६ पं० २१.

६. द० रू० चो० १।२१ (अवलोक) ; सा० द० ६।७३ ; र० सु० ३।२५ ; ना० द० १।३६ सू० ४१ ; भा० प्र० पृ० २०६ पं० २२, पृ० २०७ पं० १.

वर्णन करते हुए धनिक तथा विश्वनाथ उदयन को रत्नावली एवं चक्रवर्तित्व की प्राप्ति का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। शिंगभूपाल बालरामायण में राम का राज्योपभोग तथा भोगोत्तर त्रिवर्गफललाभप्राप्ति को 'फलागम' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। नाट्यदर्पणकार ने 'वेणीसंहार' में भीम की 'भूमो क्षिप्त्वा' इत्यादि उक्ति के द्वारा एवं 'राघवाभ्युदये' में राम की 'वैदेही' हृतवांस्तदेष' इत्यादि उक्ति के द्वारा फलागम की सूचना दी है। शारदातनय भी 'वेणीसंहार' में भीम के द्वारा फलयोग की प्राप्ति का दृष्टान्त वर्णन करते हैं।[१]

अर्थप्रकृतियाँ—अर्थप्रकृतियाँ नाट्यवस्तु के उपादानकारणों से सम्बद्ध रहती हैं, अतः उन्हें फल के उपाय, हेतु अथवा साधन कहा जा सकता है। ये उपाय अर्थात् अर्थ-प्रकृतियाँ नाट्यशरीर की रचना के आधार पर विकसित होती हैं। शारदातनय पंचार्थप्रकृतियों को 'नाट्यशरीर' के हेतु कहते हैं।[2] इन पंचविध अर्थप्रकृतियों के नामों को भरत के अनुसार ही समस्त विद्वान् स्वीकार करते हैं,[३] भले ही उनके स्वरूप के विषय में वे एकमत न हों। साधनत्व की विशेषता से विभूषित होने के कारण 'बीज' का वर्णन सर्वप्रथम करना चाहिए।[४] बीज का स्वरूप-निरूपण भरत की भाँति धनंजय, नाट्यदर्पणकार, शारदातनय, विश्वनाथ एवं शिंगभूपाल प्रस्तुत करते हैं, परन्तु शारदातनय बीज का वर्णन अपेक्षाकृत विस्तृत करते हैं।[५] 'बिन्दु' के वर्णन में भी भरत का अनुसरण धनंजय, नाट्यदर्पणकार विश्वनाथ तथा शिंग-भूपाल ने किया है।[६] शिंगभूपाल बिन्दु के विषय में यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार जल-बिन्दुओं को तरुमूल में सिंचित करने से फललाभ होता है, उसी प्रकार पुनः पुनः बिन्दुपतन से नाट्यवस्तु विकसित-पल्लवित होती है।[७] शिंगभूपाल के इस

---

१. द० रू० (अवलोक) १।२२ ; सा० द० ६।७३ ; र० सु० ३।२५ ; ना० द० १।३६ सू० ४२ ; भा० प्र० पृ० २०७ पं० २.

२. भा० प्र० पृ० २०४ पं० २१–२२, पृ० २०७ पं० १.

३. ना० शा० चो० २१।२१–२२ ; द० रू० १।१८ ; ना० द० १।२८ ; सा० द० ६।६४–६५ ; र० सु० ३।८.

४. साधनत्वाद्धि बीजस्य प्रथमं तदुपक्षिपेत् ॥

— भा० प्र० पृ० २०५, पं० २.

५. ना० शा० चो० २१।२३ ; द० रू० १।१७ ; ना० द० १।२९, सूत्र २६ ; भा० प्र० पृ० २०४, पं० ४–१५ ; सा० द० ६।६५–६६ ; र० सु० ३।८–१०.

६. ना० शा० २१।२४ ; द० रू० १।१७ ; ना० द० १।३२ सूत्र ३४ ; सा० द० ३।११.

७. र० सु० ३।१२.

कथन पर शारदातनय का स्पष्ट प्रभाव दर्शनीय है।[१] शारदातनय ने बीज तथा बिन्दु के विषय में कोहल का मत भी उद्धृत किया है। आगे वे 'बिन्दु' के दो मौलिक विभाग प्रस्तुत करते हैं—मानज एवं विपत्तिज। इन दोनों के दृष्टान्त भी उन्होंने 'वेणीसंहार' से उद्धृत किए हैं।[2] बिन्दु का स्वरूप सागरनन्दी कुछ भिन्न ढंग से प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक अंक में नाट्यार्थ का अवमान अथवा उत्साह के द्वारा आवर्त्तन होता रहता है, वही 'बिन्दु' है। इस कथन पर अभिनवगुप्त की स्पष्ट छाप है।[३] 'फलप्राप्ति के अन्त तक बिन्दु की गति का विस्तार रहता है—यह कथन शारदातनय भरत से प्रभावित होकर कहते हैं; साथ ही उसका दृष्टान्त भी प्रस्तुत करते हैं।[4] 'पताका एवं प्रकरी को यथायोग आधिकारिक के साथ-साथ भिन्न-भिन्न स्थलों पर प्रयोग करना चाहिए'—शारदातनय के इस कथन का प्रभाव शिंगभूपाल पर स्पष्ट दर्शनीय है। भरत के अनुसार प्रधान वस्तु की उपकारी वस्तु 'पताका' कहलाती है। यह फलप्राप्ति सानुबन्ध होती है। परन्तु प्रकरी अनुबन्ध-रहित होती है। इसी आशय को धनंजय ने प्रकट किया है। सागरनन्दी पताका को एकप्रदेशवर्तिनी होते हुए भी सम्पूर्णवस्तु की प्रकाशिका कहते हैं।[५] परन्तु नाट्यदर्पणकार एवं शिंगभूपाल पताका को अत्यन्त आवश्यक स्वीकार नहीं करते हैं।[६] फिर भी शिंगभूपाल पताका-प्रकरी के निरूपण के समय शारदातनय से पूर्णतया प्रभावित हैं, तभी तो वे स्पष्टरूपेण भावप्रकाशनकार की उक्ति को उद्धृत करते हैं।[७] इस उद्धरण की अन्तिम पंक्ति में तथा भावप्रकाशन के मूलपाठ में किंचित् अन्तर है।[८] 'प्रसंगो' के स्थान पर यदि शुद्धपाठ 'प्रबन्धे' प्राप्त हो जाता, तो 'प्रसंगो' के सामने प्रश्नसूचक (?) चिह्न लगाने की आवश्यकता न रहती, साथ ही अर्थ भी सुस्पष्ट हो जाता।

१. भा० प्र० पृ० २०४, पं० ६–१०.
२. भा० प्र० पृ० २०४, पं० १३–२०.
३. ना० ल० को० पृ० १७३–१८५ ; अभि० भा० भाग २, पृ० २.
४. भा० प्र० पृ० २०४ पं० १०–१२ ; ना० शा० चो० २१–२४.
५. भा० प्र० पृ० २ ४ पं० ५, १४ ; र० सु० ३।२२ ; ना० शा० चो० २१।२५–२६ ; द० रू० १।१३ ; ना० ल० को० पृ० १८६.
६. ना० द० १।२६, सूत्र २७ ; र० सु० ३।१४.
७. पताकाप्रकरीव्यपदेशे भावप्रकाशिकाकारेणोक्तः –
यथा पताका कस्यापि शोभाकृच्चिह्नरूपतः।
स्वस्योपनायकादीनां वृत्तान्तस्तद्वदुच्यते ॥
शोभाये वेदिका दीनां यथा पुष्पाक्षतादयः।
तथा तु वर्णनादिस्तु प्रसंगो (?) प्रकरी भवेत् ॥ — र० सु० ३।१४.
८. तथाऽत्र वर्णनादिस्तु प्रबन्धे प्रकरेर्भवेत् ॥ —भा० प्र० पृ० २०२, पं० ३.

साध्यत्व के कारण सबसे अन्त में 'कार्य' को प्रयुक्त किया जाना चाहिए ।[1] त्रिवर्ग (धर्मार्थकाम) का साधक होने से यह समस्त इतिवृत्त एवं उसका फल 'कार्य' कहलाता है ।[2] दूसरे शब्दों में जिस अर्थ के लिए वस्तुव्यापार का समारम्भ किया गया था, वही कार्य कहलाता है ।[3] 'बीज' नामक अर्थप्रकृति का एक दृष्टान्त धनिक एवं विश्वनाथ 'रत्नावली' के विष्कम्भक में योगन्धरायण की 'द्वीपादन्यस्मात्' आदि के रूप में देते हैं, तथा दूसरा दृष्टान्त 'वेणीसंहार' में भीम के क्रोध से उपचित युधिष्ठिर का उत्साह है । भोज इस संदर्भ में 'प्राचेतसो मुनिवृषा' इत्यादि श्लोक प्रस्तुत करते हैं । नाट्यदर्पणकार 'रत्नावली' का उदाहरण तो धनिक की ही भाँति प्रस्तुत करते हैं ; इसके अतिरिक्त वे 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'यादवाभ्युदय' तथा 'मायापुष्पक' नामक नाटकों में से भी बीज का दृष्टान्त उद्धृत करते हैं । शिगभूपाल बालरामायण के प्रथम व द्वितीय अंक में राम के उत्साह को बीज का उदाहरण कहते है । शारदातनय बीज के उदाहरण के रूप में 'वीरचरित' में विश्वामित्र के वचनों से उपचित राम का उत्साह प्रस्तुत करते हैं ।[4]

'बिन्दु' के उदाहरण के लिए धनिक एवं विश्वनाथ 'रत्नावली' की राजा के प्रति 'कहं एसो सो उदयण....' इत्यादि उक्ति का उल्लेख करते हैं । नाट्यदर्पणकार के अनुसार 'राघवाभ्युदय' नाटक में राम की 'कलत्रमपि रक्षितुं इत्यादि उक्ति 'बिन्दु' है । शिगभूपाल बालरामायण के तृतीय-चतुर्थ अंक में सीता-परिग्रह को 'बिन्दु' कहते हैं । शारदातनय 'वीरचरित' के चतुर्थ अंक के विष्कम्भक में 'हा वत्सा' इत्यादि उक्ति को 'बिन्दु' कहते हैं । इसी को भोज भी बिन्दु का दृष्टान्त कह चुके हैं ।[5] 'पताका' के उदाहरण के लिए धनिक सुग्रीवादि का वृतान्त प्रस्तुत करते हैं । विश्वनाथ सुग्रीवादि के वृत्तान्त के साथ-साथ 'वेणीसंहार' में भीमादि का वृत्तान्त एवं 'शाकुन्तलम्' में विदूषक के चरित को 'पताका' कहते हैं । भोज 'मूर्ध्नां जाम्बवतो' इत्यादि का सन्दर्भ पताका के रूप में प्रस्तुत करते हैं । नाट्यदर्पणकार सुग्रीव-विभीषणादि के वृत्तान्त को 'पताका' कहते हैं । शिगभूपाल

---

१. भा० प्र० पृ० २०५, पं० ३.
२. द० रू० १।१६ ; भा० प्र० पृ० २०४ पं० ३ ; र० सु० ३।१७.
३. ना० शा० चो० २१।२७ ; ना० द० १।३३ सूत्र ३५ ; सा० द० ६।६६-७०.
४. द० रू० (अवलोक) १।१७ ; सा० द० ६।६६ (वृत्ति) ; शृं० प्र० द्वादश प्रकाश पृ० ४८३ (मैसूर प्रकाशन) ; ना० द० १।२६ सू० २६ ; र० सु० ३।१० ; भा० प्र० पृ० २०५ पं० ७–८.
५. द० रू० (अवलोक) १।१७ ; सा० द० ६।६६ (वृत्ति) ; ना० द० १।३२ सूत्र ३४ ; र० सु० ३।१२ ; भा० प्र० पृ० २०३ पं० ११–१२ ; शृं० प्र० द्वादश प्रकाश पृ० ४८३ (मैसूर प्रकाशन).

सुग्रीवमकरन्दादि की कथा को 'पताका' कहते हैं। शारदातनय ने सीतापहरण के अवसर पर जटायु के वृतान्त को 'पताका' कहा है।[1] 'प्रकरी' के लिए धनिक श्रवणादि का वृतान्त प्रस्तुत करते हैं। विश्वनाथ ने इस प्रसंग में 'कुलपत्यंक' के रावण-जटायु संवाद के वृतान्त को लिया है। भोज इस विषय में 'मैनाकः' इत्यादि संदर्भ को प्रस्तुत करते हैं। नाट्यदर्पणकार के अनुसार भी 'प्रकरी' के रूप में जटायु आदि के वृतान्त को ग्रहण किया जा सकता है। शिंगभूपाल ने शारदातनय की ही भाँति 'सागरलंघन' में हनुमत्-वृतान्त को प्रस्तुत करते हैं।[2]

'कार्य' नामक अर्धप्रकृति के लिए धनिक ने उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। विश्वनाथ 'रामचरित' में रावण-वध को कार्य का उदाहरण कहते हैं। भोज 'नीतो विक्रमबाहुराम'—इत्यादि प्रसंग को प्रस्तुत करते हैं। शिंगभूपाल ने कार्य को शुद्ध एवं मिश्र कहकर उनके पृथक्-पृथक् दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं। शारदातनय रामचरित में 'ताताज्ञामधि मौलीति' इत्यादि उक्ति को कार्य के अन्तर्गत ग्रहण करते हैं।[3]

पंचसंधियां—मानव-शरीर की रचना में अस्थि की संधियों का जितना व्यापक एवं अपरिहार्य महत्त्व है, उसी प्रकार नाट्यशरीर की संरचना में भी इन पंच-संधियों का विशेष महत्त्व है। इन पंचसंधियों के प्रयोग के विषय में भरत[4] के मत का ही सभी विद्वान अनुसरण करते हैं। परन्तु उनके स्वरूप में मतैक्य नहीं है। अभिनव गुप्त के अनुसार प्रारम्भादि अवस्थाओं के लिए उपयोगी जो अर्थराशि होती है, वही संधि होती है।[5] भरत की संधि-विषयक विचारधारा से भिन्न दृष्टिकोण धनंजय का है, जिसका प्रभाव शारदातनय पर भी है।[6] परन्तु उन्होंने धनंजय से कहीं अधिक विस्तृत निरूपण किया है। विश्वनाथ और शिंगभूपाल ने भी संधियों की रचना इसी आधार पर प्रस्तुत की है। नाट्यदर्पणकार पर भी इसी

---

१. द० रू० (अवलोक) १।१३; सा० द० ६।६७ : शृं० प्र० द्वादश प्रकाश पृ० ४८३; ना० द० १।२६ सूत्र २७ ; र० सु० ३।१३ ; भा० प्र० २०५ पं० १५.

२. द० रू० (अवलोक) चौखम्बा १।१३ पृ० ८ ; सा० द० ६।६८ ; शृं० प्र० द्वादश प्रकाश पृ० ४८३ ; ना० द० १।३२ सूत्र ३३ ; भा० प्र० पृ० २०५ पं १६ ; र० सु० ३।१४.

३. सा० द० ६।७० (वृत्ति); शृं० प्र० द्वादश प्रकाश पृ० ४८४ ; र० सु० ३।१८ ; भा० प्र० पृ० २०५ पं० १७.

४. ना० शा० चौ० २१।३६-३८.

५. अभि० भा० भाग ३ पृ० २३.

६. द० रू० १।२२-२३ ; भा० प्र० पृ० २०७ पं० २-१६.

परम्परा का प्रभाव पड़ा है। परन्तु भोज ने इस सम्बन्ध में भरत और अभिनवगुप्त का अनुसरण किया है।[1]

धनंजय, शारदातनय, विश्वनाथ, शिंगभूपालादि जो यह स्वीकार करते हैं कि पंचावस्थाओं एवं पंचार्थप्रकृतियों का क्रमशः योग ही पंचसंधियाँ हैं, इस मत को अव्यावहारिक कहना युक्तिसंगत नहीं है। यदि कोई यह शंका करे कि 'कवि की इच्छानुसार कभी-कभी पताका अथवा प्रकरी का प्रयोग नहीं किया जाता, ऐसी दशा में अवस्थाओं एवं अर्थप्रकृतियों का यथासांख्य प्रयोग किस प्रकार हो पायेगा।' तो केवल इस आधार पर यथासांख्ययोग की परम्परा को हेयता अथवा अनुपादेयता की दृष्टि से देखना उचित नहीं है क्योंकि अपवाद प्रत्येक स्थल पर प्राप्त होते हैं। और फिर, जिस प्रकार कवि की इच्छानुसार पताका अथवा प्रकरी का प्रयोग नहीं किया जाता, उसी प्रकार तत्सम्बन्धित संधि भी यदि क्षीण अथवा कुछ काल के लिए तिरोहित हो जाए, तो नाट्य की गति में कोई विशेष बाधा उत्पन्न नहीं होगी। जिस प्रकार कवि अपने कौशल द्वारा पताका या प्रकरी का निषेध कर देता है, उसी प्रकार अपने उसी कौशल से वह तद्योगजनित संधि के बिना भी नाट्य के प्रवाह को अवरुद्ध नहीं होने देगा। कम से कम अवस्थाओं तथा अर्थप्रकृतियों के इस यथासांख्य योग से संधिनिरूपण के सिद्धान्त में कुछ ठोस आधार तो परिलक्षित होता ही है, जिसका कि भरत, अभिनवगुप्तादि की संधिविषयक-विचारपरम्परा में अभाव है।

'बीज' (अर्थ प्रकृति) तथा 'आरम्भ' (अवस्था) के योग से मुखसंधि होती है। इसके द्वादश अंग होते हैं। 'बिन्दु' तथा 'प्रयत्न' के योग से प्रतिमुख संधि होती है। इसके त्रयोदश अंग होते हैं। 'पताका' तथा 'प्राप्त्याशा' के योग से गर्भसंधि होती है। इसके द्वादश अंग होते हैं। भरत, भोज, नाट्यदर्पणकार तथा विश्वनाथ इसके त्रयोदश अंग कहते हैं।[2] प्रकरी तथा नियताप्ति के योग से अवमर्श सन्धि होती है। इसमें क्रोध, व्यसन अथवा विलोमन के द्वारा फलप्राप्ति के विषय में विमर्श किया जाए, तथा जहाँ गर्भसन्धि के द्वारा बीज को निर्भिन्न कर दिया गया हो, वहाँ पर होने वाला विचारनिर्णय अवमर्श-सन्धि कहलाता है।

---

१. सा० द० ६।७४-७५ ; र० सु० ३।२६ ; ना० द० १।३७ सूत्र ४३; शृं प्र० (द्वादश प्रकाश) पृ० ४८४-४८५ ; ना० शा० चौ० २१।३६-४३.

२. ना० शा० चौ० २१।७१-६१, शृं० प्र० द्वादश प्रकाश पृ० ५०५-५१८, ना० द० १।४१-५२ सूत्र ४६-७६, सा० द० ६।७६-१००, भा० प्र० पृ० २०८-२१०, र० सु० ३।३०-५७.

इसके त्रयोदश अंग होते हैं।[1] 'कार्य' तथा 'फलागम' के योग से निर्वहण सन्धि होती है। बीजयुक्त मुखादि अर्थ जब परम प्रयोजन पर पहुँच जाते हैं, तो निर्वहण सन्धि होती है। इसके चतुर्दश अंग होते हैं।[2]

इस प्रकार कुल मिलाकर चतुष्वष्टि (६४) 'संध्यंगं' हो जाते हैं। भरत के समान ही सभी आचार्य यह संख्या स्वीकार करते हैं।[3] इन संध्यंगों के छः प्रकार के 'प्रयोजन' शारदातनय तथा दशरूपककार ने भरत के आधार पर ही स्वीकार किए हैं।[4] जिस प्रकार अंगहीन पुरुष कार्य में अक्षम रहता है, उसी प्रकार अंगहीन काव्य प्रयोग में सक्षम नहीं होगा। अतः इन सन्ध्यंगों का प्रयोग नाट्य-शरीर के लिए कितना महत्त्वपूर्ण एवं अपरिहार्य है, यह स्वयंसिद्ध है।[5] भरत के अनुसार भोज तथा शारदातनय ने इक्कीस 'संध्यन्तरों' का उल्लेख किया है।[6] नाट्यदर्पणकार यद्यपि इन सन्ध्यन्तरों का अन्तर्भाव अंगों के अन्तर्गत ही करना श्रेयस्कर समझते हैं, तथापि उन्होंने इनकी परिगणना भी प्रदर्शित की है।[7]

उपसंहार—शारदातनय नाट्य वस्तु का सुष्ठु विभाजन, उसके संगठित रूप के लिए पंचावस्थाओं, पंचार्थप्रकृतियों, पंचसंधियों, चौंसठ संध्यंगों, इक्कीस संध्यंतरों आदि के विस्तृत विवेचन द्वारा प्रस्तुत नाट्यशरीर की रचना उतनी ही शास्त्र-सम्मत सिद्ध होती है, जितनी कि भरत की; अपितु उससे भी कहीं अधिक

---

१. ना० शा० चौ० २१।९२-९८, द० रू० १।४३-४८, शृं० प्र० द्वादश प्रकाश पृ० ५१९-५२४; ना० द० १।३९, ५६-५७ सूत्र ४७, ९०, भा० प्र० पृ० २११ पं० १०-२२, पृ० २१२ पं १-७, सा० द० ६।७९-८०, १०१-१०७, र० सु० ३।५७-६६.

२. ना० शा० चौ० २१।९९-१०५, द० रू० १।४८-५४, शृं प्र० द्वादश प्रकाश पृ० ५२५-५२९, ना० द० १।४०, ६१ सू० ४८, १०३; भा० प्र० पृ० २१२ पं० ८-२२, पृ० २१३ पं० १-८; सा० द० ६।८०-८१, १०८–१०९; र० सु० ३।६७–७४.

३. ना० शा० चौ० २१।६९; शृं० प्र० द्वादश प्रकाश पृ० ५०४ द० रू०; १।५४; सा० द० ६।११५; र० सु० ३।७८.

४. भा० प्र० पृ० २१३, पं० १२–१५; द० रू० १।५५; ना० शा० चौ० २१।५३–५४.

५. ना० शा० चौ० २१।५५-५८; भा० प्र० पृ० २१३, पं० १६–२२.

६. ना० शा० चौ० २१।४८-५१; शृं० प्र० (द्वादश प्रकाश) पृ० ४९८-५०३; भा० प्र० पृ० २१४ पं० ६–१४.

७. ना० द० १।६५ सत्र ११६.

सुस्पष्ट एवं साथ ही व्यावहारिक भी परिलक्षित होती है। नाट्यशरीरलक्षणा-विधान की परिसमाप्ति करते-करते शारदातनय ने सुकवि के द्वारा करणीय व्यवहार की ओर जो इंगित किया है,[1] उससे इस विवेचन को मानो कोई अपूर्व हस्तकौशल स्पर्श कर गया है।

१. इत्याद्यशेष मिह वस्तुविशेषं जातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथांच।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृ रसानुगुण्यात्
चित्रां कथामुचितचारूवचः प्रबन्धः ॥
न केवलं रसो नैव लक्ष्यं नेव च लक्षणम्।
न नायकस्यंवोत्कर्षो वर्ण्य : सुकविना क्वचित् ॥
कथाशरीरं सर्वेषामानुगुण्येन कल्पयेत् ॥
—भा० प्र० पृ० २२० पं० ५–११.

अध्याय ८

नृत्यभेद तथा नाट्य-प्रयोग

नृत्य का स्वरूप एवं उसके भेद

'नृत्य' शब्द गात्रविक्षेपणार्थक 'नृत्' धातु से ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः' सूत्र से 'क्यप्' प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है,[1] जिसका अर्थ होता है—'नाच'। क्योंकि इसमें भावाभिनय के साथ-साथ आँगिक क्रियाओं का संचालन भी होता है, जैसा कि 'संगीत-दामोदर' में कहा गया है कि ताल, मान और रस के आश्रय को एवं विलासपूर्ण अंग-विक्षेप को नृत्य कहा जाता है।[2] यद्यपि नृत्य एवं नृत्त दोनों में ही गात्र-विक्षेपण समान रूप से होता है तथापि नृत्य अनुकरणात्मक होता है, नृत्त नहीं। अभिनवगुप्त ने भगवान् शिव के द्वारा नृत्य का प्रवर्त्तन माना है।[3] 'मार्ग' संज्ञा से युक्त नृत्य का आश्रय नर्त्तक है, जो (नृत्य) समस्त आतोद्य से समन्वित एवं सुकुमार रूप से प्रयोज्य होता है। शारदातनय ने नृत्य को 'चित्र' की संज्ञा भी प्रदान की है।[4] नृत्य में रस, भाव एवं व्यंजना का सम्यक् रूप से प्रदर्शन

---

१. अष्टा० ३।१।११०

२. देवरुच्या प्रतीतो यस्तालमानरसाश्रयः।
स विलासोऽङ्गविक्षेपो नृत्यमित्युच्यते बुधैः॥
—संगीत दामोदर (शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड, पृ० ६१८)

३. भगवांश्चानन्दनिर्भरतया क्रीडाशीलः सन्ध्यादो नृत्यतीति।
—हि० अभि० भा० प्रथम अध्याय पृ० १३.

४. स मार्गसंज्ञां लभते सर्वातोधसमन्वितः।
सुकुमार प्रयोज्यं यचन्नृत्यमिति कथ्यते॥
.........नृत्यं चित्रमिति स्मृतम्।
—भा० प्र० पृ० ३०८ पं० २२-२३, पृ० २६६ पं० ४.

होता है।[१] रूपक आदि एवं तोटक आदि में नृत्य का प्रयोग प्राधान्यतः किया जाता है।[2]

शारदातनय के अनुसार उपरूपक ही नृत्य के नाम से जाने जाते हैं, क्योंकि उनका मुख्य प्रयोजन है—मुख्य भावों का उचित-संकेत के साधन द्वारा प्रतिनिधित्व करना। इन उपरूपकों अथवा नृत्यभेदों के मूल के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है, क्योंकि इनका वर्णन उपलब्ध-नाट्यशास्त्र में अप्राप्य है। हाँ, नाट्य-शास्त्र में कतिपय कथन ऐसे अभिलक्षित होते हैं, जिनसे यह सम्भव प्रतीत होता है कि कोहल एवं उनके कुछ मतानुयायियों ने उपरूपकों का अन्वेषण किया है।[3] किन्तु उन उपरूपकों की संख्या प्रत्येक विद्वान के अनुसार भिन्न-भिन्न है। इतना तो प्रमाणित ही है कि हर्ष के समय से पूर्व उपरूपकों की उत्पत्ति एवं स्थिति अवश्य थी; क्योंकि इनमें से एक—'तोटक' की परिभाषा हर्ष के द्वारा प्रतिपादित की गई जिसका कथन शारदातनय ने किया है।[4] इन उपरूपकों का मूल प्रस्तुत करने वाले कोहल हो सकते हैं—इस विवाद की पुष्टि अभिनवगुप्त, हेमचन्द्र एवं रामचन्द्र गुणाचन्द्र ने भी की है।[५]

अभिनवगुप्त ने इन उपरूपकों (नृत्यभेदों) का परिचय देते हुए 'तदुक्तं चिरन्तनैः' इस कथन के साथ कई श्लोकों को प्रस्तुत किया है, जिससे कि वे यह प्रदर्शित कर सकें कि ये उपरूपक लास्य एवं ताण्डव का ही दूसरा रूप हैं।[६] परन्तु शारदातनय लास्य एवं ताण्डव को उपरूपक अर्थात् नृत्यभेदों के अन्तर्गत न मानकर इन दोनों को नृत्य के द्विविध भेद के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं।[७]

अभिनवगुप्त ने 'चिरन्तन' शब्द के द्वारा किस प्राचीनतम विद्वान की ओर इंगित किया है—यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। हाँ, यही समान श्लोक शारदातनय तथा हेमचन्द्र ने भी प्रस्तुत किया है।[८] भोज ने जिन चौदह

१. अभि० द० श्लोक १६.

२. भा० प्र० पृ० ३०८ पं० २५–२६.

३. ना० शा० चौ० ३६।६५, ७१.

४. तदेव तोटकं भेदो नाटकस्येति हर्षवाक्।

—भा० प्र० पृ० २३८ पं० ५.

५. अभि० भा० (चतुर्थ अध्याय); का० अनु० पृ० ३२५, ३२६; ना० द० पृ० २५.

६. अभि० भा०, पृ० १८३.

७. भा० प्र० पृ० ४६ पं० १६, पृ० २६६ पं० १४

८. भा० प्र० पृ० २६५ पं० २३, पृ० २६६ पं १४; का० अनु० पृ० ३२७-३२८.

उपरूपकों की परिभाषाएं श्लोकों में प्रस्तुत की हैं, वे भावप्रकाशन में दृष्टिगोचर होते हैं। भोज ने 'नाटिका' तथा सट्टक' नामक भेदों का वर्णन किया है, जिन्हें नाटक तथा प्रकरण से निस्सृत माना है। ये दोनों भेद श्रीगदितादि द्वादश भेदों के समूह द्वारा अनुसृत हैं।[१] इससे यह तो स्पष्ट ही है कि उपरूपक भेद वर्णन भोज से पूर्व भी विद्यमान रहा होगा, चाहे भले ही भोज ने इसका प्रमाण प्रस्तुत न किया हो।

अग्निपुराण में जो सत्रह प्रकार के उपरूपकों का कथन किया गया है,[२] वह अंश पुराण की भांति प्राचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ध्वन्यालोक जैसे कथन वहाँ प्राप्त होते हैं, साथ ही वहाँ पर भोज के शृंगाररस के सिद्धान्त के साथ समानता भी प्रकट होती है। अग्निपुराण में जब सत्रह उपरूपक प्रस्तुत ही हो चुके थे, तब धनिक ने केवल सात ही उपरूपकों को मानने की संकीर्णता क्यों की, इसका कोई कारण समझ में नहीं आता।[३]

जो भी हो, उपरूपकों अर्थात् नृत्यभेदों के बीसों प्रकारों का क्रमबद्ध कथन केवल भावप्रकाशन में ही प्राप्त होता है।[४] इन सब तथ्यों को दृष्टिपथ में रखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के रचनाकाल में ये भेद प्रसिद्ध नहीं हुए थे, किन्तु धनिक के समय के बहुत पहले से ही इनका बीजारोपण सुष्ठु रूपेण हो चुका था, एवं इनका मूल प्रस्तुत करने का श्रेय कोहल को है। अग्निपुराण से लेकर विश्वनाथ तक अनेकानेक विद्वानों के द्वारा इन उपरूपकों की तालिका प्रस्तुत की जा चुकी है, जिसमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण निस्सन्देह शारदातनय द्वारा प्रस्तुत नृत्यभेदों की तालिका है, जो दो बार प्रस्तुत की गई है। जिनमें से प्रथम में भाण का कथन न करके 'सट्टक' को रखा गया है[५] तथा

---

१. वाक्यार्थाभिनयोऽयं प्रकीर्तितो नाटकादिभेदेन।
द्वादशविधपदार्थाभिनयमथ यथास्थितं वक्ष्ये॥
—शृं० प्र०, पृ० १४२.

२. अ० पु० ३३८।१-३.

३. डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकः।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्ते पि भाणवत्॥
—द० रु० (अवलोक) १।८.

४. ते नृत्यभेदाः प्रायेण संख्यया विंशतिर्मता।
—भा० प्र० पृ० २५५ पं० ६.

५. भा० प्र० पृ० २२१, पं० ६-१०

द्वितीय में सट्टक के स्थान पर भाण का कथन है[1] क्योंकि यहां पर सट्टक को नाटिका में समाविष्ट कर दिया गया है।

तोटक—बीस नृत्यभेदों की तालिका में से सर्वप्रथम 'तोटक' है। शारदातनय ने तोटक की तीन परिभाषायें प्रस्तुत की हैं, प्रथम तो हर्ष द्वारा प्रदत्त है तथा दो अन्य किन्हीं अप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा। तोटक में विदूषक के चरित्र के परिचय को हर्ष अनावश्यक मानते हैं, जबकि अन्य दो आचार्य ऐसा नहीं मानते। नौ, आठ, सात एवं पांच अंकों सहित तोटक के चार प्रकार के उदाहरणों के लिए चार नाटक यथा—मेनकानहुष, मदलेखा, स्तम्भितरम्भकम् तथा विक्रमोर्वशीय वर्णित हैं।[2] भोज ने जो चौदह उपरूपक माने हैं, उसमें तोटक का वर्णन नहीं है।

नाटिका—यह भरत के द्वारा नाटिका एवं 'नाटी' तथा धनंजय के द्वारा नाटिका कही गई है।[3] भावप्रकाशन में नाटिका के एक दूसरे रूप में 'सट्टक' भी वर्णित है।[4] यहाँ भोज का अनुसरण करते हुए शारदातनय सट्टक के लिए एक स्वतन्त्र एवं महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित करते हैं, ताकि नृत्यभेदों की संख्या में वृद्धि हो। उन्होंने नाटिका का लक्षण, स्वरूप एवं उदाहरण विस्तार से प्रस्तुत किया है।[५]

गोष्ठी—गोष्ठी की जैसी परिभाषा एवं स्वरूप भाव प्रकाशन में प्रस्तुत हुआ है, वैसा ही साहित्यदर्पण में भी विद्यमान है।[६] गोष्ठी के विषय में शारदातनय किंचित् भोज से प्रभावित जान पड़ते हैं।[७]

सल्लापक—इस नृत्यभेद की भी जैसी परिभाषा व स्वरूप शारदातनय ने प्रस्तुत किया है, वैसा ही साहित्य दर्पणकार ने भी किया है। दोनों ने ही सल्लापक का नायक पाखण्डी बताया है। जहाँ शारदातनय ने सल्लापक को 'सात्वती तथा आरभटी वृत्ति सहित' कहा है, वहाँ विश्वनाथ उसे भारती एवं कैशिकी वृत्ति से रहित कह देते हैं। तात्पर्य वही है। दोनों ने ही सल्लापक को छल, कपट, युद्ध, स्थानोपरोध इत्यादि से युक्त कहा है। परन्तु फिर भी निस्सन्देह विश्वनाथ की अपेक्षा शारदातनय ने सल्लापक का अधिक विशद लक्षण प्रतिपादित किया है।

शिल्पक—भाव प्रकाशनकार के शिल्पक-लक्षण का अनुसरण विश्वनाथ स्पष्ट रूप से करते हैं। ये दोनों लेखक शिल्पक के सत्ताइस अंगों की संख्या के विषय में तो

---

१. भा० प्र० पृ० २५५, पं० १०-१४.
२. भा० प्र० पृ० २३८ पं० ५-१४
३. ना० शा० चौ० २०।६३, ६५, द० रू० ३।४३.
४. भा० प्र० पृ० २४४ पं० १५—१७, पृ० २६९ पं० १-१०.
५. भा० प्र० पृ० २४३ पं० १७-२२, पृ० २४४ पं० १-१४
६. भा० प्र० पृ० २५६ पं० ८-१५, सा० द० ६।२७४-२७५
७. भा० प्र० पृ० २५६ पं० १६-२५, सा० द० ६।२९१-२९२.

एकमत है, परन्तु उन अंगों के नामों में किंचित् अन्तर परिलक्षित होता है। आतंक, शून्यता, प्रलोचना, प्रलोभन, प्रमद, प्रमाद, युक्ति, प्रशस्ति आदि कुछ नामों के स्थान पर विश्वनाथ ने प्रतिपत्ति, ग्रथन, वाष्प, प्राप्ति, प्रबोधन, वेशारथ, लाभ, विस्मृति, प्रहर्ष चमत्कृति आदि भिन्न संज्ञायुक्त अंगों को रखा है।[1]

डोम्बी--कुछ-कुछ भाणिका के अनुरूप डोम्बी भी जानी जाती है। इसमें उदात्त नायिका, एक अंक, केशिको एवं भारती वृत्तियाँ, वीर एवं श्रृंगार रस तथा सात अंग होने चाहिए। इसके उदाहरण स्वरूप 'कामदत्ता' को लिया जा सकता है, जो कि अब उपलब्ध नहीं हैं।[2] बिश्वनाथ ने भाणिका का ही वर्णन किया है डोम्बी का नहीं।[3] भाणिका के उदाहरण स्वरूप उन्होंने 'कामदत्ता' को ही लिया है, जिसे शारदातनय ने डोम्बी का उदाहरण कहा है। डोम्बी के स्थान पर विश्वनाथ ने विलासिका' नामक भेद जोड़ा है, जो कि धनिक एवं अभिनवगुप्त को भलीभाँति ज्ञात था। वैसे धनिक ने तो डोम्बी की भी गणना की है।[4] विलासिका का नाम 'विनायिका' भी देखा जाता है और कहीं-कहीं इस बिनायिका का अन्तर्भाव 'दुर्मल्लिका' नामक भेद में भी माना गया है।

श्रीगदित--शारदातनय ने दो प्रकार का श्रीगदित कहा है। इसी का अनुसरण विश्वनाथ ने भी किया है।[5] इनमें से एक तो कहीं भी प्राप्त नहीं होता, जबकि दूसरी परिभाषा भोज द्वारा प्रतिपादित 'श्रीगदित के वर्णन के समान है।[6] अतः श्रीगदित के प्रथम प्रकार की सर्जना का श्रेय शारदातनय को ही है। उन्होंने श्रीगदित के उदाहरणस्वरूप रामानन्द की चर्चा की है।[7] किन्तु विश्वनाथ प्रथम

---

१. भा० प्र० पृ० २८७ पं० १-१५, सा० द० ६।२९६-३००.

२. भा० प्र० पृ० २५७ पं० १७-२०.

३. सा० द० ६।३०८-३१२.

४. द० रू० (अवलोक) १।८.

५. भा० प्र० पृ० २५८ पं० ७-१७.

६. तत्र श्रीरिवं दानवशत्रोर्यस्मिन् कुलांगना पत्यु:।
वर्णयति शौर्यधैर्यप्रभृतिगुणान ग्रतस्संख्या : ॥
पत्या च विप्रलब्धा गातव्ये तान्क्रमादुपालमते ।
श्री गदितमिति मनीषिभिरुदाहृतां सां पदाभिनय : ।
—श्रृं० प्र० (MS) पृ. १४२.

७. एवं विधं श्रीगदितं रामानन्दं यथाकृतम्। —भा० प्र० पृ० २५८ पं० १७.

परिभाषा का उदाहरण 'क्रीडा रसातल' प्रस्तुत करते हैं, तथा दूसरी परिभाषा के लिए उनके पास कोई दृष्टान्त नहीं है।[1]

माण—'भावप्रकाशन' में माण का वर्णन करने वाले दो श्लोकों के समान-समूह एक के पश्चात् एक-पाये जाते हैं। इसका द्वितीय वर्णन इस ग्रन्थ के अन्त में[2] व्यक्त लेखक के विचारों के अनुसार भिन्न सम्प्रदाय से सम्बन्धित माना जा सकता है। इन श्लोकों का प्रथम समूह तो शृंगार प्रकाश एवं नाट्यदर्पण के समान अभिलक्षित होता है, परन्तु श्लोकों के द्वितीय समूह का स्रोत अज्ञात है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह द्वितीय वर्णन शारदातनय का मौलिक प्रस्तुतीकरण है। माण छः प्रकार में विभक्त किया गया है—शुद्ध, संकीर्ण, चित्र, उद्धत, ललित तथा ललितोद्धत। इनमें से शुद्ध संकीर्ण एवं चित्र संगीत में प्रयुक्त हुई तीन विभिन्न भाषाओं पर आधारित है; जबकि शेष तीन स्वयं में संलग्न कथावस्तु तथा अभिनय के आधार पर संगीत का अनुकरण करते हुए विभक्त किए गए हैं।[3] इनके अतिरिक्त ताल व मात्रा के आधार पर माण के छः प्रकारों का वर्णन शारदातनय ने दो स्थान पर किया है।[4] ताल के आधार पर प्रथम तीन प्रकारों का वर्णन एक अन्य स्थान पर भी किया गया है।[5] अर्थ-विविधता के आधार पर उद्धत आदि अन्तिम तीन प्रकारों का वर्णन भी प्रस्तुत किया गया है।[6] विशेष ध्यातव्य है कि भोज एवं शारदातनय ने 'नन्दिनमाली' नामक माण का एक अन्य प्रकार भी स्वीकार किया है तथा इस विषय में यह कहा है कि जो इसे पृथक् उपरूपक मानते हैं, वे भरत के द्वारा निर्दिष्ट नियमों का पूर्ण ज्ञान नहीं रखते हैं।[7] परन्तु

---

१. ऊह्यामुदाहरणम्।

—सा० द० ६।२९५ (विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला) पृ० ५४१.

२. भा० प्र० पृ० ३१३ पं० ९.

३. भा० प्र० पृ० २५९ पं० १६–१८, पृ० २६१ पं० ५-७.

४. भा० प्र० पृ० २५९ पं० ४-१०, पृ० २६० पं० १४-२२, पृ० २६१ प० १.

५. भा० प्र० पृ० २६१ पं० ८–१०.

६. भा० प्र० पृ० २६१ पं० ११-१३.

७. (क) तस्यान्तर्भावो यो माणेऽसौ नन्दिमालिनामास्यात्॥
भिन्नः केश्चित्कथितां भरतमतं सम्यगविदित्वा।

भा० प्र० पृ० २५९–२६० पं० २२ तथा १.

(ख) सोऽत्रैवान्तर्भाव्यो यो माणो नन्दिनमालिनामाऽन्यः।
भिन्नः केश्चित्कथिता भरतमतं सम्यगविदित्वा॥

शृं० प्र० (MS) पृ० १४४.

नाट्यशास्त्र तो इस संदर्भ में मौन ही है, यह आश्चर्य है। हाँ, यह हो सकता है कि तत्कालीन उपलब्ध नाट्यशास्त्र में नन्दिमाला का उल्लेख रहा हो, जो कि अब अप्राप्य है। वैसे जो भी हो, यह तो निश्चित ही है कि 'नन्दिमाली' का वर्णन उस माण से मिलता-जुलता है, जो कि मुख्य दशरूपकों में से एक है। भरत के आधार पर विश्वनाथ ने भी माण को मुख्य रूपकों में ही रखा है।[1]

माणिका शारदातनय द्वारा प्रस्तुत माणिका की परिभाषा एवं स्वरूप विश्वनाथ द्वारा उल्लिखित माणिका की परिभाषा से सर्वथा भिन्न है।[2] इस विषय में शारदातनय दो विभिन्न सम्प्रदायों के मतों का वर्णन करते हैं। प्रथम के अनुसार तो यह माण का ही दूसरा रूप है, यद्यपि इसका प्रमुख भाग संगीत व नृत्त से युक्त है। द्वितीय सम्प्रदाय के अनुसार माणिका एक प्रकार का रूपक है, जिसमें मुख्य रस के रूप में श्रृंगार, मुखप्रतिमुख एवं निर्वहण संधियाँ, पात्रों के रूप में विट एवं विदूषक, दस लास्यांग एवं पांचाली रीत होती है; उदाहरणार्थ 'वीणावती' रूपक यहाँ प्रस्तुत है। इसके अतिरिक्त शारदातनय ने लय ताल एवं लास्यांगसंधि नियमों के आधार पर भी माणिका का वर्णन प्रस्तुत किया है।[3]

प्रस्थान—इस नृत्यभेद के लिए शारदातनय दो परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हैं। एक तो श्रृंगारप्रकाश एवं नाट्यदर्पण में भी पाई जाती है, और दूसरी का अनुसरण साहित्यदर्पण में किया गया है।[4] प्रथम परिभाषा के अनुसार इस नृत्यभेद में संगीत तथा नृत्त की भरमार होनी चाहिए, किन्तु द्वितीय के अनुसार इसमें मदिरापान करते हुए एवं परस्पर नृत्य करते हुए निम्न श्रेणी के नायक-नायिका होने चाहिए तथा इसमें मुख व निर्वहण-नामक दो सन्धियाँ भी होनी चाहिए। शारदातनय तथा विश्वनाथ दोनों ने ही इसके उदाहरण के रूप में 'श्रृंगारतिलक' को प्रस्तुत किया है।

काव्य—काव्य का जैसा वर्णन भाव प्रकाशन में किया गया है, उससे कुछ ही भिन्न साहित्यदर्पण में परिलक्षित होता है। साहित्यदर्पण में काव्य का उदाहरण 'यादवोदयम्' कहा गया है। शारदातनय के अनुसार काव्य दो प्रकार का है जिसका 'प्रतिनिधित्व' 'गौडविजय' तथा 'सुग्रीवकेलनम्' के द्वारा किया गया है।[5] भोज ने जो शुद्ध तथा चित्र के भेद से दो प्रकार का काव्य कहा है, उनको भावप्रकाशन में

---

१. ना० शा० चौ० २०।११२-११४; सा० द० ६। २२७-२३०.

२. भा० प्र० पृ० २६२ पं० १-१७; सा० द० ६।३०८-३१२.

३. भा० प्र० पृ० २६२ पं० २-१७.

४. भा० प्र० पृ० २६२ पं० १९-२२, पृ० २६५ पं० १५; सा० द० ६।२८०-२८१.

५. भा० प्र० पृ० २६२ पं० २४-२५, पृ० २६३ पं० १-८; सा० द० ६।२८४-२८५.

'रासक' नामक नृत्यभेद के वर्णन के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया गया है।[१] इस प्रकार भोज व शारदातनय के मिलाकर काव्य के कुल चार विभिन्न प्रकार हैं।

प्रेक्षणक—विश्वनाथ इसे 'प्रेखण' कहते हैं। वह इसका उदाहरण 'वालिवधः' बताते हैं।[2] भोज ने भी केवल एक दृष्टान्त 'कामदहन' ही प्रस्तुत किया है।[3] जबकि शारदातनय तीन प्रकार का प्रेक्षणक कहते हुए उसके तीन उदाहरण भी बताते हैं—वालिवध, नृसिंहविजय, तथा त्रिपुरमर्दन।[4] शारदातनय ने प्रेक्षणक का वर्णन भिन्न सम्प्रदायों के दो पूर्ववर्ती नियमों का अनुसरण करते हुए किया है, जो कि भोज के श्रृंगारप्रकाश की अपेक्षा विस्तार से किया गया है। शृंगारप्रकाश[५] में उल्लिखित श्लोक के आधार पर शारदातनय ने सम्भवतः प्रेक्षणक के साथ-साथ 'नर्त्तनक' का भी प्रतिपादन किया होगा।[६] परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि प्रेक्षणक के उदाहरण उनके मौलिक हैं, जिनका उल्लेख भोज ने नहीं किया है तथा जिनमें से एक 'वालिवध' का प्रस्तुतीकरण भावप्रकाशन का अनुसरण करते हुए ही विश्वनाथ ने किया है। शारदातनय ने दूसरे प्रकार के प्रेक्षणक का जो वर्णन किया है, उसी का अनुसरण विश्वनाथ कृत प्रेखण-वर्णन में किया गया है।[७]

रासक तथा नाट्यरासक—इन दोनों की चर्चा भोज, शारदातनय तथा विश्वनाथ ने पृथक्-पृथक् रूप से की है। रासक तथा नाट्यरासक नृत्य के ऐसे भेद हैं, जिन्होंने नृत्य में भिन्न-भिन्न चलन या रीतियों की ओर संकेत किया है। नृत्य के इन दो भेदों के विषय में श्रृंगारप्रकाश में वर्णित समस्त श्लोकों को शारदातनय ने भावप्रकाशन में सम्मिलित किया है।[८] इन दोनों नृत्यभेदों के वर्णन में शारदातनय ने

---

१. भा० प्र० पृ० २६५ पं १३-२२.
२. सा० द० ६।२८६–२८७ (व्याख्या)
३. श्रृं० प्र० (MS) पृ० १४५.
४. भा० प्र० पृ० २६३ पं० १७, २१.
५. यस्य पदार्थाभिनयं ललितलयं सदसि नर्तकी कुरुते।
तन्नर्तकं शम्यालास्यंछलिक द्विपथादि॥
रथ्यासमाजचत्वरसुरालयादो प्रवर्त्यते बहुभिः।
पात्रविशेषर्यत्तत्प्रेक्षणकं कामदहनादि॥
—श्रृंगारप्रकाश (MS.) पृ० १४५.
६. पदार्थाभिनयं यस्य ललितंच लयान्वितम्।
कुरुते नर्तकी यत्रसोऽपि नर्तनक : पुन :॥
लास्यं द्विधा स्याच्छलिकं समरथ्यासमन्वितम्।
सुतालचतुरश्राभ्यां यत्र कर्त्तुं प्रवर्तते॥ – भा० प्र० पृ० २६३ पं० ९–१२.
७. भा० प्र० पृ० २६२ पं० १३–१६ ; सा० द० ६।२८६–२८७.
८. भा० प्र० पृ० २६३ पं० २३ पृ० २६४ पं० १–२२, पृ० २६५ पं० १–१३.

अभिनवगुप्त द्वारा अभिनवभारती में कथित श्लोकों की भी छवि का अवलोकन किया जा सकता है।[१] अभिनवगुप्त के द्वारा प्रतिपादित श्लोक-समुदाय केवल रासक की परिभाषा का ही वर्णन नहीं करता, अपितु नौ अन्य उपरूपकों की परिभाषा भी प्रस्तुत करता है। ये परिभाषायें भोज, शारदातनय तथा विश्वनाथ आदि द्वारा वर्णित उल्लेखों से कतिपय भिन्न हैं। रासक तथा नाट्यरासक के विषय में भोज तथा शारदातनय द्वारा स्थापित विचार-विमर्श इस प्रकार है—रासक का अर्थ है 'नृत्य का एक विशेष प्रकार', जो कि पिण्डी, शृंखला, मेद्यक तथा लता—इन चार प्रकारों की सोलह, बारह तथा आठ नायिकाओं से युक्त एक समूह से निर्मित होता है।[2] नाट्यरासक नृत्य का वह विशेष प्रकार है जहाँ राजा (नायक) का अभिनय भी उचित हावभाव अर्थात् अंगसंचालन के द्वारा नृत्य करती हुई स्त्री द्वारा ही अभिनीत किया जाता है।[3] भावप्रकाशन में इसके अनेक प्रकार वर्णित हैं।[4] 'रत्नावली' की 'चर्चरी' इसी नाट्यरासक के अन्तर्गत आती है।[५] अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत एक अज्ञात श्लोक के अनुसार 'रासक' उस नृत्य के समान है, जोकि गोपियों के साथ में कृष्ण ने किया है, जैसा कि भागवत में वर्णित है। परन्तु 'साहित्य-दर्पण' में रासक तथा नाट्यरासक दो संक्षिप्त रूपकों की भाँति प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें अंक संधि, अभिनेता रस, वृत्तियाँ, नायक एवं नायिकायें होती हैं। विश्वनाथ ने इनके उदाहरण के रूप में 'नर्मावती', 'विलासवती' तथा 'मेनकाहितम्' को रखा है, जो कि अब उपलब्ध नहीं हैं।[६] परन्तु विश्वनाथ कृत रासक तथा नाट्यरासक का यह वर्णन भोज व शारदातनय कृत वर्णन से भिन्न है। वैसे विश्वनाथ ने जो रासक का स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसका स्रोत उन्हें भावप्रकाशन से ही प्राप्त हुआ होगा, क्योंकि शारदातनय ने रासक का प्रकारान्तर से भी लक्षण प्रस्तुत किया है।[७]

---

१. अभि० भा० पृ० १८३.

२. भा० प्र० पृ० २६३ पं० २२–२३, पृ० २६४ पं० १–४.

३. कामिनीभिर्भुवो भर्तुः चेष्टितं यत्र नृत्यते ॥
रागाद्वसन्तमालोक्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ।
— भा० प्र० पृ० २६४ पं० ८–९.

४. भा० प्र० पृ० २६४–२६५.

५. चर्चरीमिति ताम्प्राहुर्वर्णतालेन तत्र तु ॥
— भा० प्र० पृ० २६४ पं० १०.

६. सा० द० ६।२७७–२७९, २८८–२९०.

७. भा० प्र० पृ० २६९ पं० १२–१९.

उल्लोप्यक—भोज ने इसे उपरूपकों के अन्तर्गत सम्मिलित ही नहीं किया है। भावप्रकाशन के अनुसार यह विशेष नाम –'उल्लोप्यक'–इसी नाम के एक गीत पर आधारित है जो कि इस नृत्यभेद के प्रयोग के समय गाया जाता है। 'देवीमहादेवम्' तथा 'उदात्तकुंजरम्' नामक नृत्यभेद के अन्तर्गत उल्लोप्यक नामक गीत को ही गाया जाता है।[1] विश्वनाथ ने इसे 'उल्लाप्य' कहा है। उनके द्वारा प्रस्तुत परिभाषा पर भावप्रकाशन में प्रतिपादित परिभाषा का पूर्ण प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है।[2]

हल्लीसकम्—इस विषय में भोज तथा अभिनवगुप्त के द्वारा प्रतिपादित परिभाषायें लगभग समान हैं।[3] किन्तु इन दोनों से शारदातनय तथा उनकी ही भाँति विश्वनाथ भी सहमत नहीं जान पड़ते। शारदातनय के अनुसार हल्लीसक में सात से दस तक नायिकायें, एक अंक, कैशिकी वृत्ति, मुख एवं विमर्श संधि तथा संगीत का कोई लय ताल से युक्त विशेष प्रकार होना चाहिए।[4] विश्वनाथ इसे 'हल्लीश' कहते हैं जिसके वर्णन पर शारदातनय-कृत वर्णन का स्पष्ट प्रभाव जान पड़ता है। उनके ही अनुसार विश्वनाथ ने भी इसके उदाहरण के रूप में 'केलिरेवतकम्' को प्रस्तुत किया है।[5]

दुर्मल्लिका–इसके विषय में शारदातनय ने तीन विभिन्न विचारों की चर्चा की है। प्रथम के अनुसार इसमें एक सुसंस्कृत नायिका, चार अंक, गर्भ को छोड़ कर अन्य चार संधियाँ, विट, विदूषक, पीठमर्द होने चाहिए तथा चार अंक पच्चीस नायिकाओं में ही समाप्त हो जाने चाहिए। विश्वनाथ ने भी भावप्रकाशन में वर्णित इसी 'प्रकार' का अनुसरण करते हुए दुर्मल्लिका का लक्षण प्रस्तुत किया है।[6]

१. यथा देवीमहादेवं यथा चोदात्तकुंजरम्।
यस्मिन्नुल्लोप्यकं नाम त्र्यंग गीतं प्रवर्तते॥
— भा० प्र० पृ० २६६, पं० २०–२१.

२. भा० प्र० पृ० २६६ पं० १६–१६ ; सा० द० ६।२८२–२८३.

३. (क) यन्मण्डलेन नृत्तं स्त्रीणां हल्लीसकं तु तत्प्राहुः।
तत्रैको नेता स्यादगोपस्त्रीणामिव मुरारिः॥
– शृं० प्र० (MS) पृ० १४५.

(ख) मण्डलेन तु यन्नृत्तं हल्लीसकमिति स्मृतम्।
एकस्तत्र तु नेता स्यात् गोपस्त्रीणां यथा हरिः॥
– अभि० भा० पृ० १८३.

४. भा० प्र० पृ० २६६ पं० २४, पृ० २६७ पं० १–४.

५. सा० द० ६।३०७.

६. भा० प्र० पृ० २६७ पं० ८–१४ ; सा० द० ६।३०३–३०५.

भावप्रकाशन में वर्णित दूसरे प्रकार के अनुसार दुर्मल्लिका में एक वेश्या होनी चाहिए, जो रंगमंच पर अपने प्रेमियों की कथा को असभ्य भाषा में बताये, तथा हर समय श्रोताओं से धनादि माँगती रहे और एक बार प्राप्त करके पुनः माँगने की इच्छा करे।[1] शृंगारप्रकाश तथा नाट्यदर्पण में भी दुर्मल्लिका के इसी प्रकार का उल्लेख है। तीसरे मत के अनुसार दुर्मल्लिका को 'मत्तल्लिका' के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए। इसके विषय में शारदातनय दो श्लोकों के द्वारा दो वर्णन प्रस्तुत करते हैं।[2] भोज ने इस मत्तल्लिका को 'मन्थुली' अथवा 'मन्थुल्लिका' की संज्ञा प्रदान की है।[3]

मल्लिका—भोज व विश्वनाथ ने मल्लिका को नृत्यभेदों अथवा उपरूपकों में सम्मिलित नहीं किया है। शारदातनय[4] ने उस 'मणिकुल्या' को भी मल्लिका बताया है, जिसे भोज[5] एक प्रकार का श्रव्यकाव्य कहते हैं। शारदातनय के अनुसार मल्लिका नामक नृत्यभेद में संयोगशृंगार, केशिकी वृत्ति, दो अंक, विदूषक, विट, रथ्या तथा वासक ताल, पूर्व में लक्ष्य कथावस्तु तथा बाद में अलक्ष्य कथावस्तु तथा गर्भ एवं अवमर्श संधियों से रहित अर्थात् तीन संधियाँ होनी चाहिए।[6]

कल्पवल्ली तथा पारिजातक—मल्लिका नामक नृत्यभेद की भाँति कल्पवल्ली तथा पारिजातक को भी शारदातनय ने ही सर्वप्रथम नृत्यभेदों के अन्तर्गत सम्मिलित किया है, तथा इन दोनों के उदाहरण स्वरूप 'माणिक्यवल्लिका' एवं 'गंगातरंगिका' नामक दो ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है।[7] 'कल्पवल्ली' में हास्य या शृंगार रस,

---

१. भा० प्र० पृ० २६७ पं० १५–१८.

२. भा० प्र० पृ० २६७ पं० २०–२३.

३. क्षुद्रकथा मन्थुली येह महाराष्ट्रभाषया भवति।
गोरोचनेन कार्या सानंगवतीव वा कविभिः॥
यस्यामुपहासः स्यात्पुरोहितमात्यतापसादीनाम्।
प्रारब्धानिर्वाहे सापि हि मन्थुल्लिका भवति॥
— शृं० प्र० (MS.) पृ० १४५.

४. मणिकुल्यायां जलभिव न लक्ष्यते यत्र पूर्वतो वस्तु।
पश्चात्प्रकाशते या सा मणिकुल्यापि मल्लिका ज्ञेया॥
— भा० प्र० पृ० २६८, पं० ४–५.

५. भा० प्र० पृ० २६७, पं० २५–२६ ; पृ० २६८ पं० १–३.

६. इदृशी कल्पवल्ली स्याद्यथा माणिक्यवल्लिका॥
पारिजातलता सेयं यथा गंगातरंगिका।
— भा० प्र० पृ० २६८, पं० १२, २४.

७. भा० प्र० पृ० २६८, पं० ७–११.

उदात्त नायक, पीठमर्द उपनायक, एक वासकसज्जा अथवा अभिसारिका नायिका द्वि पदखण्डयुक्तगीत, रथ्या वासक ताल, तीन प्रकार की लय, दश लास्यांग होने चाहिए ।[1] 'पारिजातक' में एक अंक, मुख व निर्वहण संधि, वर्ण, मात्रा, खण्ड ताल से युक्त गायन, वीर शृंगार रस से युक्त देवी या क्षत्रिया नायिका, अथवा कलहान्तरिता नायिका, अथवा भोगिनी, स्वीया या गणिका, उदात्त नायक, विदूषक एवं कई प्रकार के नृत्यों का समावेश होना चाहिए ।[2]

इस प्रकार शारदातनय से पूर्ववर्ती यथा—कोहल, मातृगुप्त, हर्ष, भोज, धनिक, नाट्यदर्पणकार तथा परवर्ती यथा विश्वनाथादि ने उपरूपकों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शारदातनय द्वारा प्रस्तुत उपरूपक अर्थात् नृत्यभेदों का वर्णन अपेक्षाकृत विस्तृत एवं ग्राह्य है । उनके वर्णन का प्रभाव परवर्ती साहित्य पर अस्पष्ट नहीं है । इन नृत्यभेदों में से अधिकांश को अब भी उपयोगी रूप में रखा जा सकता है, यद्यपि वे अभी तक प्रचलित नहीं हैं। कृष्ण तथा अन्य नायकों के कार्यों के वर्णन से युक्त कई प्रकार के नृत्य प्रयोग, जो नर्तकों के द्वारा संगीतज्ञों की सहायता से रंगशाला, विवाहोत्सव एवं राजाओं के दरबारों में नाट्यशास्त्र के प्राचीन नियमों के अनुसार सम्पन्न किये जाते थे, आज भी प्रयुक्त करने पर सर्वप्रिय एवं प्रसिद्ध हो सकते हैं।

नाट्य प्रयोग के प्रकार

नाट्य प्रयोग के अंग, प्रकार एवं सिद्धान्तों का विवेचन करने से पूर्व नाट्य प्रयोग के प्रारम्भ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक संक्षिप्तालोकन समीचीन प्रतीत होता है । इसीलिए शारदातनय ने नाट्य-प्रयोग का प्रारम्भ तथा क्रम का उल्लेख किया है ।[3] प्राचीन काल में मनु पृथिवी पालन के भार की चिन्ताओं से क्लान्त होकर सुख-प्राप्ति के लिए पिता सूर्य के पास गये। सूर्य ने उन्हें भूमिभार क्लेश को दूर करने के लिये उपाय बताया । उन्होंने कहा कि समस्त स्थावरजंगम की सृष्टि करके उनके पालन की चिन्ता से आकुल एवं श्रान्त होकर ब्रह्मा विश्रान्ति के लिये विष्णु के पास गये । विष्णु ने सब प्रकार से विचार करके ब्रह्मा से शिवजी के पास जाने के लिये कहा । इस प्रकार आज्ञा पाकर ब्रह्मा शिवजी के समीप गये

१. भा० प्र० पृ० २६८, पं० १५–२३.

२. मणिकुल्यायां जलमिव न लक्ष्यते यत्र पूर्वतो वस्तु ।
पश्चात्प्रकाशते सा मणिकुल्या मत्स्यहसितादि ।।
— शृं० प्र० (MS.) पृ० १४७.

३. तेषां प्रबन्धभेदानां प्रयोगक्रम उच्यते ।।
— भा० प्र० पृ० २८४, पं० ४.

तथा अपनी खिन्नता के विषय मे उनसे निवेदन किया। उस समय भगवान शिव ने स्वरचित नाट्यवेद की शिक्षा नन्दिकेश्वर को प्रदान की नन्दिकेश्वर ने उस नाट्य-वेद की शिक्षा ब्रह्मा को दी। इस प्रकार उस नाट्यवेद के प्रयोग की शिक्षा से सुख एवं विश्रान्ति प्राप्त करके अपने स्थान को आकर ब्रह्मा ने नाट्यवेद के प्रयोक्ता छः मुनियों की सृष्टि की। उसमें भारती वृत्ति का प्रयोग करने के कारण उन नाट्य प्रयोक्ताओं को भरत कहा गया।[1] यह कथा सुनकर मनु ने नाट्य प्रयोग से अपने भूभारश्रान्त को दूर करने के लिए ब्रह्मा से भरतों को देने की प्रार्थना की। ब्रह्मा ने समस्त भरतों (नाट्य प्रयोक्ताओं) को बुलाकर कहा कि—"आप मनु के साथ जाकर पृथिवी पर नाट्यवेद का प्रयोग कीजिए।" भरत मनु के साथ पृथिवी लोक (अयोध्या) आ गए। वहाँ रस, भाव, अभिनय, संगीत आदि विशेषताओं से युक्त नाट्यवेद के प्रयोग से मनु के भूभारवहनजन्य क्लान्ति को दूर किया।[2] इसी सन्दर्भ में शारदातनय देशी नाट्य-प्रयोग की उत्पत्ति का भी प्रतिपादन करते हैं। भरत और उनके शिष्यों ने देश-देश में नरेन्द्रों का मनो-विनोद करने के लिए नाट्य-प्रयोग के साथ देश की रीतियों से परिष्कृत संगीत का जो प्रयोग किया, वहीं से देशी-प्रयोग की उत्पत्ति हुई। तब भरत ने नाट्यवेद के सार को उद्धृत किया।[3]

ऐसे नाट्यवेद के प्रयोग को विधिवत् सम्पन्न करना चाहिए क्योंकि इसका अप्रयोग अमंगलकारी ही होता है।[4] नाट्य प्रयोग में समस्त ज्ञान, शिल्प, कला, विधान, लौकिक तथा शास्त्रीय परम्पराओं का समन्वित रूप रहता है।[5] इन सब तत्वों के सम्मिलित रूप के द्वारा ही नाट्य प्रयोग पूर्णरूप से सफल होता है। इस नाट्य प्रयोग को सम्पन्न करने के लिए सर्वप्रथम नाट्य प्रयोक्ताओं की आव-

१. भा० प्र० पृ० २८४ पं० ५-१५, पृ० २८५ पं० ३-१८, पृ० २८६ पं० १-४।
२. भा० प्र० पृ० २८६ पं० ११-२२, पृ० २८७ पं० १-२।
३. भा० प्र० पृ० २८७ पं० ३-८।
४. न तथाऽग्नि : प्रदहति प्रभंजन समीरित :।
यथा ह्यप्रयोगस्तु प्रयुक्तो दहति क्षणात् ॥ —ना० शा०चौ० ५/१७४.
५. तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न साविधान साकला।
न सयोगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥
सर्वशास्त्रणि शिल्पानिकर्माणि विविधानि च।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम् ॥
— ना०शा०चौ० १/११३-११५

श्यकता होती है, अतः इस संगीतयुक्त नाट्यशास्त्र की प्रयोग-सिद्धि के लिए शारदातनय ने विभिन्न प्रयोक्ताओं के लक्षण, स्वरूप एवं कर्म के विषय में विस्तार पूर्वक सुविचार किया है। इन प्रयोक्ताओं में सूत्रधार, नान्दीपाठक, नट, नटी, पारिपार्श्विक, कुशीलव, विदूषक, शैलूष भरत इत्यादि का निर्वचन शारदातनय ने व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित किया है।[1]

'सूत्रधार' शब्द का निर्वचन अति स्पष्ट किया गया है। जो काव्य की वस्तु, नेता, कथा एवं रसों का सूत्रपात करता है तथा नान्दी के अन्त में प्रयुक्त होता है, वह सूत्रधार कहलाता है।[2] समस्त नाट्य-प्रयोग का सूत्र वही धारण करता है, उसी के संकेत पर नाट्य-प्रयोग के पात्र इत्यादि गतिशील रहते हैं। नाट्यशास्त्र में भी सूत्रधार के अनेक गुणों की गणना की गई है।[3] शारदातनय के परवर्ती शिंगभूपाल ने जो सूत्रधार का लक्षण किया है, वह अपेक्षाकृत अल्प है।[4] साथ ही उस पर शारदातनय के इस लक्षण का स्पष्ट प्रभाव है कि सूत्रधार रंग के प्रसाधन में प्रौढ़ अर्थात् कुशल होता है।[5]

सूत्रधार के प्रवेश से पूर्व 'नान्दी-पाठ' किया जाता है जो कि नाट्य-प्रयोग की विघ्न-रहित परिसमाप्ति के लिए मांगलिक वचनों से युक्त होता है। अतः अन्य नट आदि शब्दों के निर्वचन से पूर्व 'नान्दी' का स्वरूप वर्णन करना श्रेयस्कर है। शारदातनय ने नान्दी तथा नान्दी-पाठक का स्वरूप स्पष्टतः प्रतिपादित किया है।[6] जहाँ भरत ने केवल नान्दी का ही स्वरूप वर्णित किया है।[7] वहाँ शारदातनय ने नान्दी के स्वरूप के साथ-साथ नान्दी पाठक का भी कार्य एवं लक्षण प्रतिपादित किया है।[8]

---

१. भा० प्र० पृ० २८७ पं० १६-२२।
२. भा० प्र० पृ० २८८ पं० ७-८।
३. ना० शा० चौ० ३५/४५-५२।
४. नान्यन्ते तु प्रविष्टेन सूत्रधारेण धीमता।
प्रसाधनाय रंगस्य वृत्तिर्योज्या हि भारती ॥ —र० सु० ३/१३६
५. रंगप्रसाधन प्रौढः सूत्रधार इहोच्यते। —भा० प्र० पृ० २८८ पं० १०।
६. भा० प्र० पृ० २६४ पं० १३-१६।
७. ना० शा० चौ० ५/२४-२५।
८. देवतादिनमस्कार मंगलारम्भपाठकैः ॥
या क्रिया नन्यन्ते नाट्यारम्भे नान्दीति सा स्मृता।
— भा० प्र० पृ० १६६ पं० २२, पृ० १६७ पं० १।

अग्निपुराण के अनुसार नान्दी के पश्चात् सूत्रधार का प्रवेश होता है। वहाँ दशपदी नान्दी का निर्देश किया गया है।[1] सागरनन्दी का नान्दी-वर्णन भरत के अनुसार है, क्योंकि दोनों के मतानुसार नान्दी का पाठ सूत्रधार ही करता है।[2] नाट्यदर्पणकार ने नान्दी को अत्यावश्यक मानते हुए कहा है कि चतुरस्र मण्डप में उत्तम, मध्यम एवं अधम के भेद से नान्दी क्रमशः सोलह, आठ एवं चार पद की होनी चाहिए तथा त्र्यस्र मण्डप में उत्तम, मध्यम एवं अधम नान्दी क्रमशः बारह छः एवं तीन पदों की होनी चाहिए।[3] विश्वनाथ एवं शिंगभूपाल ने शारदतनय की ही भाँति अष्टपदा एवं द्वादशपदा नान्दी का निर्देश किया है। शिंगभूपाल ने अग्निपुराण में वर्णित दशपदी नान्दी का भी उल्लेख किया है।[4] विद्यानाथ ने बाईस पदों वाली नान्दी को प्रतिपादित किया है।[5]

शारदातनय-कृत नन्दी-वर्णन में एक मौलिक पौराणिकतत्त्व का उल्लेख है। उन्होंने नान्दी की उद्भावना सर्वप्रथम जगत्पति शिवजी के नृत्य-काल में उपस्थित वृष नन्दी की पूजा से मानी है।[6] उन्होंने नान्दी की एक अति सरल व्युत्पत्ति का भी निर्वचन किया है कि सभ्यों को जो आनन्दित करे, वही नान्दी है।[7] नान्दी को विघ्नों की परिसमाप्ति के लिए करना अत्यावश्यक है। नान्दी का चन्द्र-सम्बन्ध-हेतु कथन शारदातनय का मौलिक निरूपण है। नान्दी के उत्थापन आदि चार अंग होते हैं। नान्दी कहीं वाक्यों द्वारा विवक्षित होती है, कहीं वह समपादा (समानपद वाली) होती है।[8]

'नट' उसे कहते हैं जो रसभाव से समन्वित अतीत के लोक वृत्तान्त को स्वभाववत् अभिनीत करता है। शरदातनय ने नट की कर्तव्यता का भी निरूपण किया है कि गीत, वाद्य, नृत्त, अभिनयादि के द्वारा रंग में राम आदि से तादात्म्य करके नट प्रेक्षकों को रसास्वादन कराता है।[9] नट का कर्म-क्षेत्र रंगमंच होता

---

१. अ० पु० ३३८/९-१०।

२. ना० शा० चौ० ५/१०६; ना० ल० को० पृ० ४६-४८।

३. ना० द० ४/1, सूत्र २३०।

४. भा० प्र० पृ० १९७ पं० १३; सा० द० ६/२४-२५; र० सु० ३/१३८।

५. प्र० रु० यशो पृ० १३१-१३२।

६. भा० प्र० पृ० १९६ पं० १९-२१।

७. सभ्यानन्दयतीत्येवं सापि नान्दीति कीर्त्यते। —भा० प्र० पृ १९७ पं० ३।

८. भा० प्र० पृ० १९७ पं० ५-१५।

९. भा० प्र० पृ० १९४ पं० ११-१४, पृ० २८८ पं० ५-६।

है। अतः इसी सन्दर्भ में 'रंग' का स्वरूप प्रतिपादन करना समीचीन है। जहाँ नट-नटी परस्पर अनुरंजन करने से मुदित होते हैं, वह 'रंग' है। और रंग की प्रकल्पना पूर्व में (पहले) की आती है, अतः वह 'पूर्वरंग' कहलाता है। अन्य शब्दों में जहाँ कला पात, पादभाग परिवर्त इत्यादि पूर्व में किये जाते हैं, उसे पूर्वरंग कहते हैं।[1] पूर्वरंग की क्रियाओं के द्वारा नाट्य-प्रयोक्ता (नट-नटी आदि) परस्पर मनोरंजन करते हैं एवं सुविधा प्राप्त करते हैं। क्योंकि सामाजिकों के लिए उसका प्रयोग नाम मात्र के लिए होता है तथा नट-नटी आदि की बहुत-सी क्रियाओं का प्रयोग अन्तर्यवनिका में होता है। शारदातनय ने पूर्वरंग के प्रत्याहार, परिघट्टना, संघट्टना इत्यादि बाईस अंगों का भी उल्लेख किया है। इन अंगों में से एक अंग नान्दी भी है। शारदातनय 'नाद्यन्ते' का शब्दार्थ कथन करते हुए उसमें षष्ठी-तत्पुरुष की ओर इंगित करते हैं।[2]

विभिन्न नाट्यप्रयोक्ताओं के स्वरूप-निर्वचन के संदर्भ में शारदातनय 'शैलूष' शब्द का स्वरूप कहते हैं।[3] तत्पश्चात् वे 'भरत' शब्द का निर्वचन करते हैं कि जो भाषा-वर्ण-उपकरणों के द्वारा नाना प्रकृति से युक्त वेष, अवस्था, कर्म, चेष्टा आदि को धारण करता है, वह 'भरत' कहलाता है।[4] भरत के द्वारा अभिनीत नाना रसाश्रय युक्त भाव को जो पार्श्व में ही स्थित रहकर परिष्कृत करता है, उसे 'पारिपार्श्विक' कहा जाता है।[5] यहीं पर शारदातनय नाट्य-प्रयोक्ताओं के उन

---

१. भा० प्र० १९४ पं १५-१९।

२. भा० प्र० पृ० १९५ पं० १४-१६, २०-२२, पृ० १९५ पं० १-६, पृ० २०० पं० ८, १०।

३. नानाशीलस्य लोकस्य भावान् भासयतीह यः।
भूमिकास्ताः प्रविश्यातः शैलूष इति कथ्यते॥
—भा० प्र० पृ० २८८ पं० १-२।

४. भाषावर्णोपकरणैर्नानाप्रकृतिसम्भवम्।
वेषं वयः कर्मचेष्टां बिभ्रद्भरत उच्यते॥
—भा० प्र० पृ० २८८, पं० ३-४।

५. भरतेनाभिनीतं यद्भावं नानारसाश्रयम्।
परिष्करोति पार्श्वस्थः स भवेत्पारिपार्श्विकः॥
—भा० प्र० पृ० २८८ पं० ११-१२।

गुणों का भी कथन करते हैं, जो नाट्य में आवश्यक हैं।[1] तदनन्तर शारदातनय कुशीलव का लक्षण निरूपण करते हैं कि अनेक भूमिकाओं के द्वारा, वागंगकर्म चेष्टाओं के द्वारा प्रकृति के सन्धान में कुशल होते हैं, वे कुशीलव कहलाते हैं।[2] नटी का स्वरूप बताते हुए शारदातनय लिखते हैं कि चतुरातोद्यभेदों की ज्ञाता, कलाओं में कुशल, करणाभिनय की ज्ञाता, समस्त प्रकार की भाषाओं के ज्ञान में विचक्षण नट की गृहिणी नटी कहलाती है।[3] विदूषक का स्वरूप-वर्णन करने के साथ ही साथ उसके सहायक विट का भी स्वरूप निरूपण किया है।[4] ये विदूषक, विट, चेट आदि नाट्यप्रयोक्ता राजा (नायक) के लिए सुखकारी होते हैं।[5] ऐसे राजा (नायक) के राजपरिवार में अनेक पात्र होते हैं जैसे—अन्तःपुरिका, परिचारिका, अनुचारिका, संचारिका, अन्तःपुरचर, महिषी, महादेवी, देवी, भोगिनी, आश्रिता, नाटकीया, कामुका, शिल्पकारिका, प्रेक्षणिका, महचरी, प्रतीहारी, कुमारी, वृद्धा, आयुक्तिका, कंचुकीय, वर्षवर, किरात, औपस्थापिक, निर्मुण्ड, अभ्यागार, मूक, सभासद, वैतालिक, बन्दिजन आदि।[6] इनकी योजना वस्तु के अनुरूप आवश्यकतानुसार करनी चाहिए।

नाट्यप्रयोग की सिद्धि के लिए अनुकूल नाट्य-मण्डपों का विधान अत्यन्त अपेक्षित है। भावप्रकाशन में जो चतुरस्र एवं त्र्यस्र नाट्यमण्डपों के नामों का उल्लेख है, उस पर तो भरत का प्रभाव माना जा सकता है, परन्तु 'वृत' नामक जो नाट्यमण्डप है, उसकी परिकल्पना सर्वथा मौलिक है।[7] यह भी ध्यातव्य है कि इन रंगमण्डपों की वर्णन-शैली शारदातनय की अपनी अनूठी विशेषता है। भरत ने चतुरस्र एवं त्र्यस्र नामक नाट्यमण्डपों के अतिरिक्त तृतीय प्रकार का

---

१. भा० प्र० पृ० २८८ पं० १३-१८।

२. भूमिकाभिरनेकाभिः कर्मवागंगचेष्टितैः।
यथाप्रकृतिसन्धानकुशलास्ते कुशीलवाः॥

—भा० प्र० पृ० २८८ पं० १९-२०।

३. भा० प्र० पृ० २८८ पं० २१-२२, पृ० २८९ पं० १।

४. भा० प्र० पृ० २८९ पं० २-११।

५. एते नाट्यप्रयोक्तारो राज्ञां स्युः सुखभोगिनाम्॥

—भा० प्र० पृ० २८९ पं १२।

६. भा० प्र० पृ० २८९ पं० १३ से पृ० २९४ पं० १२ तक।

७. चतुरश्रत्र्यश्रवृतभेदात्सोऽपि त्रिधा भवेत्। —भा० प्र० पृ० २९५ पं० ९।

नाट्यमण्डप 'विकृष्ट' भी कहा है।[1] भरत ने चतुरस्र व त्र्यस्र नाट्यमण्डप का वर्णन करते हुए उनके आकार इत्यादि का उल्लेख किया है।[2] किन्तु शारदातनय ने इन नाट्यमण्डपों का वर्णन नवीन ढंग से प्रतिपादित किया है। उन्होंने जिस चतुरस्र मण्डप की चर्चा की है, उसमें राजा के साथ वारकन्या, अमात्य, वणिक, सेनापति सुहृदादि संगीत की योजना करते हैं[3] तथा त्र्यस्र मण्डप में राजमहिषी, ऋत्विक्, पुरोहित आचार्य, अन्तपुर के जन इत्यादि उपस्थित रहकर मार्गप्रक्रिया के साथ संगीत की संयोजना करते हैं।[4] चतुरस्र में मार्ग व देशी—[5]इन दोनों की मिश्रित संगीत-योजना की जाती है। 'वृत्त' नामक नवीन नाट्यमण्डप में राजा परिजनों तथा सभासदों के सहित संगीत की योजना करते हैं।[6] इस वृत्त नामक नाट्य-मण्डप में (मार्गदेशी) मिश्र संगीत एवं चित्र नृत्य की योजना की जाती है।[7]

वेदपुराणकाल से लेकर भावप्रकाशन तक तथा उसके परिवर्ती ग्रन्थों पर दृष्टिपात करने से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि शारदातनय की नाट्यमण्डप की चित्रण-शैली नितान्त नवीन है, जो कि संगीतक्रिया की योजना की अनुपेक्षणीय अपेक्षा रखती है। यजुर्वेद में ऐसे नाट्यमण्डप की चर्चा है, जिसमें शैलूष, विदूषक, चित्रकारिणी आदि पात्रों एवं विविध सामग्रियों यथा वीणा, मजीरा आदि वाद्यों

---

१. विकृष्टश्चतुरस्रश्च त्र्यश्रश्चैव हि मण्डपः। —ना० शा० चौ० २।८।

२. ना० शा० चौ० २।९९-१०५।

३. वारकन्याऽमात्यवणिक्सेनापतिसुहृत्सुतैः।
यत्र संगीतकं राज्ञां चतुरश्रः स कथ्यते॥
—भा० प्र० पृ० २९५ पं० १२-१३।

४. ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैः सहान्तः पुरिकाजनैः॥
महिष्या सह यत्र स्यात्त्र्यश्रोऽसौ रंगमण्डपः।
मार्गप्रक्रियया कार्यं संगीतं त्र्यश्रमण्डपे॥
—भा० प्र० पृ० २९५, पं० १४-१६।

५. चतुरश्रे मार्गदेशमिश्रे संगीतकं भवेत्। —भा० प्र० पृ० २९५, पं० १७।

६. परमण्डपिकैः सद्भिः पौरजानपदैः सह॥
राज्ञः संगीतकं यत्र वृत्ताख्यो रंगमण्डपः॥
—भा० प्र० पृ० २९५ पं० १०-११।

७. मिश्रे तु चित्रं संयोज्यं वृत्ताख्ये रंगमण्टपे। —भा० प्र० पृ० २९५ पं० १८।

का एकत्रित प्रयोग हो सके।[1] हरिवंश पुराण में पारितोषिक-वितरणादि का कार्यक्रम भी नाट्यमण्डपों में किया जाता था। मत्स्य पुराण में वस्तु शिल्प, प्रासाद निर्माण आदि की चर्चा है।[2] विष्णुधर्मोत्तर पुराण में दो प्रकार के नाट्यमण्डपों का मात्र उल्लेख है।[3] अग्निपुराण में गृह, प्रासाद, वास्तुकला के विधान के साथ-साथ नटों-नर्तकियों के लिए दक्षिण दिशा में नाट्यमण्डप के निर्माण का विधान प्रस्तुत किया गया है।[4] पातंजल महाभाष्य में नाट्यमण्डप में नटस्त्रियों के द्वारा परिहास आदि का वर्णन किया गया है।[5] वाल्मीकि रामायण में रंगशालाओं, नाटकों आदि की स्पष्ट चर्चा है।[6] कामशास्त्र में भी नाट्यगृहों का उल्लेख है, जिनमें कुशीलवों के द्वारा उत्सव इत्यादि प्रस्तुत किये जाते थे।[7] अर्थशास्त्र की रचना के समय तक नाट्यमण्डप इतने अधिक विकसित हो चुके थे कि उनमें नटों का वेतन आदि भी सम्भवतः दिया जाता होगा।[8] राजशेखर के काल तक आते-आते भरत के समय में ही नाट्यमण्डपों का विकास पूर्णरूपेण हो चुका था। काव्यमीमांसा में सोलह स्तम्भ चार द्वार एवं आठ मत्तवारणियों वाले विशाल नाट्यमण्डप का उल्लेख है।[9] 'शिल्परत्न'[10] नामक ग्रन्थ में नाट्यमण्डपों की रचना राजप्रासादों के सम्मुख बताई गई है, जैसी कि भावप्रकाशन में भी राजभवनों से सम्बन्धित नाट्यमण्डपों का वर्णन है। स्पष्ट है कि राजप्रासादों से सम्बद्ध नाट्य-

---

१. यजु० ३०।६, १०, १४, २०, २१।

२. मत्स्यपुराण, अध्याय २५२–५७।

३. विष्णुधर्मोत्तरपुराण २०।४–७।

४. अ० पु० अध्याय १०२–१०६।

५. तयानटानां स्त्रियो रंगगता यो यः पृच्छति कस्यू यम् इति तं तव तवेत्याहुः।

—पा० महा० ७।

६. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड ५।१२, अयोध्या काण्ड ६।१४।

७. का० सू० १।४।२८-३१।

८. अर्थशास्त्र—द्वितीय अधिकरण, अध्याय १, २।२७।

९. सा षोडशभिः स्तम्भैः चतुर्भिः द्वाररष्टाभिः मत्तवारिणीभिरूपेता स्यात्।

—का० मी०, पृ० १३२।

१०. मनुष्यराजवान्यादौ युक्त्य लक्षणसंयुतम्।
सर्वं समाचरेत् नाट्यमण्डपेषु यथोचितम्॥

—शिल्परत्न पृ० १९९–२०१ (त्रिवेन्द्रम सं० सी०)

मण्डप भव्य ही रहे होंगे। संगीत-रत्नाकर[1] में नृत्यशालाओं में राजा मंत्री, सेना-मंत्री, सेनापति, अन्तःपुर की नारियों, नागर, विलासिनी तथा अंगरक्षक आदि के लिए जो स्थान निर्धारित किया गया है, उस पर भावप्रकाशन में प्रस्तुत वर्णन का स्पष्ट प्रभाव जान पड़ता है।

नाट्य नृत्त-योजना के बिना पूर्ण नहीं माना जा सकता अतः उसमें नृत्त-विधान भी होना आवश्यक है। नाट्य नृत्त के बिना शोभित नहीं हो सकता। अतः नृत्त की परम्परा भी नाट्य-जितनी ही प्राचीन मानी जा सकती है। प्रायः समस्त लोक को नृत्त स्वभावतः अभीष्ट होता है।[2] नाट्यशास्त्र में नृत्त के दो भेद ताण्डव व लास्य कहे गये हैं।[3] इसी के आधार पर शारदातनय ने भी ताण्डव और लास्य-इन दो भेदों को उद्धत तथा मधुर कहा है।[4] लास्य में ललित अंगहार, ललित लय, कैशिकी वृत्ति तथा गीति का प्रयोग होता है। ताल, गीत, वाद्य, नृत्त तथा अभिनय के क्रम में जो सुकुमार प्रयोग होता है, वह लास्य कहलाता है। उद्धत करणों, उद्धत अंगहारों, आरभटी वृत्ति से युक्त गीतकाल में प्रयुक्त नृत्त ताण्डव कहलाता है।[5] यह दोनों ताण्डव व लास्य नाटक के पूर्वरंग के आदि में किये जाते हैं। इन दोनों को ही नट के द्वारा सम्पन्न किये जाने के कारण 'नाट्य' कहा जा सकता है। लास्य नृत्त में हास्य व शृंगार का संयोजन होता है, शृंगार के साथ-साथ कभी अद्भुत का भी नियोजन किया जाता है।[6] नाट्यशास्त्र की भाँति शारदातनय को गेयपदादि दश लास्यांग स्वीकार है।[7] इसके अतिरिक्त शारदातनय ने लास्य को शृंखला, लता, पिण्डी, मेद्यक—चार प्रकार का वर्णित किया

---

१. संगीत-रत्नाकर, पृ० १३५-६१ (आनन्द शर्मा सीरीज)

२. किन्तु शोभां जनयतीत्यतो नृत्तमिदं स्मृतम्।
प्रायेण सर्वलोकस्य नृत्तमिष्ट स्वभावतः ॥ —ना०शा० चौ० ४/२६१.

३. सुकुमार प्रयोगस्तु शृंगारसम्भवः।
तस्य ताण्ड्यप्रयुक्तस्य ताण्डवस्य विधिक्रियाम् ॥ —ना० शा० चौ० ४/२६६

४. पुनरेतद्द्वयं द्वेधा मधुरोद्धतभदतः।
मधुरं लास्यमाख्यातमुद्धतं ताण्डवं विदुः ॥
—भा० प्र० पृ० २९६ पं० १३–१४

५. भा० प्र० पृ० २९६ पं० २०–२२, पृ० २९७ पं० १, ४–५।

६. भा० प्र० पृ० २९७ पं० २–३, पृ० २९९ पं० ११–१२।

७. ना० शा० चौ० २०/१३६–१५३; भा० प्र० पृ० २९७ पं० ११।

है। भाव के भेद से भी लास्य के अनेक भेदों का उल्लेख किया है यथा रुच्या, गुण्डली आदि। यह गुण्डली नृत्त भी तीन प्रकार का होता है— शुद्ध, चित्र एवं मिश्र। यह गुण्डली नृत्त देशी ताल, वाद्य, देशी गीत, चौंसठ अंगों से युक्त गति तथा लय से युक्त होता है।[1] ताण्डव भी चण्ड, प्रचण्ड व उच्चण्ड के भेद से तीन प्रकार का होता है। उन सब में सदैव आरभटी वृत्ति की परिकल्पना की जाती है। चण्ड नामक ताण्डव में विलम्बित लय एवं अतीत ग्रह के सहित आरभटी वृत्ति का प्रयोग किया जाता है। प्रचण्ड ताण्डव में मध्यलय, आरभटी वृत्ति, समग्रह का प्रयोग होता है। उच्चण्ड ताण्डव द्रुतलय, अनागतग्रह तथा आरभटी वृत्ति से युक्त होता है। तीनों प्रकार के ताण्डव गीत-वाद्य से युक्त होते हैं। इन तीनों ताण्डवों में करण, अंगहार, गीत, वाद्य, लयादि उद्धत रूप से प्रयुक्त की जाती है। चण्ड नामक ताण्डव में वीर तथा रौद्र रस मिश्रित रूप में प्रयुक्त होते हैं। प्रचण्ड में रौद्र तथा वीभत्स का मिश्रण रहता है तथा उच्चण्ड में रौद्र वीभत्स एवं भयानक की संयोजना होती है। चण्ड ताण्डव में नृत्त के अंगों के साथ करण एवं अंगहार होते हैं। प्रचण्ड में प्लुत, लंगित तथा भूयिष्ठ नामक करण, भ्रमरी, भौमचारी तथा द्रुत गति होती है। उच्चण्ड में आकाशचारी, भ्रमरी, करण व अंगहारों के साथ द्रुत लय होती है। पिण्डीबन्धों से युक्तताण्डव के अन्य अनेक भेद होते हैं जिनके प्रयोग में परिक्रमा आदि के द्वारा जर्जर की पूजा का विधान होता है।[2]

भरतार्णव में ताण्डव तथा लास्य से उस नृत्य की अभिव्यंजना मानी गई है, जो कि स्त्री तथा पुरुषों के द्वारा मिले-जुले रूप से किया जाता है। उन सबके समन्वित रूप को 'सप्तलास्य' कहा जाता है। इनमें से प्रथम दो शुद्ध व देशीताण्डव के रूप हैं तथा शेष पाँच पेरुणी, पेङ्खणी, कुण्डली, दण्डिक तथा कलश नामक भदों को लास्य कहा गया है। देशी ताण्डव के पाँच प्रकार हैं। शुद्ध ताण्डव सात प्रकार के हैं। सप्तलास्यों में से शुद्ध व देशी ताण्डव के अतिरिक्त जो पेरुणी आदि पाँच लास्य कहे गए हैं, उनको क्रमशः ब्रह्मा, सरस्वती, विष्णु तथा लक्ष्मी से निस्सृत माना गया है।[3]

देशी ताण्डव का वर्णन शारदातनय ने भी प्रस्तुत किया है जिसमें देशी

---

१. भा० प्र० पृ० २९७ पं० ६–१०, १५–२०।
२. भा० प्र० पृ० २९८ पं० १४–२२, पृ० २९९ पं० १–१०, पृ० २९७ पं० १२–१४।
३. भरतार्णव १३/७०९–१०, ७२१–२२, ७६०–६१।

ताल, देशी भाषा, वीर, अद्भुत, शृंगार, हास्य रस की योजना की जाती है, किन्तु इस नृत्य को कभी-कभी ही प्रयोग किया जाता है, सर्वत्र रूपकों में इसकी योजना नहीं की जानी चाहिए। देशी लास्य का भी वर्णन शारदातनय ने किया है।[1]

नाट्य. नृत्व अथवा नृत्त बृन्दहीन तो कदापि शोभायमान नहीं होते हैं, अतः नाट्य प्रयोग में नृत्यादि की योजना के समय बृन्द (Orchestra) का विधान आवश्यक रूप से प्रकल्पित किया जाना चाहिए। बृन्द में नट, नर्तक, गायक, वादक मिलकर प्रयोग करते हैं।[2] आभ्यन्तर तथा बाह्य के भेद से बृन्द दो प्रकार का होता है। ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठादि के भेद से बृन्द पुनः तीन प्रकार का होता है। लास्य एवं ताण्डवादि के प्रयोग में बृन्द की अत्यधिक उपादेयता होती है, जो कि पाँच प्रकार का भी होता है। जिनके नाम हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यमोत्तम, मध्यम, कनिष्ठ। बृन्द प्रयोक्ताओं के गुणों का भी विस्तृत वर्णन शारदातनय ने किया है जिनका ध्यान नाट्यनृत्य-प्रयोग के अवसर पर रखना आवश्यक है।[3]

शारदातनय ने जो देशी और मार्ग नृत्तों का संयोजन निर्देशित किया है, उसमें से 'मार्ग' में ध्रुवा का प्रयोग होता है। ध्रुवा पाँच प्रकार की होती है—प्रावेशिकी, आक्षेपिकी, प्रासादिकी, आन्तरा तथा नैष्क्रामिकी। ध्रुवा में अलंकार, लय, वर्ण, गीति, यति पाणि का प्रयोग होता है। ध्रुवा के पाँच विकल्पहेतु भी शारदातनय ने उल्लिखित किये हैं—जाति, स्थान, प्रमाण, प्रकार तथा नाम-कल्पना। विशेष ध्यातव्य है कि गीत, रोदन, सम्भ्रान्ति, प्रेषण, उत्पात, विस्मय के समय ध्रुवा का प्रयोग नाट्य प्रयोक्ताओं के द्वारा नहीं किया जाना चाहिए। ध्रुवा के अंगों—गीत, कला, वाद्य, आतोद्याद, छन्द आदि का प्रयोग जैसा निर्दिष्ट है, वैसा ही करना चाहिए यथा—पूर्व रंग के अन्त में वाद्य तथा उसके पश्चात् नृत्त प्रयुक्त होना चाहिए, उसके साथ गीत वाद्य का प्रयोग होना चाहिए।[4] भरत ने भी ध्रुवा गान को अत्यन्तोपयोगी बताया है।[5] शारदातनय ने जो प्रावेशिकी आदि पाँच भेद ध्रुवा के वर्णित किये हैं, वे भरतानुसार हैं।[6] शारदातनय ने ध्रुवागान

---

१. भा० प्र० पृ० २९९ पं० १३-१८; पृ० ३०१ पं० १८–२२।
२. भा० प्र० पृ० २९८ पं० १–४।
३. भा० प्र० पृ० २९८ पं० ५-७, पृ० २९९ पं० १९–२२, पृ० ३००–३०१।
४. भा० प्र० पृ० ३०२ पं० ५–७, १८–२१, पृ० ३०३ पं० ७–१६।
५. एवं ध्रुवातालविधिः कर्तव्यो गानयोगतः॥ —ना० शा० चौ० ३१/५४४।
६. ना० शा० चौ० ३२/२३–२४।

में भाषानियम का निर्देश किया है ।[1] जबकि नाट्यशास्त्र में यह परिलक्षित नहीं होता ।

शारदातनय ने नाट्य प्रयोग विधि के सन्दर्भ में ही नायकनायिकादि पात्रों के उपमेय गुणों का विस्तृत निर्देश किया है । नाट्य में नाट्य प्रयोक्ताओं के द्वारा इन औपम्य विशेषों का रसभाव के अनुरूप प्रयोग करना चाहिए ।[2] इसी प्रसंग में रस-भाव की तादात्म्यता का कथन करते हैं । नाट्य-प्रयोग में रस एवं भाव तो सर्वप्रमुख तत्त्व हैं । रस तथा भावों की अभिनेयता का होना अत्यावश्यक है । इन दोनों की वाक्यार्थता भी अत्यन्त अपेक्षित है । नाट्य में केवल रसभाव की ही नहीं, अलंकारों की तथा गुणों की भी वाक्यर्थता नितान्त आवश्यक होती है । उदाहरणार्थ भारवि तथा कालिदास ने रसभाव, अलंकार तथा गुणों की वाक्यार्थता प्रदर्शित की है ।[3]

देशादि विशेष के अनुसार तोटकादि नृत्यभेदों की योजना नाट्य-प्रयोग में प्रयुक्त की जानी चाहिए ।[४] नाट्य में विभिन्न देशों के वर्णन के अनुसार तदुपयुक्त भाषा तथा पात्रों का विधान होना चाहिए, इस कथन की भूमिका के लिए शारदातनय भारतवर्ष के तत्कालीन भौगोलिक स्वरूप इत्यादि का वर्णन करते हैं । शारदातनय के अनुसार भारतवर्ष का ल० चौ० का परिमाण नौ तथा सात सहस्र योजन है । (एक योजन आठ मील के बराबर माना जाता है ।) सतयुग में तो मनुष्य यहाँ पर सुख से रहते थे । किन्तु त्रेतायुग तथा द्वापर युग के आते-आते कालान्तर में लोग शीत की अधिकता के कारण उत्तर से दक्षिण की ओर आकर बस गये । उनके द्वारा छोड़े हुए स्थानों में अर्ध देवों यथा—यक्षों, विद्याधरों, गन्धर्व, सिद्धादि का निवास हो गया । इस प्रकार सतयुग में लोगों ने सम्पूर्ण भारत को घेर कर उसमें निवास कर लिया था, परन्तु शीत के आधिक्य के कारण उन्होंने प्रत्येक आने वाले युगों में २२५० योजनों तक उत्तरी भाग को छोड़ दिया था । अन्त में कलियुग में देश में से केवल २२५० योजन का भाग कम हो गया था, यही 'दक्षिणा पथ' के नाम से जाना जाता है, जो कि भारतवर्ष का एक चौथाई भाग है । यह दक्षिणापथ शारदातनय ने पांड्य, कोलादि ६४ देशों अथवा जनपदों

---

१. भा० प्र० पृ० ३०३ पं० १७-२२, पृ० ३०१ पं० १-३ ।
२. भा० प्र० पृ० ३०४ पं० ४-२२, पृ० ३०५ पं० १-५ ।
३. भा० प्र० पृ० ३०५ पं० ६-१०, १३-२३, पृ० ३०८ पं० १-१६ ।
४. भा० प्र० पृ० ३०६ पं० १-४ ।

में विभक्त कर दिया है जिनमें म्लेच्छ कहलाने वाली द्रमिड, कन्नडादि अठारह बोलियाँ (Dialects) बोली जाती थीं। इसके आगे शारदातनय नाट्योपयोगी भाषाओं का निर्देश करते है यथा—संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, मागधी, शौरसेनी तथा अपभ्रंश। उन्होंने विभाषाओं तथा वैभाषिकों का भी उल्लेख किया है। इन वैभाषिकों यथा शकार आभीरादि के स्वरूपादि का विस्तृत रूपेण कथन किया गया है। इनको रंगमंच पर दो दृश्यों के मध्यान्तर में सभासदों का मनोरंजन करने के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए।[1]

शारदातनय नटों के लिए नितान्तावश्यक परिज्ञेय का कथन भी करते हैं कि नटों के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें देश-देश के आचार-विचार, व्यवहार, वेष-भूषा, आकार-प्रकार, विहार तथा भिन्न-भिन्न प्रकृति आदि का सम्यक् ज्ञान हो जिससे कि उनका नाट्य में अभिनय सफल हो सके।[2]

नाटक के पात्रों के लिए उपयोग में आने वाली भाषा के नियम-निर्देश भी शारदातनय ने किए हैं। पुरुषों तथा उत्तम पात्रों को संस्कृत भाषा बोलनी चाहिए तथा स्त्रियों के द्वारा प्राकृत, शौरसेनी का प्रयोग होना चाहिए; अत्यन्त नीच पात्रों के द्वारा पैशाची भाषा तथा अन्य नीच पात्र जिस देश से सम्बन्धित हों, उस देश की प्रचलित भाषा को प्रयुक्त करना अपेक्षित है। जो पात्र संस्कृत बोल सकते हैं, उनकी एक लम्बी सूची प्रस्तुत है। शाक्य चक्रचर आदि संस्कृत का प्रयोग नहीं कर सकते। अविद्यावान, विकलांगादि के लिए भी संस्कृत का प्रयोग निषिद्ध है।[3] इसी संदर्भ में शारदातनय नाट्य के पात्रों के लिए परस्पर-व्यवहारोपयोगी कुछ पारिभाषिक शब्दों यथा-इत्यलम् बाढम्, कान्ते, प्रिये, आर्य इत्यादि का प्रयोग किन-किन-पात्रों को किस अवसर पर किस प्रकार करना चाहिये—इस का भी स्पष्टतः निर्देश प्रस्तुत करते हैं। पात्रों के द्वारा 'स्वगत' इत्यादि का कथन भी आवश्यकतानुसार होना चाहिए। स्वगत को त्रिपताकाहस्त द्वारा अथवा आकाश की ओर अभिमुख होकर कहा जा सकता है।[4]

इन सब तत्त्वों के अतिरिक्त नाट्यप्रयोग का एक अन्य प्रमुख तत्त्व भी है, जिसे 'अभिनय' कहा जाता है। नाट्यप्रयोक्ताओं के अभिनय के बिना नाट्यप्रयोग

---

१. भा० प्र० पृ० ३०९ पं० ५-२२, पृ० ३१० पं० १-२२, पृ० ३११ पं १२-२४.
२. भा० प्र० पृ ३१० पं० २३, पृ० ३११ पं० १-११.
३. भा० प्र० पृ २६९ पं० २२, पृ० २७० पं० १-६, ९-२२, पृ० २७१ पं० १-२
४. भा० प्र० पृ० २७१ पं० ३-२१, पृ० २७२ पं० ३-९.

को अभिनीत ही नहीं किया जा सकता है। भरत ने यह अभिनय चतुर्विध कहा है — आंगिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य।[1] इसी आधार पर अभिनयदर्पण, दशरूपक नाट्यदर्पण, शृंगारप्रकाश, साहित्यदर्पणादि ग्रन्थों में अभिनयोल्लेख प्राप्त होता है।[2] शारदातनय तो वाचिकादि अभिनय को इतना अधिक प्रयोज्य एवं अपेक्षित मानते हैं कि वे तो नाट्य के प्रमुखतम तत्त्व 'रस' का विवेचन एवं विभागादि का वर्णन वाचिकांगिकादि के भेद सहित ही विस्तार से प्रस्तुत करते हैं।[3]

समीक्षा—इस प्रकार नाट्यप्रयोग के समस्त प्रकारों एवं तत्त्वों के विवेचन पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि शारदातनय ने इस विषय में किसी भी तत्त्व को अछूता नहीं छोड़ा है। रस, भाव, पात्र, अभिनय, रंगमंच, भाषा, नाट्यमण्डप, संगीतयोजना, नृत्यविधान, वाद्य-प्रयोग, वेष-विन्यास, नाट्योपयोगीवृत्तियां, नाट्यप्रयोक्ताओं के कर्त्तव्यनिर्देशदि अनेकानेक विषयों का आकलन प्रस्तुत करके नाट्यप्रयोग विधि को सम्पन्नता से प्रदर्शित किया है। शारदातनय के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती नाट्यग्रन्थों में आचार्यों की दृष्टि केवल नाट्य तत्त्वों पर ही अधिक रही है, संगीत से सम्बन्धित तत्त्वों पर किंचित् ही ठहरी है। परवर्ती नाट्यग्रन्थों यथा साहित्यदर्पण, रसार्णवसुधाकर आदि में भी यही बात परिलक्षित होती है। परन्तु भावप्रकाशन में संगीत के सभी पक्षों यथा–गायन, वादन. नृत्य, नृत्त, ताण्डव-लास्य, ताल, लय, श्रुति, स्वर आदि पर भी उतना ही उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण रहा है, जितना कि नाट्यविषयक अन्य पक्षों पर। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि शारदातनय के भावप्रकाशन का आधार-ग्रन्थ नाट्यशास्त्र ही रहा होगा, क्योंकि वे अनेक स्थलों पर 'भरतादिभि' : शब्द का उल्लेख करते हुए भरत के मत को समादृत करते चलते हैं। परन्तु उनकी यह अपनी अनूठी विशेषता है कि जिस अंग को जहाँ से भी उद्धृत करके अपने ग्रन्थ में रखा है, उसे अपेक्षाकृत स्पष्ट एवं विस्तृत रूप प्रदान किया है, और जो उनकी मौलिकताएँ हैं, वे तो अपना उच्चतम स्थान निर्धारित कर ही लेती हैं।

पात्र, जाति एवं देशों के अनुकूल भिन्न-भिन्न भाषाओं का दशम अधिकार में जैसा वर्णन शारदातनय ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। नाट्यप्रयोक्ताओं का

---

१. ना० शा० (गा० ओ० सी०) ८/१०.

२, अभि० द० पृ० ३५, द० रू० १।७, ना० द० ३।५०-५१, शृं० प्र० पृ० ६०४, सा० द० ६।३.

३. भा० प्र० पृ० ६४-६७.

वर्णन करने में उनकी दृष्टि भरत के ही समान सैद्धान्तिक के साथ-साथ व्यावहारिक भी रही है। नृत्यविधान के वर्णन में उन्होंने नृत्त-नृत्य आदि का मार्ग व देशी के भेद से कथन करते हुए ताण्डव एवं लास्य का जो विस्तृत तथा व्यवस्थित निरूपण किया है, वैसा विस्तार तो नाट्यशास्त्र में भी दिग्दर्शित नहीं होता। फिर अन्य भरत परवर्ती आचार्यों की दृष्टि प्रयोगात्मक न होने के कारण तत्तद् ग्रन्थों में तो व्यापकता एवं व्यावहारिकता का अन्वेषण व्यर्थ ही है।

शारदातनय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मत तो नाट्यप्रयोग की सर्वप्रथम अवतारणा के विषय में है। भरत, नन्दिकेश्वर आदि से कतिपय भिन्न ढंग से वे नाट्यप्रयोग की उत्पत्ति एवं विकास मानते हैं। इस विषय में उनका मत भरतादि से किसी प्रकार भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, अपितु रोचक एवं तर्कसंगत है। शारदातनय ने नाट्यप्रयोग की सिद्धि के लिए जिन विभिन्न तत्त्वों एवं शास्त्रीय सिद्धान्तों का उल्लेख किया है, उनका विधान नाट्यप्रयोग की सिद्धि के चरमोत्कर्ष के लिए सर्वथा पर्याप्त एवं अनुकूल है।

अध्याय ६

दशरूपक तथा उनके भेद

'रूपयतीति' इस अर्थ में 'रूपि' धातु में 'ण्वुल' प्रत्यय लगाने से रूपक शब्द बनता है[1], 'रूप' एवं 'रूपक' शब्द ऋग्वेद, तैतरीय ब्राह्मण, मिलिन्द प्रश्न आदि में प्रयुक्त हुआ है।[2] यह दूसरी बात है कि प्रत्येक स्थान पर उसका अर्थ अभिनय के अर्थ में समाविष्ट न हुआ हो। रूपक का सम्बन्ध दृश्यकाव्य से है। रूपक में नट के द्वारा अवस्थानुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी किया जाता है।[3] अभिनय की चरम पूर्णता एवं उत्कर्ष रूपक में ही प्राप्त होता है।

भरत ने दशविध रूपक कहे हैं तथा उन दशरूपकों का विधान उन्होंने लक्षणों के सहित किया है। रूपक के इन दश भेदों के नाम भरत ने इस प्रकार परिगणित किए हैं—नाटक, सप्रकरण अंक, व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम, ईहामृग। इनमें से 'अंक' के लिए उत्सृष्टिकांक शब्द का भी प्रयोग हुआ है। हन दशरूपकों में से भरत ने नाटक एवं प्रकरण के योग से 'नाटी की उत्पत्ति भी प्रदर्शित की है।[4] धनंजय ने भी इन दश रूशकों का ही वर्णन किया है।[5] ये दश रूपक रसात्मक होते हैं।[6]

---

१. शब्द कल्पद्रुम; चतुर्थ काण्ड, पृ० १७४.

२. कृ० वे० ६।४६।१८; संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी (मोनियर विलियम्स) पृ०८८-४; मि० प्र० पृ ३४४ (टाइम्स ऑफ संस्कृत ड्रामा से उद्धृत)

३. रूपकं तद्भवेद्रूपं दृश्यत्वात्प्रेक्षकैरिदम् ॥ — भा० प्र० पृ० १८० पं ४.

४. ना० शा० चौ० २०।१-३; ८, ६४-६५, १५४.

५. द० रू० १।७.

६. भा० प्र० पृ० २२१ पं० ११.

दशरूपक लक्षण

नाटक—रूपक के दश प्रकारों में 'नाटक' प्रमुख माना जाता है। क्योंकि अन्य रूपकों की अपेक्षा इसमें रसपरिग्रह सर्वाधिक मात्रा में प्राप्त होता है, तथा इसमें सम्पूर्ण लक्षणों की उपयुक्त अवस्थिति होती है।[१] इसी संदर्भ में शारदातनय प्रकृतित्वाद्, रसपरिग्रहात् तथा सम्पूर्णलक्षणत्वाद–इन तीनों का स्पष्टीकरण भी विस्तारपूर्वक करते हैं।[2] उन्होंने नाटक की व्यापकता नाट्यशास्त्र[3] की भाँति भी वर्णित की है।[४] नाटक को विद्वानों के मुक्तिअभ्यास के कौशल से युक्त; सर्वलोकानुरंजक, राजाओं के चरित्रों को नाना रसभावों से आवेष्टित करके प्रस्तुत करने वाला तथा सुख-दुःख की उत्पत्ति का कारक जानना चाहिए।[५] क्रम से इस प्रकार के नाटकों के उदाहरण भी शारदातनय में प्रस्तुत किए हैं यथा 'रत्नावली', 'मलयवती', 'गरुड़चंचु', 'नागानन्द' आदि।[६]

शारदातनय नाटक को तभी सम्पूर्ण मानते हैं, जबकि उसमें पंचार्थ प्रकृतियाँ, पंचावस्थाएँ, षोडश अंग, चार वृत्तियाँ, पंच संधियाँ, इक्कीस सन्ध्यन्तर, नब्बे संगीतांग तथा छत्तीस भूषण हों।[७] इस विषय में उन्होंने 'शृंगारप्रकाश' का अनुकरण नहीं किया है, जहाँ कि सम्पूर्ण नाटक के लिए चौंसठ अंगों के चार समूहों का निरूपण है। शारदातनय ने तो नाटक के चौंसठ अलंकारों का एक नवीन समूह रखा है तथा उनमें से चौवन अलंकारों की परिभाषा भी प्रस्तुत की है। भरत द्वारा निर्धारित छत्तीस भूषण अधिकांश रूप से चौंसठ अलंकारों के इस समूह में ही सम्मिलित कर लिए गए हैं।[८] अन्य शेष अलंकार शारदातनय-कृत मौलिक प्रस्तुती-

---

१. भा० प्र० पृ० २२१ पं० १४-१५; द० रू० ३।१.

२. भा० प्र० पृ० २२१ पं० १६ से पृ० २२२ पं० १-१३ तक.

३. ना० शा० चौ० २१।१२२.

४. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगो सो नाटके यन्न दृश्यते॥
—भा० प्र० पृ० २२२, पं० १४-१५.

५. भा० प्र० पृ० २२२ पं० १६-२२; ना० शा० चौ० २०।१२.

६. भा० प्र० पृ० २२२ पं० २०-२२।

७. भा० प्र० पृ० २२२ पं० ८-१३।

८. भा० प्र० पृ० २२३ पं० ११-२२, पृ० २२६ पं० १-७, पृ० २३७ पं० १०, ना० शा० चौ० अध्याय १७।

करण के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। विश्वनाथ ने केवल तेंतीस अलंकारों का ही निर्देश किया है, तथा शिगभूपाल ने छत्तीस भूषणों का वर्णन किया है।[1]

'नाट्यनीति' इस अर्थ में 'नट् नृत्ते' धातु से 'णिच्' एवं 'ण्वुल' प्रत्यय लगाकर नाटक शब्द निष्पन्न होता है। नाटक शब्द की व्युत्पत्ति 'णट् नृती' धातु से भी मानी जा सकती है।[2] अभिनवगुप्त ने इस धातु का स्पष्ट रूप से तो उल्लेख नहीं किया है। हाँ, नाटक की व्युत्पत्ति के समय उन्होंने नति, प्रह्वीभाव एवं नमन आदि भावों का सम्बन्ध नाटक के साथ प्रदर्शित किया है जिससे स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त ने नाटक शब्द की व्युत्पत्ति नमनार्थक 'नट्' धातु से स्वोकार की है।[3] किन्तु यह व्युत्पत्ति नाट्यदर्पणकार को मान्य नहीं है। उनके अनुसार इस प्रकार से व्युत्पत्ति मानने से तो 'नाटक' शब्द नहीं, अपितु 'नटक' शब्द बनेगा, क्योंकि घटादि गण धातुओं की मित् संज्ञा होकर 'मितां ह्रस्वः' सूत्र से ह्रस्व हो जाता है। अतः उनके अनुसार नट् धातु को नृत्यर्थक मानना पड़ेगा।[4] यहाँ यह ध्यातव्य है कि अभिनवगुप्त ने नर्तनार्थक नट् धातु से भी नाटक शब्द की व्युत्पत्ति प्रस्तुत की है।[5]

नाटक की प्रकृति एवं कार्यों के विषय में शारदातनय मुख्य रूप से भरत एवं धनंजय से प्रभावित जान पड़ते हैं। इसी संदर्भ में शारदातनय कोहल एवं मातृगुप्त के भिन्न-भिन्न विचारों का उल्लेख भी करते चलते हैं। नाटक पाँच अंक से दस अंक तक हो सकता है। शारदातनय ने इनके क्रम से उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं, यथा—चैत्रावली, गौरीगृह, विक्रमोर्वशीय, रामाभ्युदय, शाकुन्तल, नलविक्रम, देवीपरिणय, बालरामायण आदि।[6]

---

१. सा० द० ६।१६५-१६८, र० सु० ३।६७-१०१।

२. शब्द कल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड, पृ० ८५२।

३. अभि० भा० अध्याय १८ पृ० ४१३-४१४।

४. ना० द० १।५, सूत्र ४।

५. नाटकं नाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायकं भवति तथा हृदयानुप्रवेश रंजनोल्लासनया हृदयं शरीरं च ··· ·········नर्तयति···············नाटकम्।

—अभि० भा० अध्याय १८, पृ० ४१३।

६. ना० शा० चौ० २०।१०–४८; द० रू० ३।२३-३८; भा० प्र० पृ० २३३ पं० १५–२२; पृ० २३४ पं० १–२२; पृ० २३५ पं० १–२२; पृ० २३६ पं० १–२२; पृ० २३७ पं० १–२२; पृ० २३८ पं० १–४।

विश्वनाथ एवं शिंगभूपाल ने नाटक का जो स्वरूप प्रतिपादित किया है, उस पर शारदातनय का स्पष्ट प्रभाव जान पड़ता है।[1] रूपगोस्वामी की 'नाटकचन्द्रिका' में वर्णित नाटक का लक्षण भावप्रकाशन एवं रसार्णव-सुधाकर से प्रभावित है।[2]

सुबन्धु की नाटक-विषयक परम्परा का उल्लेख भावप्रकाशन की अपनी अनूठी विशेषता है, जिसके दर्शन अन्य ग्रन्थों में दुर्लभ हैं, केवल 'काव्यानुशासन' में उसका आभास-मात्र प्राप्त होता है। सुबन्धु के अनुसार नाटक पाँच प्रकार का होता है—पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित तथा समग्र[3]। 'पूर्ण' के उदाहरण स्वरूप अप्रसिद्ध रूपक 'कृत्यारावण' को शारदातनय ने रखा है, क्योंकि इसमें मुखादि पंचसंधियाँ पूर्णरूप से पल्लवित हुई हैं। 'प्रशान्त' नामक दूसरा नाटक-प्रकार न्यासादि (न्यास, न्यास-समुद्भेद, बीजोक्ति, बीजदर्शन, अनुदिष्ट संहार) पाँच प्रकार की विशेष संधियों से युक्त माना है, जो कि मुखादि पंचसंधियों के प्रयोजन को सिद्ध करती हैं। इसका उदाहरण 'स्वप्नवासवदत्ता' है, जिसमें मुखादि के प्रयोजन से युक्त न्यासादि पंचसंधियाँ सुनियोजित हुई हैं। यद्यपि 'स्वप्नवासवदत्ता' में श्रृंगाररस मुख्य है, परन्तु फिर भी यह प्रशान्त के लक्षणानुसार 'प्रशान्तरसभूयिष्ठं' है, क्योंकि इस नाटक में निर्वेदव्यभिचारी भाव अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। नाटक के तीसरे प्रकार 'भास्वर' में पंच संधियों का एक अन्य समुदाय रहता है, जिनके नाम हैं—माला, नायकसिद्ध्यंगग्लानि, परिक्षय, मात्रा, अवशिष्ट-संहार। भास्वर के उदाहरण के रूप में 'बालरामायण' को रखा गया है, जो कि भारतीवृत्तिभूयिष्ठ तथा वीर एवं अद्भुत रसों से युक्त है। 'बालरामायण' में भास्वर के लिए अपेक्षित संधियों में से प्रथम माला के अतिरिक्त शेष चार संधियों के दर्शन तो कराये गये हैं, परन्तु 'माला' के विश्लेषण के लिए 'मुद्राराक्षस' की एक घटना का उद्धरण प्रस्तुत किया गया है। नाटक का चतुर्थ प्रकार 'ललित' है, जो कैशिकी वृत्ति तथा श्रृंगाररस से युक्त होता है, इसका उदाहरण शारदातनय ने

---

१. सा० द० ६।७–१०; र० सु० ३।२१२; भा० प्र० पृ० २२२ पं० ११, १८-१९; पृ० २३६ पं० ३–४; पृ० २३७ पं० ६, ११, १३।

२. ना० चं० श्लोक ३–६।

३. सुबन्धुनाटकस्यापि लक्षणं प्राह पंचधा।
पूर्णं चैव प्रशान्तं च भास्वरं ललितं तथा॥
समग्रमितिविज्ञेया नाटके पंच जातयः।
—भा० प्र० पृ० २३८ पं० १५-१७।

विक्रमोर्वशीय के रूप में दिया है। ललित में विलास, विप्रलम्भ, विप्रयोग, विशोधन, उद्दिष्टार्थोपसंहार नामक पाँच संधियाँ होती हैं। वत्सराज, ययाति तथा राम की कथाओं से उद्धृत कुछ घटनाएँ भी ललित नामक नाटक प्रकार की विलासादि संधियों की समीक्षा करने के लिए प्रस्तुत की गई हैं। ललित की पाँचवी संधि उद्दिष्टार्थोप-संहृति के विश्लेषण के लिए विक्रमोर्वशीय की कथा का ही प्रसंग उद्धृत किया गया है। नाटक के पाँचवे प्रकार 'समग्र' का प्रतिनिधित्व 'महानाटक' के द्वारा किया गया है, जिसमें समस्त वृत्तियाँ तथा लक्षणों की सम्पन्नता रहती है। 'समग्र' के उदाहरण के लिए 'नृत्तचार' नामक नाटक भी प्रस्तुत किया गया है।[1]

उपर्युक्त पाँचों प्रकार की नाटक जातियों में उपक्षेप, परिकर, परिन्यास तया विलोभन नामक अंगों का विधान होना चाहिए। प्रशान्त नामक नाटकप्रकार में युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान तथा परिभावन की योजना अवश्यमेव होनी चाहिए। भास्वर में आज्ञापवाद, सम्फेट, प्रसंग, विद्रव तथा संग्रह नामक अंगों की योजना होनी चाहिए। ललित में विरोध, प्रणय, पर्युपासन, पुण्य, वज्र नामक अंग अवश्य ही सुनियोजित होने चाहिए। ये सब प्रकार के विविध रूप समग्र में होने चाहिए।[2]

शिंगभूपाल ने इन पूर्ण आदि भेदों को अतिरम्य नहीं माना है[3]; किन्तु यह उचित नहीं है। ऐसा कहकर तो शिंगभूपाल ने अपनी संकीर्णता एवं रसअग्राह्यता का ही परिचय दिया है।

प्रकरण—इसके विषय में शारदातनय ने तीन विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं[4] उनमें से प्रथम दो तो उसी प्रकार की है, जैसी कि नाट्यशास्त्र एवं दशरूपक में पाई जाती हैं।[5] तृतीय परिभाषा एक तत्त्व (अर्थात् प्रकरण में विष्कम्भक के सम्मिलित होने) पर नाट्यशास्त्र एवं दशरूशक से भिन्नता रखती है। इसके अनुसार विष्कम्भक-यक्त प्रकरण के वर्णन-प्रसंग में शारदातनय ने भोज के मत को उद्धृत

---

१. भा० प्र० पृ० २३८ पं० १८-२२; पृ० २३९ पं० १-२२; पृ० २४० पं० १-२२; पृ० २४१ पं० १–५,१५.

२. भा० प्र० पृ० २४१ पं० ६–१४.

३. नाटकस्यतु पूर्णादिभेदाः केचन कल्पिताः
तेषां नातीव रम्यत्वाद् परीक्षाक्षमत्वतः॥ —र० सु० ३।२१३.

४. भा० प्र० पृ० २४१ पं० १६–२२, पृ० २४२ पं १–१२.

५. ना० शा० चौ० २०।४८–६१; द० रू० ३।३९–४२.

किया है।[1] उन्होंने प्रकरण के चार उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, यथा–पद्मावती–परिणय, मृच्छकटिक, मालतीमाधव, तरंगदत्ता।[2]

रामचन्द्र–गुणचन्द्र ने प्रकरण का नायक धीर-शांत ही नहीं, धीरोदात्त भी कहा है। इसमें नायिका नीच जाति की भी हो सकती है।[3] शिंगभूपाल-कृत प्रकरण वर्णन भावप्रकाशन से पूर्णतया प्रभावित जान पड़ता है। शिंगभूपाल ने प्रकरण के उदाहरण–स्वरूप कामदत्ता के अतिरिक्त शारदातनय की भाँति मालती–माधव एवं मृच्छकटिक को रखा है।[4]

भाण—भावप्रकाशन में भाण की परिभाषा धनंजय, भोज तथा कोहलादि आचार्यों के मतानुसार स्वीकार की गई है।[5] भाण में भारतीवृत्ति, शृंगाररस, स्वानुभूत अथवा परानुभूत धूर्त चरित का वर्णन, एक ही विट (पात्र) की उक्ति, आकाश-भाषित, मुख एवं निर्वहणसंधि तथा एक अंक की योजना होती है। भाण में उत्पाद्य वस्तु तथा दशविध लास्यांग होते हैं।[6] भाण का जैसा वर्णन नाट्यशास्त्र में मिलता है[7], उसी का प्रभाव अधिकांश रूपेण परवर्ती ग्रन्थों पर पड़ा है। परन्तु भाण के वर्णन-प्रसंग में दस लास्यांगों का जो प्रतिपादन भावप्रकाशन में किया गया है, उनके नाम नाट्यशास्त्र के समान ही होने पर भी उनकी परिभाषाएँ नाट्यशास्त्र से सामान्यतया भिन्न हैं।[8] साथ ही एक नवीन अंग 'भाविक' भी शारदातनय के द्वारा जोड़ा गया है, तथा अन्य दस लास्यांगों के साथ-साथ 'भाविक' की भी परिभाषा की गई है।[9] यह 'भाविक' भामह, उद्भट एवं दण्डि के भाविकालंकार से

---

१. भा० प्र० पृ० २४२ पं० १३–१७।
२. भा० प्र० पृ० २४३ पं ११–१६।
३. ना० द० २/१–२, सूत्र ११७।
४. र० सु० ३/२१४–२१८।
५. भा० प्र० पृ० २४४ पं० १८–२२, पृ० २४५ पं० १–३, १०; द० रू० ३/४६–५१।
६. भा० प्र० पृ० २४५ पं ४–९।
७. ना० शा० चौ० २०/१११–११५।
८. भा० प्र० पृ० २४५ पं० १५-२२, पृ० २४६ पं० १-१२; ना० शा० चौ० २०/१३६-१५३।
९. स्वप्ने विलोक्य दयितं क्रियते यत्प्रबुद्धया।
मनोभवार्तया भावस्तद्ध भाविकमुच्यते॥
—भा० प्र० पृ० २४६ पं० १३–१४।

सर्वथा भिन्न है। शारदातनय भाषा के अन्तर्गत गुल्म, शृंखला, लता तथा भेद्यक नामक चार प्रकार कर नृत्तों की योजना का भी उल्लेख करते हैं।[1] यद्यपि ये चारों प्रकार के नृत्त नाट्यशास्त्र[2] में वर्णित हैं एवं इनकी टीका भी अभिनवगुप्त के द्वारा की गई है। तथापि उनके भावों तथा औचित्य की स्पष्टता के लिए शारदातनय कृत परिभाषाएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। भद्रासन तथा यन्त्र के द्वारा इन नृत्तों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।[3] भद्रासन तथा यन्त्र की व्याख्या अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती में की है।[4] नाट्यदर्पणकार के अनुसार भाषा की रचना जनसाधारण के लिए होती है। इनके अनुसार दस लास्यांगों को भरत के अनुसार ही माना गया है।[5] किन्तु उन्होंनेभरत[6] के विचित्रपद तथा भावित का उल्लेख नहीं किया है, जिन्हें शारदातनय ने भी स्थान नहीं दिया है। इन दोनों से रहित गेयपदादि दशलास्यांग शिगभूपाल ने भी स्वीकार किये हैं। उनके द्वारा दी गई परिभाषाएँ भावप्रकाशन से पूर्ण प्रभावित दृष्टिगोचर होती हैं।[7] साहित्यदर्पण-कार ने जो भाण का स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह दशरूपक तथा भावप्रकाशन से पूर्णतः प्रभावित है। विश्वनाथ ने भाण के उदाहरणस्वरूप 'लीला मधुकर' नामक रूपक को लिया है।[8]

प्रहसन—शारदातनय ने प्रहसन तीन प्रकार का जो कहा है, उस पर दशरूपक का प्रभाव है; क्योंकि भरत तो केवल दो ही प्रकार के प्रहसन का कथन करते हैं। शुद्ध व संकीर्ण प्रहसन के वर्णन के विषय में धनंजय तथा शारदातनय पर भरत का प्रभाव जान पड़ता है।[9] तीसरे प्रकार वैकृत के स्वरूप के विषय में शारदातनय धनंजय से प्रभावित हुये हैं।[10] प्रहसन में मुख तथा निर्वहण नामक दो

---

१. भा० प्र० पृ० २४६ पं० १५-२२।
२. ना० शा० चौ० ४/२८५-२८७।
३. भा० प्र० पृ० २४६ पं० २३ ; ना० शा० चौ० ४/२८७-२८८।
४. अभि० भा० अध्याय ४, पृ० १६४-१६८।
५. ना० द० २/१६, सू० १२६।
६. ना० शा० चौ० २०/१५०, १५२।
७. र० सु० ३/२३६-२४८ ; भा० प्र० पृ० २४५-२४६।
८. सा० द० ६/२२७-२३०।
९. भा० प्र० पृ० २४७ पं० १-८ ; द० रू० ३/५४-५५ ; ना० शा० २०/१०६-१०९।
१०. भा० प्र० पृ० २४७ पं० ९ ; द० रू० ३/५६।

सन्धियाँ तथा छः रस होते हैं, साथ ही इसमें एक ही अंक होता है। भावप्रकाशन में प्रहसन के तीन प्रकारों के उदाहरणस्वरूप सैरन्ध्रिका, सागरकौमुदी तथा कलिकेलि का उल्लेख किया गया है,[1] जो कि आज अप्राप्य हैं।

भरत ने प्रहसन के अंक के विषय में कोई निर्धारण नहीं किया है। हाँ, अभिनव गुप्त ने किसी अन्य आचार्य के मतानुसार शुद्ध प्रहसन को एकांकी तथा संकीर्ण को अधिक अंक वाला माना है। सागर नन्दी[2] भरत के आधार पर प्रहसन के दो ही भेद मानते हुए उसमें मुख व निर्वाहण संधियों का समावेश बताते हैं। उन्होंने इन दोनों प्राकर के प्रहसनों के उदाहरण क्रमशः 'शशिविलास' तथा 'भगवदज्जुका' कहे हैं। साहित्यदर्पणकार[3] ने संकीर्ण प्रहसन में दो अंकों को अपेक्षित माना है। भरत के आधार पर आचार्यों ने प्रहसन में वीथ्यंग का विधान निरूपित किया है,[4] किन्तु साहित्यदर्पणकार के वीथ्यंग की योजना अनिवार्य नहीं कही है।[5]

रसार्णवसुधाकर में विशेष रूप से दस अंगों की योजना प्रहसन में अनिवार्य कही गई है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—अवगलित, अवस्कन्द, व्यवहार, विप्रलम्भ उपपत्ति, अनृत, विभ्रान्ति, भय, गद्गद्वाक् तथा प्रलाप। वैसे शिंगभूपाल ने भावप्रकाशन की ही भाँति प्रहसन-शुद्ध, संकीर्ण तथा वैकृत-त्रिविध ही स्वीकार किया है तथा उसी आधार पर उनका स्वरूप-निर्देश किया है।[6] नाट्यदर्पणकार[7] प्रहसन को भारतीवृत्ति युक्त, एकांकी, मुख व निर्वहण सन्धि-युक्त वीथ्यंगों से युक्त तथा शुद्ध व संकीर्ण के भेद से दो प्रकार का मानते हैं। शृंगार का अनौचित्य होने के कारण इसमें अत्यल्प लास्यांग होते हैं।

डिम— डिम का अर्थ होता है 'संघात'। इसमें नायकों के कार्य-संघात (समूह)

---

१. भा० प्र० पृ० २४७ पं० १०-१४।
२. ना० ल० को०, पृ १२०-१२१।
३. सा० द० ६/२६७।
४. ना० शा० चौ० २०/११०-१११, अभि० भा० भाग २, पृ० ४४६; द० रू० ३/५४-५६; भा० प्र० पृ० २४७ पं० ७; ना० ल० को० पृ० १२०-१२१; ना० द० २/१८ सू० १३१।
५. सा द० ६/२६५।
६. र० सु० ३/२६६-२७६।
७. ना० द० २/१८-२० सूत्र १३१-१३३।

का प्रदर्शन होता है, अतः इसे 'डिम' कहा जाता है। हेमचन्द्र[1] ने डिम के लिए 'विद्रोह' तथा 'डिम्ब' शब्द भी प्रयुक्त किया है। डिम की परिभाषा के विषय में शारदातनय भरत एवं धनंजय के दृष्टिकोण से सहमत हैं।[2] इसी आशय से युक्त परिभाषा नाट्यदर्पणकार ने भी प्रस्तुत की है। उन्होंने भरत की ही भाँति डिम में सोलह प्रकार के नायकों का वर्णन किया है। किन्तु उन्होंने हास्य एवं शृंगार के साथ-साथ शान्त एवं करुण का भी निषेध किया है।[3] शिगभूपाल ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से प्रभावित होकर ही 'डिम' का स्वरूप प्रतिपादित किया है।[4]

इस सन्दर्भ में एक विशेष तत्त्व पर सूक्ष्म दृष्टिपात करना अपेक्षित है। 'डिम' की परिभाषा के विषय में एक श्लोक धनिक के द्वारा भरतमुनि से सम्बद्ध बताया गया है।[5] परन्तु यह श्लोक नाट्यशास्त्र में प्राप्य नहीं है। हाँ, इस श्लोक का प्रथम अर्धभाग केवल भावप्रकाशन में पाया जाता है, जो कि एक भिन्न अर्धभाग द्वारा अनुसरित है,[6] जब कि धनिक द्वारा प्रस्तुत श्लोक का द्वितीय अर्धभाग भरत के नाट्यशास्त्र में प्राप्य है।[7] इस विशेष श्लोक के अनुसार डिम की परिभाषा मूल रूप से ब्रह्मा के द्वारा उनके त्रिपुरदाह डिम में दी गई है, जो कि भगवान शिव के सम्मुख अभिनीत किया गया। भावप्रकाशन में डिम के उदाहरण-स्वरूप दो रूपकों के नामों का उल्लेख हुआ है—तारकोद्धरण तथा वृत्रोद्धरण[8] ये अब उपलब्ध नहीं हैं।

डिम के विषय में सागरनन्दी[9] ने भरत का अनुसरण किया है। अभिनव गुप्त

---

१. का० अनु० पृ० ३२२।

२. ना० शा० चौ० २०/८७-९२ ; द० रू० ३/५७-६० ; भा० प्र० पृ० २४७ पं० १५-२३, पृ० २४८ पं० १-२

३. ना० शा० चौ० २०/९२ ; ना० द० २/२१–२२ सूत्र १३४-१३५।

४. र० सु० ३।२८०-२८३।

५. इदं त्रिपुरदाहे तु लक्षणं ब्रह्मणोदितम्।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिम संज्ञः प्रयोजितः॥
इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्वं दर्शितम्॥
—द० रू० (अवलोक) ३।६०।

६. भा० प्र० पृ० २४८ पं० ३-४।

७. तथा त्रिपुरदाहश्च डिम संज्ञः प्रयोजितः॥ —ना० शा० चौ० ४।१०।

८. भा० प्र० पृ० २४८ पं ४-५।

९. ना० ल० को पृ० ११६।

तथा विश्वनाथ डिम में विष्कम्भक तथा प्रवेशक का निषेध मानते हैं, जबकि शारदातनय दोनों का प्रयोग उपयुक्त समझते हैं।[1]

व्यायोग—व्यायोग की परिभाषा के विषय में शारदातनय मुख्य रूप से भरत का अनुसरण करते हैं।[2] धनंजय के अनुसार व्यायोग में एक ही दिन की घटनाओं को चित्रित किया जाता है।[3] भरत व शारदातनय तो व्यायोग को अल्पस्त्रीजन-युक्त कहते हैं, परन्तु हेमचन्द्र के अनुसार व्यायोग में नायिकाएँ होती ही नहीं हैं। यदि स्त्री पात्रों की योजना आवश्यक ही हो, तो एक या दो दासियों की योजना की जा सकती है।[4] अभिनव गुप्त के अनुसार यह 'व्यायोग' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें पुरुष पात्र युद्ध का प्रयोग करते हैं।[5] व्यायोग में युद्ध योजना की प्रधानता होने के कारण वीर तथा रौद्र रसों का संचार होता रहता है। स्त्रीपात्र के अभाव अथवा अल्पत्व के कारण इसमें कैशिकी वृत्ति का अभाव, भारती व आरभटी का प्रयोग तथा एक दिन घटना के कारण एक अंक का संयोजन होता है। इसमें जो संग्राम होता है, वह स्त्री निमित्तक नहीं होता। अल्प स्त्री पात्रों के होने पर कहीं-कहीं स्वल्प शृंगार, अन्यथा षड्रस दीप्त होते हैं। इसमें गर्भ तथा विमर्श संधियाँ नहीं होतीं, विष्कम्भकादि होते हैं। नायक तीन-चार या अधिक से अधिक दस तक होते हैं।[6] सागरनन्दी ने व्यायोग में ऋषि कन्याओं के परिणय का वर्णन किया है। विश्वनाथ के अनुसार इसका नायक दिव्य अथवा राजर्षि पुरुष हो सकता है। जबकि अभिनव गुप्त राजर्षि को नायक मानने के विपक्ष में हैं। विश्वनाथ ने व्यायोग के उदाहरण स्वरूप 'सौगन्धिकाहरण' को रखा है। दशरूपककार ने इसका उदाहरण 'जामदग्न्यजय' कहा है। यही उदाहरण नाट्य-दर्पणकार ने भी कहा है। शिंगभूपालकृत व्यायोग-वर्णन भावप्रकाशन से प्रभावित

---

१. अ० भा० भाग २, पृ० ४४४; भा० प्र० पृ० २४८; सा० द० ६।२४२।

२. ना० शा० चौ० २०।६३-६७; भा० प्र० पृ० २४८ पं० ६-१५।

३. द० रू० ३।६०-६२।

४. ना० शा० चौ० २०।६४; भा० प्र० पृ० २४८ पं० १०; काव्यानुशासन पृ० ३२३।

५. व्यायामे युद्धप्राये नियुद्ध्यन्ते पुरुषा यत्रेति व्यायोग इत्यर्थः।
नियुद्धं बाहु युद्धं संघर्षः शौर्यविधाकुलरूपादिकृता स्पर्धा॥
अभि० भा० भाग २, पृ० ४४५।

६. भा० प्र० पृ० २४८ पं० ६-१५।

जान पड़ता है, साथ ही वहाँ पर धनंजय की भाँति भी लक्षण निरूपण किया गया है।[1]

समवकार—समवकार के वर्णन में नाडिका तथा कपट की प्रकृति-इन दो तत्त्वों के अतिरिक्त शारदातनय प्रमुख रूप से भरत तथा धनंजय से ही प्रभावित हुए हैं। इसे समवकार इसलिए कहते हैं कि इसमें कई नायकों के प्रयोजन समवकीर्ण रहते हैं। नाट्यशास्त्र व दशरूपक के अनुसार इसमें कपट, विद्रव तथा प्रहसन की भाँति वीथ्यंग रहते हैं। इसमें त्रिविध विद्रव, त्रिविध कपट तथा त्रिविध शृंगार होते हैं।[2] समवकार के वर्णन-प्रसंग में नाडिका, विद्रव, कपटादि तत्त्वों का अपेक्षाकृत विस्तृत विवरण शारदातनय ने ही प्रस्तुत किया है, इसमें सन्देह नहीं है। इसमें तीन अंकों की योजना की जाती है। प्रथम अंक में दो, द्वितीय में तीन तथा तृतीय अंक में विमर्श के अतिरिक्त शेष चारों सन्धियों की संयोजना की जाती है। इसी मत का अनुसरण विश्वनाथ ने भी किया है।[3] समवकार में वीर रस प्रमुख रूप से विद्यमान रहता है।[4] इसके अंकों के समय मान के लिए जो नाडिका मानी गई है, उसके विषय में शारदातनय एक नाडिका एक मुहूर्त्त तथा दो घटिकाओं का चतुर्थांश मानते हैं,[5] जबकि भरत के अनुसार यह एक मुहूर्त्त का अर्ध भाग है।[6] प्रथम अंक का समय द्वादश नाडिका है, द्वितीय अंक का चार नाडिका तथा तृतीय अंक का काल दो नाडिका है।[7] विश्वनाथ ने इन नाडियों को 'नाली' कहा है।[8] कपट के विषय में दो भिन्न-भिन्न विद्वानों का अनुसरण करते हुए शारदातनय ने दो परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं।[9] इनमें से कोई-सी भी न तो नाट्यशास्त्र में ही

---

१. ना० ल० को० पृ० ११६ ; अभि० भा० भाग २, पृ० ४४५; सा० द० ६/२३३; द० रू० ३।६१; ना० द० २।११ सूत्र १२६; र० सु० ३।२२६-२३२।

२. ना० शा० चौ० २०/७०, ७३-८१; द० रू० ३।६२-६८; भा० प्र० पृ० २४८-२५०।

३. भा० प्र० पृ० २४६ ; सा० द० २३८-२३९।

४. भा० प्र० पृ० २४८ पं० १९ ; सा० द० ६।२३६।

५. मुहूर्त्तस्य तुरीयांशो नाडिका घटिकाद्वयम् ॥ —भा० प्र० पृ० २४९ पं० १०

६. ज्ञेयन्तु नाडिकाख्यं मानं कालस्य यन्मुहूर्तार्धम्। — ना० शा० चौ० २०।७२।

७. ना० शा० चौ० २०।७०-७१ ; भा० प्र० पृ० २४९ पं० ५, ६ तथा ८।

८. सा० द० ६।२३८-२३९।

९. भा० प्र० पृ० २४९ पं० ११-१५।

परिलक्षित होती है और न दशरूपक में ही। कपट तथा विद्रव की परिभाषा तथा उन दोनों का जैसा संयोग-सम्बन्ध भावप्रकाशन में प्रदर्शित किया गया है, वह ध्यान देने योग्य है।[१] समवकार में जो त्रिविध श्रृंगार की अवस्थिति मानी गई है उनमें से भरत निरूपित जो धर्म श्रृंगार है, उसे शारदातनय ने 'भोग श्रृंगार' कहा है।[2] नाट्यदर्पणकार एवं विश्वनाथ ने भी ये त्रिविध श्रृंगार माने हैं।[3] शिगभूपालकृत समवकार के सम्पूर्ण-वर्णन पर शारदातनय का स्पष्ट प्रभाव अभिलक्षित होता है।[4] समवकार में जो त्रिविध कपट, विद्रव तथा श्रृंगार का प्रयोग होता है, वह तीन अंकों में एक-एक का योग होते हुए चलता है। अतः इसकी कथा वस्तु अवकीर्ण अर्थात् बिखरी हुई रहने के कारण ही 'समवकार' इसका अन्वर्थ नाम है।[५]

समवकार के पात्र देव तथा दानव होते हैं, जो प्रख्यात तथा उदात चरित वाले होते हैं।[६] अभिनवगुप्त ने स्वभावभिन्नता की दृष्टि से नाटक के नायक की भाँति इनके भी चार भेद निरूपित किये हैं।[७] विश्वनाथ समवकार के नायक को मर्त्य भी मानते हैं.[८] किन्तु यह युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि देव तथा दानव दिव्य ही होते हैं, मर्त्य नहीं। इसलिए धनंजय, नाट्यदर्पणकार, शारदातनय, सागरनन्दी एवं शिगभूपाल के अनुसार इसका नायक दिव्य ही होता है चाहे वह देव हो अथवा दानव।[९] समवकार में भरत ने नायकों की संख्या द्वादश निर्धारित की है, जिसे परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किया है।[१०] 'अमृतमन्थन' समवकार जो कि नाट्य-

---

१. भा० प्र० पृ० २४९ पं० १६-१८ ; पृ० २५० पं० ७-१४।

२. ना० शा० चौ० २०/७७ ; भा० प्र० पृ० २४९ पं० १९-२१।

३. ना० द० २/१४ सूत्र २१८ ; सा० द० ६/२३९।

४. र० सु० ३/२४९-२६४।

५. संगतैरवकीर्णैश्चार्थैः त्रिवर्गोपायैः पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियते निबध्यते इति 'समवकारः'। —ना० द० २/११, सू० १२६ (व्याख्या)

६. प्रख्यातोदात्तचरिता मिलिता देवदानवाः। —भा० प्र० पृ० २४८ पं० २०

७. अ० भा० भाग २, पृ० ४३७।

८. नायका द्वादशोदाताः प्रख्याता देवमानवाः ॥ सा० द० ६/२३५

९. द० रू० ३/६३ ; ना० द० (उदात्त देवदैत्येशो) २/११ सू० १२६ ; भा० प्र० पृ० २४८ पं० २० ; ना० ल० को पृ० ११५ ; र० सु० ३/२४९।

१०. ना० शा० चौ० २०/६७ ; द० रू० ३/६४ ; ना० द० विवेक २, का० ७७ सू० १२७ ; भा० प्र० पृ० २४८ पं० २१ ; ना० ल० को० पृ० ११५ ; र० सु० ३/२५०।

शास्त्र में वर्णित है, एवं जो ब्रह्मा के द्वारा रचित माना गया है, भावप्रकाशन में एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[1] धनिक एवं विश्वनाथ ने इसका उदाहरण 'समुद्रमन्थन' तथा शिंगभूपाल ने 'पयोधिमन्थन' के नाम से प्रस्तुत किया है, जिनका तात्पर्य पूर्वोक्त 'अमृतमन्थन' से ही है।[2]

वीथी वीथी भाण तथा प्रहसन से कहीं-कहीं समान होकर भी पृथक् की जा सकती है क्योंकि वीथी में सदैव एक ही अंक होता है जबकि भाण और प्रहसन के लिए यह अत्यावश्यक नहीं है। इनमें एक या दो ही रसों का परिपाक होता है, जबकि वीथी में शृंगार को अंगी बना कर समस्त रसों की स्थिति हो सकती है। भाण तथा प्रहसन में विटीधूर्त्तादि अधम पात्रों की योजना होती है, जबकि वीथी में तीनों ही प्रकार के पात्रों का विधान हो सकता है।[3] वीथी में जब एक पात्र होगा तो कथोपकथन आकाशभाषित शैली में होगा, यदि दो पात्रों की योजना है तो उत्तर-प्रत्युत्तर की शैली का प्रयोग किया जायेगा। भरत ने वीथी के उद्घात्यक, अवगलित, अवस्यन्दितादि तेरह अंगों का वर्णन किया है।[4] शारदातनय के अनुसार वीथी में वीथ्यंगों के साथ लास्यांग युक्त होते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने कोहल तथा भोज के मत की चर्चा की है। कोहल का मत था कि लास्यांग केवल रुचि से अधिकृत होते थे, जबकि भोज उन्हें आवश्यकीय मानते थे।[5] वीथी में कैशिकी वृत्ति, मुख तथा निर्वहण सन्धि होती है।[6] धनंजय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय, विश्वनाथ तथा शिंगभूपाल के अनुसार इसमें एक या दो पात्र होते हैं,[7] जबकि—सागरनन्दी के अनुसार इसमें तीन पात्र होने चाहिए।[8] उन्होंने 'बकुलवीथी' को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है, जबकि शारदातनय ने बकुलवीथी के साथ-साथ

---

१. ना० शा० चौ० ४/४ ; भा० प्र० पृ० २५० पं० ६।
२. द० रू० ३/६८ (अवलोक), सा० द० ६/२४० (व्याख्या) ; र० सु० ३/२६४।
३. ना० शा० चौ० २०/११६-११७ ; भा० प्र० पृ० २५१ पं० ४, ८।
४. ना० शा० चौ० २०/११७-१३४।
५. भा० प्र० पृ० २५१ पं० ५-७।
६. द० रू० ३/६८ ; भा० प्र० पृ० २५१ पं० १-२ ; सा० द० ६/२५४ ; र० सु० ३/२६५।
७ द० रू० ३/७० ; ना० द० वि० २, का० ९३, सूत्र १४० ; भा० प्र० पृ० २५१, पं० ३ ; सा० द० ६।२५३ ; र० सु० ३/२६५।
८. ना० ल० को० पृ० १२१।

'इन्दुलेखा' का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है ।[1] नाट्यदर्पणकार ने वीथी को सर्व-रसों से सम्पन्न होने के कारण 'सर्वस्वामि-रसा' कहकर उसे समस्त रूपकों में उप-योगी अर्थात् सारयुक्त माना है साथ ही वीथी के त्रयोदश अंगों का विस्तृत वर्णन भी प्रस्तुत किया है ।[2]

उत्सृष्टिकांक - शारदातनय के द्वारा प्रतिपादित उत्सृष्टिकांक की परिभाषा गुणों की दृष्टि से भरत के द्वारा दी गई परिभाषा के समान है,[3] लेकिन उसमें एक तत्व पर मत-वैभिन्य है । भरत का मत है कि यह तीन वृत्तियाँ-सात्वती, आरभटी तथा कैशिकी से रहित है; परन्तु शारदातनय केवल कैशिकी को ही अनावश्यकीय मानते हुए सात्वती एवं आरभटी का प्रयोग आवश्यक समझते हैं । उनका कथन है कि उत्सृष्टिकांक एक हास्याभिनय की ही भाँति समाप्त होना चाहिए यद्यपि यह स्त्रियों के विलापादि तथा नाना व्याकुल-चेष्टाओं से भी युक्त हो सकता है ।[4] इस विषय पर भरत मौन हैं । आगे शारदातनय हमें यह सूचित करते हैं कि भरत के अनुसार उत्सृष्टिकांक में एक ही अंक, कोहल के अनुसार दो अंक तथा व्यास व आंजनेय के अनुसार तीन अंक होते हैं ।[5] यतश्च वर्तमान उपलब्ध नाट्यशास्त्र कोई संख्या निर्धारित नहीं करता, यह सम्भव है कि भरत का मत (अस्यांकमेकं भरतो) कुछ प्राचीन विद्वानों से, जो कि भरत नाम से ही प्रसिद्ध थे, लिया गया है । कोहल को मुख व निर्वहण—ये दो सन्धियाँ उत्सृष्टिकांक में स्वीकार हैं, जबकि कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार इसमें ईहामृग के समान सन्धियों की योजना होनी चाहिए तथा दूसरी ओर कुछ अन्य मतानुसार उत्सृष्टिकांक में डिम के समान सन्धियाँ चाहिए ।[6] इन सब मतों में से कोई भी मत नाट्यशास्त्र-विषयक किसी अन्य ग्रन्थ में वर्णित दृष्टिगोचर नहीं होता ।

---

१. भा० प्र० पृ० २५१, पं० ६ ।

२. ना० द० २/२८-३६, सू० १४०-१५३ ।

३. ना० शा० चौ० २०/६७-६६ ; भा० प्र० पृ० २५१ पं० १०-१६ ।

४. ना० शा० चौ० २०/१०० ; भा० प्र० पृ० २५१ पं० १४, १६-१६ ।

५. अस्यांकमेकं भरतो द्वावंकाविति कोहलः ॥
व्यासांजनेयमुखः प्राहुरंकत्रयं यदा ॥
—भा० प्र० पृ० २५१ पं० २०–२१ ।

६. मुख निर्वहणे सन्धी इति कोहलभाषितम् ।
ईहामृगवदित्यन्ये केऽप्याहुर्डिम सन्धिभिः ॥
—भा० प्र० पृ० २५१ पं० २३–२४ ।

जिन युद्धों ने प्राचीन काल में दिव्य वीरों के मध्य में या वीर योद्धा जातियों के साथ में स्थान प्राप्त किया, वे भारतवर्ष में वर्णित होने चाहिए, क्योंकि यह कर्मभूमि के नाम से प्रसिद्ध है।[1] इस प्रकार के रूपकों की समीक्षा करने के लिए शारदातनय तीन नाटकों को रखते हैं, जिनमें शक्ति के द्वारा लक्ष्मण की मृत्यु का, जीमूतवाहन का तथा चन्द्रापीड़ का, जहाँ नाटक प्रहसन के रूप में समाप्त होता है, वर्णन किया गया है।[2] अतः उत्सृष्टिकांक में वधादि का प्रयोग पुनर्जीवन-धारण के लिए ही होता है।[3] नाट्यदर्पणकार[4] के अनुसार उत्सृष्टिकांक प्रसिद्ध युद्ध-कथा पर आधारित वस्तु वाला, पुरुष नायक वाला, भाण की भाँति भारती वृत्ति तथा मुख व निर्वहण सन्धि वाला, वाग्युद्ध से युक्त तथा करुणरस प्रधान होता है। साहित्यदर्पणकार[5] के अनुसार उत्सृष्टिकांक एक अंक वाला, साधारण पुरुष नायक वाला, करुणरस प्रधान, स्त्री विलाप से युक्त, कवि के बुद्धिकौशल से विस्तृत प्रख्यात इतिवृत्त वाला, भाण के समान सन्धि, वृत्ति तथा अंगों वाला, युद्ध की जय-पराजय को वाणी द्वारा सूचित करने वाला निर्वेद वचन वाला होता है। साहित्यदर्पण के इस वर्णन पर नाट्यदर्पण तथा भावप्रकाशन निरूपण का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। शिंगभूपाल ने जो उत्सृष्टिकांक लक्षण प्रतिपादित किया है, उस पर शारदातनय का प्रभाव पूर्णरूपेण जान पड़ता है। शिंगभूपाल के अनुसार यह रूपक अमंगलकारी होने पर भी अन्त में कल्याण युक्त हो जाता है।[6] पहले वध की सूचना, तत्पश्चात् पुनर्जीवनधारण इसी का तो सूचक है।[7] शिंगभूपाल ने उत्सृष्टिकांक में दो विष्कम्भक तथा प्रवेशक की योजना स्वीकार की है, उस पर शारदातनय के मत का पूर्ण प्रभाव है।[8] यथा

---

१. ना० शा चौ० २०/१०१-१०२ ; भा० प्र० पृ० २५२ पं० १-३।

२. भा० प्र० पृ० २५२ पं० ४-१०।

३. न वधादयः क्वचित्स्यु : निबन्धनीयाः प्रयोज्याश्च ॥
   भवेयुः क्वापि यथेते प्रत्युज्जीवन्त्यनन्तरम् ।
   —भा० प्र० पृ० २५२ पं० ४-५।

४. ना० द० २/२३ सं० १३६।

५. सा० द० ६/२५०-२५२।

६. र० सु० ३/२२४-२२८।

७. भा० प्र० पृ० २५२ पं० ५

८. भा० प्र० पृ० २५१. पं० २२ ; र० सु० ३/२२६।

'गंगाभागीरथ' में कपिल के द्वारा सगरपुत्रों के वध की सूचना प्रवेशक के द्वारा दी गई है ।[१]

ईहामृग– शारदातनय ने ईहामृग की परिभाषा भी भरत एवं धनंजय के ही आधार पर प्रस्तुत की है ।[२] ईहा का अर्थ है – इच्छा (तृष्णा) । मृग का अर्थ है—अन्वेषण करना । 'मृग्' धातु में 'क' प्रत्यय लगाकर 'मृग' शब्द निष्पन्न होता है ।[३] 'मृग' शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही चारा खोजने वाले अन्वेषक पशु के अर्थ में होता रहा है ।[४] ऋग्वेद में अश्वमृग, हस्तिमृग आदि शब्द प्राप्त होते हैं । कालान्तर में 'मृग' शब्द एक विशेष पशु के लिए प्रयुक्त होने लगा । वैदिक कालीन अर्थ को ही दृष्टि-पथ में रख कर सम्भवतः भरत ने इस रूपक-प्रकार को ईहामृग इसलिए कहा क्योंकि इसमें अमरस्त्रियों (दिव्यस्त्रियों) की खोज (मार्गण) की जाती है ।[५] तृष्णा से व्याकुल मृग के समान नायक भी नायिका को प्राप्त करने की इच्छा अथवा वांछा करता है, अतः इसे 'ईहामृग' कहते हैं ।[६] विश्वनाथ ने ईहामृग का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, उस पर शारदातनय का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।[७] भरत की भाँति धनंजय, शारदातनय तथा विश्वनाथ ने वध का क्षण उपस्थित हो जाने पर भी इहामृग में उसका शमन होना प्रतिपादित किया है ।[८] शारदातनय के अनुसार इसमें चार, पाँच अथवा छः नायक-प्रतिनायक हो सकते

---

१. निबन्धेसूच्य एवांकविच्छत्येष प्रवेशकैः ।
यथासगरपुत्राणां कपिलेन वधः कृतः ।।
प्रवेशकै : सूचितोऽङ्कच्छेदैगंङ्गाभगीरथे ।

—भा० प्र० पृ० २५२ पं० १३-१५ ।

२. ना० शा० चौ० २०/८५-८७ ; द० रू० ३।७२-७५ भा० प्र० पृ० २५३ पं० ७-१६ ।

३. मृगयते अन्वेषयति तृणादिकं मृग्यते वा इति ।

—शब्द कल्पद्रुम तृतीय काण्ड, पृ० ४६४ ।

४. मृगो न धीमः कुचरो गिरिष्ठा : । ऋ० वे० १/१५४/२ ।

५. ईहामृगेऽपि ते स्युः केवलममरस्त्रियो ह्यस्मिन् । — ना० शा० चौ० २०/८६ ।

६. नायको मृगवत् अलभ्यामपि नायिकामीहते वांछते वा इति ईहामृगः ।

—शब्दकल्पद्रुम, प्रथम काण्ड, पृ० २१८ ।

७. भा० प्र० पृ० २५३ पं० ७-१७ ; सा० द० ६/२४५।२४६ ।

८. ना० शा० चौ० २०/८६ ; द० रू० ३/७५ ; भा० प्र० पृ० २५३ पं० १७-१८; सा० द० ६/२४६ ।

हैं। नाट्यदर्पणकार ने इसके द्वादश नायक माने हैं। सागरनन्दी ने छः ही नायक कहे हैं।[१] कुछ अन्य आचार्यों के अनुसार भी इसमें छः नायक ही होने चाहिए।[२] इसके नायक देव तथा मानव दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं।[३] धनंजय एवं शारदातनय इसमें चार अंक, नाट्यदर्पणकार एक अथवा चार अंक, विश्वनाथ केवल एक अंक, सागरनन्दी चार अंक तथा शिंगभूपाल भी चार अंक स्वीकार करते हैं।[४] अधिकांश समर्थन चार अंकों के मत के प्रति अभिलक्षित होता है। धनंजय ने श्रृंगाराभास, शारदातनय ने भयानक एवं वीभत्स से रहित षड्रस, सागरनन्दी ने भी छः रस; विश्वनाथ ने श्रृंगाराभास तथा शिंगभूपाल ने वीभत्स रस की योजना का प्रतिपादन किया है।[५] शारदातनय ने ईहामृग कैशिकी वृत्ति से हीन अथवा युक्त भी कहा है, जबकि सागरनन्दी व शिंगभूपाल इसे कैशिकी वृत्ति से सर्वथा हीन कहते हैं।[६] विद्वानों ने इसमें कहीं-कहीं श्रृंगाराभास की योजना निर्दिष्ट की है, अतः शारदातनय के द्वारा कभी-कभी कैशिकी वृत्ति की उपस्थिति मानना उपेक्षणीय नहीं है, साथ ही उन्होंने ईहामृग में कैशिकी के अतिरिक्त अन्य तीनों वृत्तियों का विधान प्रतिपादित किया है।[७] दशरूपककार तथा नाट्यदर्पणकार ने ईहामृग का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। शारदातनय इसके लिए 'कुसुमशेखर' का नाम उदाहारण-स्वरूप उल्लिखित करते हैं, जिसका अनुसरण विश्वनाथ ने भी किया है।[८]

---

१. भा० प्र० पृ० २५३ पं १२ ; ना० द० २/२६ सूत्र १३८ ; ना० ल० को० पृ० ११८।
२. सा० द० ६/२५० (·········· नायका : षडितीतरे।)
३. द० रू० ३/७३, ना० द० २/२५ सूत्र १३८, भा० प्र० पृ० २५३ पं० १०, सा० द० ६/२४८, र० सु० ३/२८५।
४. द० रू० ३/७२ ; भा० प्र० पृ० २५३ पं० १६ ; ना० द० २/२५ सूत्र १३८, सा० द० ६/२४६, ना० ल० को० पृ० ११८, र० सु० ३/२८५।
५. द० रू० ३/७४, भा० प्र० पृ० २५३ पं० १५; ना० ल० को० पृ० ११८, स० द० ६/२४७, र० सु० ३/२८७।
६. भा० प्र० पृ० २५३ पं० १४, ना० ल० को० पृ० ११८ (कैशिकी वृत्तिहीना········), र० सु० ३/२८७।
७. यथा समरसंरम्भतुल्यवृत्तिरसाश्रयाः।
वृत्तित्रययुतो हीनः कैशिक्या सहितोऽपिवा।
—भा० प्र० पृ० २५३ पं० १३-१४।
८. भा० प्र० पृ० २५३ पं० २१, सा० द० ६/२५०।

दशरूपकों की संख्या

रूपकों की संख्या- निर्धारण के विषय में विद्वानों में कहीं-कहीं मत-वैभिन्य परिलक्षित होता है अतः यह विषय विचारणीय है। अग्निपुराण की तरह नाट्य-शास्त्र में भी मुख्य रूपक दशविध ही माने गये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं— नाटक, प्रकरण, डिम, ईहामृग, समवकार, प्रहसन, व्यायोग, भाण, वीथी तथा अंक।[1] परन्तु भरत ने नाटक तथा प्रकरण के योग से एक 'नाटी' नामक रूपक की भी रचना मानी है। सम्भवतः यह नाटिका ही है,[2] जिसे अग्निपुराणकार तथा अन्य विद्वान् 'नाटिका' ही कहते हैं।[3] किन्तु इस नाटिका की गणना मुख्य दश-रूपकों में नहीं की गई है। केवल नाट्यदर्पणकार[4] नाटिका के साथ-साथ 'प्रकरणी' को लेकर दशरूपकों में सम्मिलित करके मुख्य रूपकों की संख्या द्वादश प्रतिपादित करते हैं। ऐसा करते हुए उन्होंने जैन धर्म के 'द्वादशत्व' के प्रति अपनी श्रद्धायुक्त मान्यता प्रदर्शित की है। धनंजय ने भरत के ही आधार पर केवल दस रूपकों का ही वर्णन किया है। इन दोनों आचार्यों ने उपरूपकों का उल्लेख नहीं किया है।[5] अग्निपुराणकार ने दशरूपकों के अतिरिक्त सत्रह उपरूपक भी वर्णित किये हैं।[6] नाट्यदर्पण के ही समान काव्यानुशासन में भी मुख्य रूपक बारह माने गये हैं। हेमचन्द ने भरत निर्दिष्ट मुख्य दशरूपकों में सट्टक व नाटिका को समाविष्ट कर दिया है,[7] जबकि नाट्यदर्पणकार ने सट्टक के स्थान पर 'प्रकरणी' को रखा है। विश्वनाथ ने 'नाटिका' की गणना उपरूपकों में की है। उन्होंने दश मुख्य रूपकों के अतिरिक्त आठरह उपरूपकों का प्रतिपादन किया है।[8] शिंगभूपाल ने केवल मुख्य दशरूपकों का ही वर्णन किया है।[9]

---

१. अ० पु० अध्याय ३३८/१-२ ; ना० शा० चौ० २०/२–३
२. ना० शा० चौ० २०/६३, ६५।
३. अ० पु० ३३८/२, द० रू० ३/४३ (अवलोक भाग सहित), भा० प्र० पृ० २४३ पं० १७, सा० द० ६/२६६।
४. ना० द० १।३-४ सू० ३।
५. ना० शा० चौ० २०/१–३ ; द० रू० (तृतीय प्रकाश)।
६. अ० पु० ३३८।२-३।
७. का० अनु० पृ० ३१७।
८. सा० द० ६।२६६-३१२।
९. र० सु० (तृतीय विलासः)।

'दशरूपक' की रचना से पहले ही 'प्रकरणिका' को माना जा चुका होगा, इसीलिए तो 'दशरूपक' में 'प्रकरणिका' को अस्वीकार करके उसका खण्डन किया है[1] तथा केवल दश ही रूपक स्वीकार लिए गए हैं। डा० वी० राघवन ने भरत के नाटिकाविधान[2] के आधार पर यह प्रकल्पित किया है कि प्रकरणिका का मूल नाट्यशास्त्र में ही निहित है।[3] विश्वनाथ ने प्रकरणिका को उपरूपकों में स्थान दिया है। यद्यपि उन्हें इसका उदाहरण प्राप्त नहीं हो सका हैं।[4] नाट्यदर्पणकार ने तो प्रकरणिका को ही 'प्रकरणी' नाम से मुख्य रूपकों में सम्मिलित किया है।[5] विष्णुधर्मोत्तरपुराण तथा वाग्भट्ट कृत काव्यानुशासन में भी प्रकरणिका अथवा प्रकरणी का उल्लेख प्राप्त होता है।[6] अभिनवगुप्त भी प्रकरणिका से अपने दोनों ग्रन्थों अभिनव भारती तथा ध्वन्यालोक में परिचित हैं।[7] हेमचन्द्र ने बारह मुख्य रूपकों में जिस 'सट्टक' को रखा है, उसकी परिभाषा भोज[8] भी दे चुके हैं। यही नहीं, अभिनव गुप्त ने भी कोहल द्वारा सट्टक के प्रतिपादन की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए प्राकृतभाषायुक्त 'कर्पूरमंजरी' को उदाहरण-रूप स्वीकार किया है, तथा सट्टक की भाषा प्राकृत हो यह भी प्रतिपादित किया है।[9] वाग्भट्ट[10] ने सट्टक

---

१. द० रू० ३।४३.

२. नाटी संज्ञया दे काव्ये। एको भेदः प्रख्यातः नाटिकाख्यः।
इतरस्तु अप्रख्यातः प्रकरणिका संज्ञः।

—भोजाज् श्रृंगार प्रकाश—वी० राघवन, पृ० ५८६,

३. अनयोश्च बंधयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिः कार्यः।
प्रख्यास्त्वितरो वा नाटी संज्ञाश्रिते काव्ये॥

— ना० शा० २०।६०-६१ (काशी सं०)

अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः।
प्रकरणनायकभेदादुत्पन्नं वस्तु नायको नृपतिः॥ —ना० शा० चौ० २०।६०.

४. मृग्यमुदाहरणम्। —सा० द० ६।३०६. (व्याख्या भाग).

५. ना० द० २।८, सूत्र १२४.

६. वि० धर्मो० पु० ३।१७; का० अनु वाग्भट्ट—पृ० १८ (का० मा० सं)

७. अभि० भा० भाग २, पृ० २४६; ध्वन्या० लो० पृ० १४१.

८. भोजाज् श्रृंगार प्रकाश, पृ० ५४०-४१—वी० राघवन.

९. अभि० भा० भाग २, पृ० ५३६.

१०. का० अनु० (वाग्भट्ट) पृ० १८ का० मा०

को मुख्य रूपकों में न रखकर उपरूपकों में नियत किया है। शारदातनय[1] प्रकृष्ट प्राकृतमयी नाटिका को ही सट्टक कहते हैं । किन्तु सट्टक की गणना अपने दशरूपकों में उन्हें अभीष्ट नहीं है। उन्होंने मुख्य दशरूपकों के ही प्रसंग में नाटिका का वर्णन कर दिया है तथा भरत के आधार पर नाटिका को नाटक व प्रकरण के योग से संकरात्मिका स्वीकार किया है।[2] दश मुख्य रूपक तथा बीस उपरूपक मिलाकर शारदातनय ने रूपकों की संख्या कुल तीस स्वीकार की है।[3]

इस प्रकार भरत, धनंजय व अभिनवगुप्त के मत से मुख्य दशरूपक हैं तथा नाटी अथवा नाटिका को मिला लेने पर ग्यारह रूपक भेद हो जाते हैं। नाट्यदर्पणकार, हेमचन्द्र तथा भोज ने द्वादश मुख्य रूपक प्रतिपादित किये हैं। कुछ आचार्य सट्टक के साथ-साथ तोटक को भी रूपक-संख्या में ही सम्मिलित कर लेते हैं। अग्निपुराणकार रूपक व उपरूपक मिलाकर कुल सत्ताइस रूपक, विश्वनाथ कुल अट्ठाइस रूपक तथा शारदातनय कुल तीस रूपक-संख्या स्वीकार करते हैं। हेमचन्द्र द्वादश मुख्य रूपकों के अतिरिक्त डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक, काव्य और गोष्टी नामक आठ उपरूपक भी स्वीकार करते हैं। भोज[4] ने द्वादश मुख्य रूपकों में द्वादश उपरूपक जोड़कर कुल चौबीस रूपक माने हैं। हेमचन्द्र द्वारा मान्य आठ उपरूपकों में दुर्मल्लिका, हल्लीसक, नर्तक व नाट्यरासक और सम्मिलिति करने पर भोज कृत द्वादश उपरूपकों के नाम प्राप्त हो जाते हैं।

शिंगभूपाल[5] ने नाटिका व प्रकरणिका–दोनों को अस्वीकार करके केवल दस ही रूपकों का प्रतिपादन अपने ग्रन्थ 'रसार्णव सुधाकर' में किया है। शारदातनय ने भोज के द्वादश उपरूपकों में आठ उपरूपक—प्रेक्षक, सट्टक, उल्लोप्य, मल्लिका, कल्पवल्ली पारिजातक, तोटक तथा शिल्पक को समाविष्ट करके कुल बीस उपरूपकों की संख्या निर्धारित की है[6] जो उनकी मौलिक परिकल्पना का दिग्दर्शन

---

१. भा० प्र० पृ० २४४ पं० १७.

२. नाटकस्य प्रकरणस्योभयोः संकरात्मिका ।
लक्ष्यते नाटिकाऽप्यत्र संकीर्णान्यनिवृत्तये ॥ —भा० प्र० पृ० २४३ पं० १८-१९.

३. भा० प्र० पृ० २२१ पं० १३, पृ० २५५ पं० ७–१४.

४. शृं० प्र०, अध्याय ४ (अन्तिम अंश)

५. र० सु० ३।३-४.

६. भा० प्र० पृ० २२१ पं० ६-१०.

कराती है। इसके अतिरिक्त भरत-निर्दिष्ट मुख्य दशरूपकों को भरत की भाँति नाटिका के वर्णन सहित ही प्रस्तुत किया है।[1]

चार वृत्तियाँ—'वृत्वर्तने' धातु में क्तिन् प्रत्यय लगाने पर वृत्ति शब्द की व्युत्पत्ति हुई है।[2] भरत ने वृत्तियों के स्रोत को वैदिक काल से ग्रहण करने की परिकल्पना की है। भारती वृत्ति ऋग्वेद से, सात्वती वृत्ति यजुर्वेद से, कैशिकी वृत्ति सामवेद से तथा आरभटी वृत्ति अथर्ववेद से उद्भूत हुई।[3] इसके अतिरिक्त वृत्तियों के उद्भव के लिए नाट्यशास्त्र में विष्णु तथा मधुकैटभ के द्वन्द्व-की पौराणिक कथा[4] का संदर्भ भी प्राप्त होता है। उस द्वन्द्व-युद्ध के अवसर पर भगवान् विष्णु के द्वारा अंग, वचन तथा मन के विविध व्यापारों का यथाविध प्रदर्शन एव संचालन हुआ, उनसे ही चार वृत्तियों का उद्भव हुआ। पादन्यास के द्वारा भूमि पर अधिक भार होने से 'भारती वृत्ति' उद्भूत हुई। शार्ंगधर धनुष का तीव्र संचालन करने से 'सात्वती' वृत्ति' निस्सृत हुई। लीला युक्त विचित्र अंगहारों के द्वारा शिखा के पास से 'कैशिकी वृत्ति' हुई। वेगबाहुल्य के साथ नानाविध चारियों, करणों व चित्रों के योग तथा युद्ध से 'आरभटी वृत्ति' का उद्भव हुआ।[5]

इसके अतिरिक्त वृत्तियों के उद्भव के लिए नाट्शास्त्र में यह भी कहा गया है कि भरतों ने अपने ही नाम के आधार पर भारतीवृत्ति का उद्भव किया।[6] सात्वती तथा आरभटी का प्रचलन भरतों ने स्वयं ही किया परन्तु कैशिकी में श्रृंगार की प्रधानता के कारण उसमें स्त्रियों की आवश्यकता होने पर भरत ने ब्रह्मा से अनुरोध किया। ब्रह्मा ने सुकेशी, मंजुकेशी आदि अप्सराओं को कैशिकी के प्रयोग के लिए भरत को दिया। भरत को कैशिकी वृत्ति के प्रयोग की प्रेरणा भगवान शिव के अंगहार युक्त, सुलक्षण वेशभूषा तथा श्रृंगाररसात्मक नृत्य से प्राप्त हुई।[7]

---

१. भा० प्र० पृ० २२१ पं० ४-५.

२. शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थकाण्ड, पृ० ४७६.

३. ऋग्वेवाद् भारती वृत्तिर्यजुर्वेदात्तु सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा॥ —ना० शा० चौ० २२।२४.

४. ना० शा० चौ० २२।१-१०.

५. ना० शा० चौ० २२।११-१४.

६. स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः।
—ना० शा० चौ० २२।२५.

७. ना० शा० चौ० १।४५-५०.

वृत्ति-उद्भव के वैदिक स्रोत का उल्लेख शारदातनय ने भी किया है। विष्णु तथा मधुकैटभ के द्वन्द्व युद्ध की पौराणिक कथा की चर्चा भी इस संदर्भ में वे करते हैं।[१] कुछ मतों के अनुसार भरत ने (कैशिकी के अतिरिक्त) तीन वृत्तियों को प्रसूत किया तथा दूसरे मतानुसार भरत ने केवल भारती की उद्भावना की।[2] ये सब परम्पराएँ शारदातनय ने नाट्यशास्त्र के आधार पर वर्णित की हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त उन्होंने एक अन्य परम्परा का भी उल्लेख किया है कि शिव-पार्वती का नृत्यावलोकन करते हुए ब्रह्मा के मुख से चारों वृत्तियाँ निस्सृत हुईं।[3] शारदातनय का कथन है कि वृत्तियों की जिस शैव उत्पत्ति का कथन भरत ने प्रथम अध्याय में किया है, उसकी उत्पत्ति व्यास के मतानुसार है।[4]

इन चारों वृत्तियों के स्वरूप व अंगों का निरूपण करने से पूर्व इन वृत्तियों का सामान्य अर्थ, स्वरुप तथा महत्त्व प्रतिपादित करना श्रेयस्कर है। दशरूपकों के लक्षण-प्रतिपादन के अवसर पर इन वृत्तियों का न्यूनाधिक प्रयोग अपेक्षित हुआ है। सम्पूर्ण नाट्य-प्रयोग के लिए भी वृत्तियों का अत्यधिक महत्त्व है। इसीलिए भरत ने वृत्तियों को 'नाट्य की जननी' कह कर कोई अतिशयोक्ति नहीं की है।[५] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार वृत्ति वह होती है जिसके कारण नाट्य में रस का संचरण हो अथवा रस वर्तमान हो।[६] भिन्न-भिन्न आचार्यों ने वृत्ति को विभिन्न रूपों में व्यवहृत किया है यथा—चेष्टा, वृत्ति, व्यवहार, विलासविन्यास क्रम आदि।[७] अभिनवगुप्त तथा नाट्यदर्पणकार के अनुसार ये चारों वृत्तियाँ पृथक्-पृथक्

---

१. भा० प्र० पृ० १२ पं० ४-५, ८.

२. वृत्तित्रयं प्रसूतं भरतप्रोक्ता च भारतीत्यपरे। —भा० प्र० पृ० १२ पं० ६।

३. भा० प्र० पृ० १२ पं० १०-११।

४. व्यास प्रोक्तेन मार्गेण कथयामि यथार्थतः.........।

—भा० प्र० पृ० ५५ पं० २१-२२, पृ० ५६-५७।

५. ना० शा० २२।६४; अभि० भा० भाग २, पृ० ३४८।

६. सा० द० पृ० ३५४ (तर्कवागीश की टीका)

७. (क) यद्यपि काय वाङ् मनसां चेष्टा एव सहवैचित्र्येण वृत्तयश्च ...

—अभि० भा० भाग ३, पृ० ८२-८३।

(ख) व्यवहारो वृत्तिरित्युच्यते। —ध्वन्या० लो० ३।३३।

(ग) चेष्टा विन्यासक्रमः वृत्तिः। —काव्य मी० (राजशेखर) पृ० ६।

होती हुई भी प्रत्येक स्थान पर समवेत रूप से वर्तमान रहती हैं। उनमें से जो प्रधान होती है, वही ध्वनित होती रहती है। क्योंकि वाचिक, मानसिक व कायिक चेष्टाएँ भी परस्पर मिलकर ही एक दूसरे को पूर्णता प्रदान करती हैं। इसी प्रकार कोई भी वृत्ति दूसरी वृत्तियों के योग के बिना निष्पन्न ही नहीं हो सकती।[1] वृत्ति का विशेष गुण वह सौन्दर्य है जो प्रेक्षकों के मन को सुष्ठु रूपेण मुग्ध कर देता है।[2] यह वृत्ति दर्शक के व्यक्तिगत स्वरूप को प्रभावित नहीं करती, अपितु साधारणीभूत प्रेक्षक के अन्तःकरण को मुग्ध तथा प्रभावित करती है तथा रसानुभव को उत्पन्न करती हैं।

अभिनवगुप्त के अनुसार—करुण तथा बीभत्स रस के प्रदर्शन में भारती वृत्ति, अद्भुत एवं शान्त रस के प्रदर्शन में सात्वती वृत्ति, श्रृंगार तथा हास्य में कैशिकी वृत्ति तथा भयानक व रौद्र के प्रदर्शन में आरभटी वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए।[3] शारदातनय ने भी रस तथा अभिनय में वृत्ति की व्यवस्था का निरूपण किया है यथा—श्रृंगार में कैशिकी, वीररस में सात्वती, रौद्र तथा बीभत्स में आरभटी तथा भारती वृत्ति सर्वत्र (सब रसों के प्रदर्शन में) प्रयुक्त की जा सकती है।[4] इस कथन का प्रभाव विश्वनाथ पर पड़ा है।[5] श्रृंगारादि रसों की निस्सृति कैशिकी आदि उन चार वृत्तियों से शारदातनय ने प्रतिपादित की है, जो कि ब्रह्मा के क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तरमुख से आविर्भूत हुईं। इनमें से कैशिकी वृत्ति व श्रृंगार रस को भरतों के द्वारा 'त्रिपुरमर्दन' में अभिनीत किया गया था। सात्वती वृत्ति तथा वीररस को 'दक्षाध्वरध्वंस' में अभिनीत किया गया था। आरभटी वृत्ति तथा रौद्र रस को नटों के द्वारा शिव के कल्पान्त-कर्म के रूप में अभिनीत किया गया; एवं भारती वृत्ति व बीभत्स रस को शंकरादि ने व्यक्त किया।[6]

---

१. अभि० भा० भाग ३, पृ० ९१; ना० द० १।१०३ सूत्र १५५।

२. अभि० भा० भाग ३, पृ० ८३।

३. अभि० भा० भाग ३, पृ० १०५।

४. श्रृंगारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती॥
—भा० प्र० पृ० १२ पं० १७-१८।

५. सा० द० ६।१२२।

६. भा० प्र० पृ० ५६ पं० २२ से पृ० ५७ पं० १-११ तक।

भारती आदि वृत्तियों की वाचिकादि चतुर्विध अभिनय के साथ व्यवस्था भी शारदातनय ने स्थापित की है।[1]

भोज ने वृत्ति का सामान्य स्वरूप रमणीय रूप में प्रस्तुत किया है।[2] धनंजय वृत्ति को व्यापारात्मिका कहते हैं[3], जिसकी व्याख्या धनिक इस प्रकार करते हैं कि नेता के व्यापार-स्वभाव के अनुरूप ही वृत्ति की योजना होती है।[4] भरत की भाँति रामचन्द्र-गुणचन्द्र एवं विश्वनाथ ने भी स्वीकार किया है कि वृत्तियाँ अभिनेय काव्य की जननी के समान हैं, क्योंकि वे उसकी उत्पादिका होती हैं।[5] शिंगभूपाल कृत वृत्ति-निरूपण भरत व शारदातनय से प्रभावित है।[6] यहाँ वृत्तियों के चार भेदों के अंगों व स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत है—

भारतीवृत्ति—शिंगभूपाल ने इस वृत्ति को भारती इसलिए कहा है क्योंकि यह भरत अर्थात् नट की वृत्ति है।[7] दशरूपक में भी भारतीवृत्ति को नटाश्रित तथा वाक्व्यापार युक्त कहा गया है। इस कथन पर भरत का प्रभाव है क्योंकि नाट्यशास्त्र में भारती वृत्ति को वाणी (भारती) से सम्बद्ध कहा गया है।[8] विश्वनाथ ने इसे नटाश्रयः न कहकर 'नराश्रयः' कहा है, अतः उनके अनुसार पुरुष-पात्रों के द्वारा प्रयुक्त संस्कृतमयी वाणी को भारती वृत्ति कहते हैं।[9] भरत के अनुसार जिसमें वाक् की प्रधानता हो, पुरुषों द्वारा प्रयोज्य, स्त्री का अभाव हो, संस्कृत-वाक्यों से युक्त हो तथा स्वनामधेय भरतों (नटों) के द्वारा प्रयुक्त हो, वह भारतीवृत्ति

---

१. वाचिकं सात्त्विकं नृत्तमाहार्यं च तथांगिकम्।
यथाक्रमं नियमितं भारत्याद्यासु वृत्तिषु॥
—भा० प्र० पृ० १२ पं० १५-१६।

२. या विकासेऽथ विक्षेपे संकोचे विस्तरे तथा।
चेतसो वर्तयित्री स्यात् सा वृत्ति·····॥ —स० कण्ठा० २।३४।

३. तद्व्यापारात्मिका वृत्तिः। —द० रू० २।४७।

४. प्रवृत्तिरूपः नेतृव्यापारस्वभावो वृत्तिः।
द० रूपकावलोक २।४७ (व्याख्या भाग) पृ० १३४ (चौ०)

५. ना० द० ३।१०३, सूत्र १५५, सा० द० ६।१२३।

६. र० सु० १।२४४-२६०।

७. र० सु० १।२६१।

८. ना० शा० चौ० २२।६; द० रू० ३।५।

९. सा० द० ६।२९।

कहलाती है। भरत-कृत वर्णन का ही प्रभाव परवर्ती नाट्यग्रन्थकारों पर अभिलक्षित होता है।[1] अभिनवगुप्त भारती वृत्ति को 'पाठ्यप्रधाना' तथा 'वाग्वृत्ति' के नाम से अभिहित करते हैं।[2] समस्त विद्वानों के अनुसार भारती वृत्ति को सर्वत्र संचरणशील भी माना गया है क्योंकि कोई भी नाट्य या रूपक ऐसा नहीं होता जिसमें वाग्व्यापार की सहायता न होती हो। अतः भारतीवृत्ति सर्वाधिक व्यापक है। इसमें वाचिक अभिनय का बाहुल्य रहता है।[3] इस वृत्ति में बीभत्स, अद्भुत व करुण की अधिकता इसलिए रहती है[4] कि भारती वृत्ति की 'वाग्व्यापार' नामक विशेषता इन रसों में भी बहुलता से विद्यमान रहती है। तथापि इसे समस्त रसों में प्रयुक्त मानना अधिक उपयुक्त है[5] क्योंकि वाग्व्यापार की आवश्यकता और उपयोगिता तो प्रत्येक स्थल पर सिद्ध ही है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि भारती वृत्ति का सर्वत्र प्रयोग हर स्थिति में सर्वत्र आवश्यकीय है ही। क्योंकि उत्तम प्रकृति के पात्र करुण अद्भुतादि रस की चरम सीमा प्रदर्शित करने के लिए सर्वथा मौन भी हो जाया करते हैं।

भारती वृत्ति के चार अंग होते हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख। धनंजय, नाट्यदर्पणाकार तथा शारदातनय ने इन सब अंगों का वर्णन भरत कृत-वर्णन के आधार पर ही किया है।[6] आमुख अथवा प्रस्तावना के भरत कृत[7] पाँच भेद उद्घात्यक आदि में से शारदातनय ने केवल तीन को ही स्वीकार किया है—कथोद्घात, प्रयोगातिशय तथा प्रवर्त्तक। इनका उन्होंने सोदाहरण विस्तृत एवं स्पष्ट निरूपण भी प्रस्तुत किया है।[8] अवगलित तथा उद्धात्यक को वे वीथ्यंगों में

---

१. ना० शा० चौ० २२।२५; द० रू० ३।५; ना० द० ३।२ सूत्र १५६; भा० प्र० पृ० २२८ पं० १५-१८; र० सु० १।२६१।
२. अभि० भा० भाग ३।
३. भा० प्र० पृ० १२ पं० १५-१६।
४. ना० शा० चौ० २३।६६; भा० प्र० पृ० ५७ पं० ९।
५. द० रू० २।६२; भा० प्र० पृ० १२ पं० १८।
६. ना० शा० चौ० २२।२६-३६; द० रू० ३।६-८; ना० द० वि० ३; का० १०५-१०६; सू० १५८-१५९, भा० प्र० पृ० २२८ पं० १९-२२ से पृ० २२९ पं० १-१२ तक।
७. ना० शा० चौ० २२।३०।
८. भा० प्र० पृ० २२९ पं० ९-२२।

परिगणित करते हैं। अवगलित के भी दो प्रभेद उन्होंने कहे हैं—प्रस्तुतार्थ समावेश, अप्रस्तुत-समावेश। इन दोनों के उदाहरण भी प्रस्तुत करने में वे जागरूक हैं। उद्घात्यक के भी दो भेद निरूपित करके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। आगे वे प्रसंगवश शेष प्रपंचादि वीथ्यंगों का सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं।[1]

सात्वती वृत्ति—सात्विक गुणों से युक्त, न्याय वृत्त से समन्वित, एक ओर उत्कट हर्ष व दूसरी ओर संहृत शोक वाली वृत्ति 'सात्वती' कहलाती है। यह वाचिक एवं आंगिक अंगों से एवं सत्वाधिकार से युक्त होती है। इसमें वीर, अद्भुत तथा रौद्ररस की अधिकता तथा अल्प करुण श्रृंगार से युक्त होती है। इसमे उद्धत पुरुष परस्पर आकर्षण करते रहते हैं। इसके चार अंग अथवा भेद होते हैं—उत्थापक, परिवर्तक, संलापक तथा ससंघात। इन सबका भरत ने पृथक्-पृथक् लक्षण भी प्रतिपादित किया है।[2] सात्वती वृत्ति के विषय में भी परवर्ती आचार्यों ने भरत का अनुसरण किया है।[3]

कैशिकी वृत्ति—मनोहर, विशेष तथा विभिन्न वेश-भूषा, स्त्री पात्रों से युक्त, नृत्तगीत के बाहुल्य से युक्त, कामोपभोग से समृद्ध, श्रृंगार रसयुक्त वृत्ति कैशिकी होती है।[4] नाट्यदर्पणकार[5] ने कैशिकी की उत्पत्ति 'केश' शब्द से मानी है। लम्बे केशों से युक्त होने के कारण स्त्री को 'केशिका' कहा जाता है। अतः स्त्री पात्रों के द्वारा नियोजित होने के कारण यह 'कैशिकी' वृत्ति कहलाती है। नाट्यदर्पणकार कृत कैशिकी का लक्षण भरत से ही मूल ग्रहण करता है। उन्हें केशविन्यास वाली कल्पना का बीज भी भरत से ही प्राप्त हुआ होगा।[6]

अभिनवगुप्त के अनुसार यह वृत्ति सौन्दर्य तथा वैचित्र्य से पूर्ण होने के

---

१. भा० प्र० पृ० २३० पं० ६-२२, पृ० २३१ पं० १-४, ६-२२, पृ० २३२ पं० १-२२, पृ० २३३ पं० १-१४।
२. ना० शा० चौ० २२।३८-४५।
३. द० रू० २।५३ ; ना० द० ३।५ सूत्र १६० ; भा० प्र० पृ० १२ पं० १५-१८; सा० द० ६।१२८-१३२ ; र० सु० १।२६२-२६७।
४. ना० शा० चौ० २२।४७।
५. ना० द० ३।६ सूत्र १६१।
६. बबन्ध यः शिखापाशं कैशिकी तत्र निर्मिता। —ना० शा० चौ० २२।१३।

कारण शृंगार के अतिरिक्त रौद्र-वीरादि रसों में भी वर्तमान रहती है।[1] धनंजय, विश्वनाथ तथा शिंगभूपालादि आचार्यों के कैशिकी-लक्षण भरत से प्रभावित जान पड़ते हैं।[2]

भरत ने कैशिकी वृत्ति के भी चार अंग माने हैं - नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट तथा नर्मगर्भ[3]। इसी आधार पर धनंजय, विश्वनाथ तथा शिंगभूपाल भी कैशिकी के भेदों का प्रतिपादन करते है। सभी ने नर्म को त्रिविध रूप में चित्रित किया है -- विशुद्ध हास्य युक्त, शृंगार मिश्रित हास्य युक्त, तथा भय मिश्रित हास्ययुक्त।[4] नाट्यदर्पण-कार ने कैशिकी के नर्मादि भेदों में से केवल नर्म गर्भ का ही उल्लेख किया है। धनंजय, सागरनन्दी विश्वनाथ एवं शिंगभूपाल ने नर्म गर्भ के अठारह भेद निरूपित किए हैं।[5] नर्म गर्भ में शृंगारोपयोगी सौन्दर्य-शोभा प्रच्छन्न रूप से मानो एक प्रकार से गर्भ में स्थित रहती है, इसीलिए वह नर्म गर्भ होता है।

आरभटी वृत्ति—इस वृत्ति में प्रायः कपट वचन, दम्भपूर्ण अनृतवचन, युद्ध नियमों का उल्लंघन, विचित्र मायाजालादि होते हैं।[6] नाट्यदर्पणकार के अनुसार आर+भट+अण् से 'आरभटी' बना है। जिसमें भट आर (आरा, क्रीड़ा) के समान हों, उसे आरभटी कहते हैं।[7] यह वृत्ति आंगिक अभिनय से पूर्ण होती है।[8] किन्तु इसमें समस्त प्रकार के अभिनय की विधियाँ प्रयुक्त होती हैं, अतः इसमें आंगिक

---

१. रौद्रादि रसाभिव्यक्तावपि कर्त्तव्यायां योऽभिनय उपादीयते सोऽप्यनुप्रास वलनावर्तनाद्यात्मक सुन्दरवैचित्र्यस्यामिश्रणया दुःश्लिष्टोऽश्लिष्टएव वा न रसाभिव्यक्ति हेतुः भवतीति सर्वत्रैव कैशिकी प्राणाः शृंगाररसस्य तु नाम-ग्रहणमपि न तया बिना शक्यम्। —अ० भा० भाग १, पृ० २२।

२. द० रू० २।४७, सा० द० ६।१२४, र० सु० १।२६८।

३. ना० शा० चौ० २२।४८-५४।

४. द० रू० २।४८-५५ ; सा० द० ६।१२५-१२८ ; र० सु० १।२६९-२७९।

५. द० रू० २।५२ ; ना० ल० को पृ० १३३८-१३४६ ; सा० द० ६।१४६; र० सु० १।२७८-२७९।

६. ना० शा० चौ० २२।५६-५७।

७. आरेण प्रतोदकेन तुलया भटा उद्धताः पुरुषा आरभटाः। ते सन्त्यस्यामिति 'ज्योत्स्नादित्वादणि' आरभटी।

—ना० द० ३।६ सूत्र १६२ (व्याख्या भाग)।

८. भा० प्र० पृ० १२ पं० १५-१६।

के अतिरिक्त मानसिक व वाचिक, आहार्य आदि की भी सम्पन्नता होती है। धनंजय, विश्वनाथ तथा शिंगभूपाल ने भरत के ही अनुकरण के आधार पर आरभटी का स्वरूप प्रस्तुत किया है।[1]

भरत की ही भाँति आरभटी वृत्ति के चार अंग परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार किए हैं, यथा—संक्षिप्त, अवपात, वस्तूत्थापन तथा सम्फेट। संक्षिप्त की परिभाषा के विषय में भरत तथा अन्य आचार्यों में अन्तर अभिलक्षित होता है। वह यह कि भरत संक्षिप्त वस्तुविषय द्वारा मायापूर्ण रचना को 'संक्षिप्त' मानते हैं, जबकि परवर्ती आचार्यों ने 'संक्षिप्त' उसे कहा है,[2] जब नायकों की मनोवृत्ति में कोई परिवर्तन अथवा स्थान ग्रहण हो जाता है।

यद्यपि सात्वती तथा आरभटी—दोनों वृत्तियाँ युद्ध प्रधान होती हैं तथापि दोनों में अन्तर यह है कि सात्वती न्याय युक्त होती है, जबकि आरभटी माया-कपटादि युक्त होती है। सात्वती में हर्षातिरेक व शोकाभाव होने से यह धीरोदात्त नायक से सम्बद्ध रहती है, किन्तु आरभटी में तो उद्धत पात्र ही होते हैं।

प्रस्तावना, विष्कम्भक आदि

रूपकों में प्रस्तावना, विष्कम्भक, प्रवेशक चूलिका, अंकास्य, अंकावतार—(वंचार्थोपक्षेपकों) की योजना का अत्यन्त महत्त्व होता है, अतः ये भी स्वरूप-वर्णन की दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं हैं।

प्रस्तावना—भारती वृत्ति के स्वरूप-प्रतिपादन के अवसर पर उसके अंगों में जिसे 'आमुख' कहा गया है, उसी को 'प्रस्तावना' भी कहा जा सकता है।[3] शारदातनय ने प्रस्तावना के स्वरूप को अनेक प्रकार से स्पष्ट किया है। जहाँ सूत्राधार व नटी से युक्त कथावस्तु प्रस्तावित की जाती है उसे आमुख (प्रस्तावना) कहा जाता है। नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक का संल्लाप (वार्त्तालाप) सूत्राधार के साथ विचित्र वाक्यों व वीथ्यंगों के सहित किया जाता है, वहाँ 'प्रस्तावना' होती है। त्रयोदश वीथ्यंगों का योग आमुख के तीन अंग-प्रवृत्तक, कथोद्घात व प्रयोगातिशय-के साथ जहाँ किया जाता है, वहाँ प्रस्तावना होती है।[4]

---

१. द० रू० २।५६; सा० द० ६।१३२-१३४; र० सु० १।२८०-२८१.

२. ना० शा० चौ० २२।५६-६३; द० रू० २।५७-५६; सा० द० ६।१३४-१३६; र० सु० १।२८१-२८७; ना० ल० को० पृ० १३५६-१३६६.

३. आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनाऽपिवा। —भा० प्र० पृ० २२६ पं० ६.

४. भा० प्र० पृ० २२६ पं० २-११.

'प्रस्तुति' अर्थ में प्रस्तावना का तात्पर्य बताते हुए शारदातनय ने उसके उदाहरण स्वरूप 'मद्वर्ग्या रसपाठ' इत्यादि श्लोक को प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्रस्तावना के अंगों प्रवृत्तक कथोद्घातादि के भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।[1]

भरत ने प्रस्तावना की योजना पूर्वरंग के पश्चात् कही है, पूर्वरंग को भी प्रास्ताबक द्विज ही प्रयुक्त करता है। प्रस्तावना आमुख का ही दूसरा नाम है।[2] दशरूपककार के अनुसार जहाँ सूत्रधार नटी, पारिपार्श्विक या विदूषक के साथ, प्रस्तुत कार्य का आक्षेप करते हुए विचित्र उक्तियों द्वारा अपने कार्य को करें, उसे 'प्रस्तावना' कहते हैं। दशरूपक के इसी कथन का प्रभाव शारदातनय पर है। इन दोनों विद्वानों का प्रभाव साहित्यदर्पणकार पर स्पष्ट रूपेण परिलक्षित होता है। नाट्यदर्पणकार भी ऐसा ही वर्णन कर चुके हैं। शिंगभूपाल भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं।[3]

इस प्रकार शारदातनय के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती नाट्यकारों ने प्रस्तावना का स्वरूप प्रतिपादित करने में अधिकांशतः समान दृष्टिकोण को ही अपनाया है।
विष्कम्भक— विष्कम्भक का प्रयोग अंक के अनन्तर नाटक या प्रकरण की मुखसंधि में किया जाता है। इसका प्रयोग मध्यम कोटि के पात्र यथा–अमात्य, पुरोहित अथवा कंचुकी आदि करते हैं। प्रवेशक की भाँति इसमें संक्षिप्तार्थ वाले संस्कृत के वचनों का प्रयोग होता है। यह द्विविध होता है-शुद्ध व संकीर्ण। शुद्ध का प्रयोग मध्यम पात्रों द्वारा तथा संकीर्ण का प्रयोग अधम पात्रों द्वारा होता है।[4] अधम पात्रों द्वारा संस्कृत प्राकृत-मिश्रित प्रयुक्त की जाती है। दशरूपककार व नाट्यदर्पणकार के अनुसार विष्कम्भक में अतीत एवं भावी घटना क्रम का उल्लेख होता है।[5] इसलिए यह स्मृति द्वारा कथा भाग को सबल बनाता है। इन दोनों आचार्यों के द्वारा भरत के ही आधारपर शुद्ध व सांकीर्ण के भेद से विष्कम्भक द्विविध कहा गया है[6] कोहल के अनुसार इसका प्रयोग प्रथम अंक के आदि में होना उपयुक्त

---

१. भा० प्र० पृ० २२८ पं० २२, पृ० २२६ पं० १,१२-२२.

२. ना० शा० चौ० ५।१६८-१७५; ना० शा० (गा० ओ० सी०) २०।३०-३१.

३. द० रू० ३।८; भा० प्र० पृ० २२६ पं० ४-५; सा० द० ६।३१-३२; र० सु० ३।१५७-१५९; ना० द० ३।३ सू० १५७.

४. ना० शा० चौ० २०।३७-३९.

५. द० रू० १।५९-६०; ना० द० १।२३ सूत्र २०.

६. द० रू० १।५९–६०; ना० द० १।२४ सूत्र २०.

है ।[1] साधारणतया इसका प्रयोग दो अंकों के मध्य में कथा-शृंखला को सम्बद्ध करने के लिए सूच्य वस्तु की सूचना देते हुए किया जा सकता है ।

शारदातनय ने विष्कम्भक को इतिवृत्त के आदि में ही प्रयोज्य कहा है ।[2] अंक विन्यास के समय या नाटक के क्रम को प्राप्त करने के लिए प्रस्तावना के मध्य में भी इसका प्रयोग हो सकता है । 'तदेव' 'अत्र' 'आदि' शब्दों के द्वारा विष्कम्भक का प्रारम्भ किया जाना चाहिए—इस विशेष बात का भी उल्लेख शारदातनय ने किया है । इसके अतिरिक्त जहाँ नीरस वस्तु की सूचना दे दी जाती है, वहाँ भी विष्कम्भक होता है । जहाँ से सरस कथा प्रदर्शित की जा सकती है, वहाँ तक विष्कम्भक प्रयोग किया जा सकता है, और वहाँ से सरस वस्तु को प्रयोज्य किया जा सकता है ।[3] मातृगुप्त का भी यही मत है ।[4] इसका उदाहरण 'रामानन्द' नाटक में से प्रस्तुत किया गया है ।[5]

सूच्य कथावस्तु के विवेचन के समय शारदातनय पंच अर्थोपक्षेपकों का वर्णन करते हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकास्य व अंकावतार । विष्कम्भक को वे भी भरत की भाँति शुद्ध व संकीर्ण के भेद से द्विविध बताते हैं । शुद्ध में एक या अनेक मध्यम पात्र होते हैं, संकीर्ण में नीच या मध्यम पात्र होते हैं । विष्कम्भक को प्रथम अंक में ही रखना चाहिए, यही मत भोज ने भी प्रदर्शित किया है ।[6]

विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित विष्कम्भक के स्वरूप पर पूर्ववर्ती आचार्यों का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है । उन्होंने शुद्ध विष्कम्भक के लिए शारदातनय की भाँति 'मालती माधव' तथा संकीर्ण के लिए 'रामाभिनन्द' नाटक में से उदाहरण ग्रहण किया है । इस रामाभिनन्द को ही शारदातनय 'रामानन्द' कह चुके हैं ।[7]

---

१. (क) कोहलः पुनरेतं प्रथमांकादावेवेच्छति । —ना० द० १।२४.
(ख) कोहल—नाट्यवेद—अभि० भा० भाग २ (गा० ओ० सी०) पृष्ठ ४३४,

२. एवं विभक्तेतिवृत्तस्यादौ विष्कम्भकंन्यसेत् ।
—भा० प्र० पृ० २३४ पं० ११.

३. भा० प्र० पृ० २३४ पं० १२–१६.

४. भा० प्र० पृ० २३४ पं० २०–२२.

५. भा० प्र० पृ० २३५ पं० १–२.

६. भा० प्र० पृ० २१४ पं० २१–२२; पृ० २१५ पं० ७-६,२१; पृ० २१६ पं० १.

७. भा० प्र० पृ० २१५ पं० १०-११; पृ० २३५ पं० २; सा० द० ६।५५-५६.

शिंगभूपाल कृत विष्कम्भक वर्णन पर भी पूर्ववर्ती आचार्यों भरत, धनंजय, नाट्यदर्पणकार तथा शारदातनय का प्रभाव है। हाँ, उन्होंने शुद्ध विष्कम्भक के भी दो भेद किए हैं-- एक शुद्ध तथा अनेक शुद्ध। प्रथम का उदाहरण रत्नावली में से तथा द्वितीय का उदाहरण अनर्घराघव के षष्ठ अंक से उद्धृत करते हैं।[1]

प्रवेशक— विष्कम्भक पंचविध अर्थोपक्षेपकों में से प्रथम है। इसके अनन्तर 'प्रवेशक' आता है। शारदातनय ने विष्कम्भक एवं प्रवेशक भरत के मतानुसार भी वर्णित किए हैं। अधम व मध्यम पात्रों द्वारा प्रवेशक का प्रयोग होने पर प्राकृत भाषा तथा उत्तम यथा विट, मुनि, दैवत पुरुष द्वारा प्रवेशक का प्रयोग किये जाने पर संस्कृत भाषा को प्रयुक्त किया जा सकता है। सदैव दो अंकों के बीच में शेषार्थ का सूचक प्रवेशक होता है। प्रवेशक का प्रयोग प्रायः प्रथमांक में निषिद्ध होता है। प्रवेशक के द्वारा युद्ध, राज्यभ्रंश, मरण, नगरोपरोध तथा अप्रत्यक्ष कार्यों के संविधान की सूचना दी जानी चाहिए।[2]

प्रवेशक के द्वारा नायक के वध को कभी भी विधेय नहीं होना चाहिए, हाँ उसका अपसारण कराया जा सकता है। जैसे 'मारीचवंचित' नाटक में विभीषण का। इसके अतिरिक्त जैसे 'अश्वत्थामांक' में अश्वत्थामा नायक तथा नायिका वसागन्धा का अपसारण। प्रवेशक का पाठ्य अति प्रचुर मात्रा में नहीं होना चाहिए, संक्षेपार्थ में ही होना चाहिए, ताकि प्रेक्षकों की उत्सुकता नाटक के प्रति विद्यमान रहे। संक्षेप न होने से व प्रयोग बाहुल्य होने से खेद ही उत्पन्न होगा। प्रवेशक के द्वारा एक वर्ष से अधिक की कथा की सूचना का कार्य नहीं होना चाहिए। प्रवेशक के द्वारा दी जाने वाली सूचना में उक्ति अनुदात्त होनी चाहिए तथा उसका दो अंकों के मध्य में वृत्तवर्तिष्यमाण प्रवेश होना चाहिए।[3]

धनंजय ने भी प्रवेशक का स्वरूप भरत से प्रभावित होकर ही प्रस्तुत किया है। नाट्यदर्पणकार भी भरत-परम्परा से भलीभाँति परिचित होते हुए ही प्रवेशक का लक्षण करते हैं। विश्वनाथ तथा शिंगभूपाल भी पूर्ववर्ती आचार्यों के प्रवेशक वर्णन से प्रभावित हुए है। विश्वनाथ ने जो 'अश्वत्थामांक' का उदाहरण प्रवेशक के रूप में प्रस्तुत किया है, उसे उन्होंने भावप्रकाशन से ही ग्रहण किया है।

---

१. र० सु० ३।१७८-१८१।

२. ना० शा० चौ० २०।३१-३६; भा० प्र० पृ० २१५ पं० ५-६, २१; पृ० २१६ पं० २-२२; पृ० २१७ पं० १-३।

३. भा० प्र० पृ० २१५ पं० १६-२०; पृ० २१६ पं० ३-४, १५-२०; पृ० २१७ पं० २-६, १०-१६।

सागरनन्दी का विस्तृत प्रवेशक-विवेचन नाट्यशास्त्र की विचारधारा से ही सम्बद्ध है।[१]

चूलिका—अन्तर्यवनिका में स्थित सूत, मागध बन्दी इत्यादि पात्रों द्वारा किसी वस्तु की जो सूचना दी जाती है, वही चूलिका है। इसके उदाहरणस्वरूप शारदातनय ने 'एकैकानि शिरांसि' इत्यादि श्लोक को उद्धृत किया है।[2] शारदातनय कृत चूलिका वर्णन दशरूपक[3] से प्रभावित जान पड़ता है। परन्तु 'दशरूपक' में उदाहरण भिन्न है। वहाँ पर 'उत्तररामचरित' में द्वितीय अंक के आदि में चूलिका प्रदर्शित की गई है।[4] नाट्यदर्पणकार ने भी नेपथ्यस्थित पात्र द्वारा वस्तु-सूचना 'चूलिका' कही है। उन्होंने भी दशरूपक की भाँति ही इसका उदाहरण प्रस्तुत किया है। साथ ही 'रत्नावली' में से भी एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया है।[५] साहित्यदर्पण में किए गए चूलिका-वर्णन पर दशरूपक एवं शारदातनय की पूर्ण छाप है किन्तु उन्होंने इसका उदाहरण 'वीरचरित' में से उद्धृत किया है।[६] शिंगभूपालकृत चूलिका-वर्णन शारदातनय से प्रभावित है। हाँ, आगे वे खण्ड व निर्मिता के भेद से द्विविध चूलिका का प्रतिपादन करते हैं।[७]

चूलिका के विषय में सबसे विशिष्ट बात यह है कि इसके द्वारा वस्तु का सूचन रंगमंच पर से नहीं, अपितु यवनिका के अन्दर से होता है। साथ ही इसका प्रयोग अंक के मध्य में हो सकता है, जबकि विष्कम्भक व प्रवेशक का प्रयोग अंक के मध्य में कदापि नहीं होता।[८] शारदातनय ने भोज कल्पित चूलिका का भी उल्लेख किया है।[९]

---

१. द० रू० १।६०-६१; ना० द० १।२५; सा० द० ६।५७; भा० प्र० पृ० २१७ पं० १५-१६; र० सु० ३।१६४-१६५; ना० ल० को० पृ० ३०५-३०६।

२. भा० प्र० पृ० २१७ पं० १७-२०।

३. द० रू० १।६१।

४. (नेपथ्ये) स्वागतं तपोधनायाः (ततः प्रविशति तपोधना)—इति नेपथ्यपात्रेण-वासन्तिकयाऽऽत्रेयीसूचनाच्चूलिका। —द० रू० १।६१ (व्याख्या)

५. ना० द० १।२६, सू० २२।

६. सा० द० ६।५८।

७. र० सु० ३।१६२-१६४; भा० प्र० पृ० २१७ पं० १६।

८. ना० शा० (गा० ओ० सी०) १६।११३; ना० ल० को० पृ० ४३७-४३६।

९. भा० प्र० पृ० २१६ पं० ८।

अंकास्य—इसमें अंक के अन्त में प्रविष्ट होने वाले अन्तिम पात्र के द्वारा (उत्तरवर्ती) छिन्न अंक के अर्थ की सूचना दी जाती है। यथा 'वीरचरित' के द्वितीय अंक के अवसान में राम व भार्गव के मध्य सुमन्त्र प्रविष्ट होकर विश्वामित्र एवं वशिष्ठ के द्वारा आह्वान की सूचना देते हैं, वहाँ 'अंकास्य' है। इसी प्रकार तृतीय अंक में सुमन्त्र के प्रवेश के द्वारा राम व परशुराम के कलह के अविच्छेदन की सूचना भी 'अंकास्य' है।[१] भावप्रकाशन में वर्णित अंकास्य के इस स्वरुप पर धनंजय[2] का प्रभाव परिलक्षित होता है। नाट्यदर्पण एवं साहित्यदर्पण में प्रस्तुत अंकास्य वर्णन भी दशरुपक से ही प्रभावित जान पड़ता है।[३] शिगभूपाल[४] ने भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के आधार पर ही अंकास्य का स्वरुप व उदाहरण प्रस्तुत किया है।

अंकावतार—पूर्व अंक के पात्रों द्वारा अन्य पात्रों के आगमन की किन्हीं भी अर्थोपक्षेपकों के माध्यम से सूचना दिए बिना ही पूर्व अंक के पात्रों से ही जब पुनः दूसरे अंक का आरम्भ हो जाता है, उसे अंकावतार कहते हैं।[५] कुछ दूसरे मतों का भी वर्णन शारदातनय करते हैं जिनके अनुसार एक अंक के समाप्त होने पर दूसरे अंक की संक्षेप में सूचना ही अंकावतार है। यथा 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में प्रथम अंक के अवसान पर विदूषक द्वारा प्रवेश करके कही गई उक्ति 'अंकावतार' का उदाहरण है।[६] दशरूपक के अनुसार जहाँ प्रथम अंक की वस्तु का विच्छेद किए बिना दूसरे अंक की वस्तु चले, वहाँ अंकावतार होता है।[७] दशरूपक का अनुसरण शारदातनय ने किया है। क्योंकि यहाँ भी मालविकाग्निमित्र' से ही उद्धरण दिया गया है। दशरूपककार भी भरत से प्रभावित हुए हैं। मूल रूप से भरत का ही प्रभाव समस्त परवर्ती नाट्यग्रन्थकारों पर पड़ा है।[८]

---

१. भा० प्र० पृ० २१८ पं० १-६।
२. द० रु० १।६२ (अवलोक सहित); सा० द० ६।६० (व्याख्या भाग सहित)।
३. ना० द० १।२६ सूत्र २२।
४. र० सु० ३।१८८-१९०।
५. भा० प्र० पृ० २१८ पं० १३-१५।
६. भा० प्र० पृ० २१८ पं० १६-१९।
७. द० रू० १।६२।
८. ना० शा० (गा० ओ० सी०) १६।११५ ; ना० द० १।२७ सूत्र २३ ; सा० द० ६।४० ; र० सु० ३।१९१-१९३ ; प्र० रु० यशो० पृ० ११६।

कोहल[1] अंकास्य, अंकावतार तथा भरत निर्दिष्ट अंकमुख को अर्थोपक्षेपक न मानकर उन्हें अंक के भेदों के अन्तर्गत रखना अभीष्ट समझते हैं।

अंकमुख—भरत अर्थोपक्षेपकों में 'अंकास्य' के स्थान पर 'अंकमुख' की परिगणना करते हैं। अंकमुख में समस्त कथा के सर्वांगीण रूप की सूचना दी जाती है। इसका नियोजन प्रायः अंक के आरम्भ में ही कर दिया जाता है। इसके प्रयोक्ता पात्र स्त्री-पुरुष में से कोई भी हो सकते हैं।[2] शारदातनय ने जहाँ भोजकल्पित चूलिका का वर्णन किया है, उसी प्रसंग में अंकमुख तथा गर्भांक का भी उल्लेख किया है।[3] वैसे उन्होंने अंकमुख को अर्थोपक्षेपकों में स्थापित नहीं किया है। उसका पृथक् से वर्णन प्रस्तुत किया है।[4] उन्होंने 'अंकास्य' को ही माना है, जिसे भरत ने निर्दिष्ट नहीं किया है। नाट्यदर्पणकार के मत में 'अंकास्य' को ही अंकमूख मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[5] विश्वनाथ ने भरत का अनुसरण करते हुए 'अंकमुख' को अर्थोपक्षेपकों में परिगणित करने के पश्चात् पृथक् से 'अंकास्य' की परिभाषा भी दशरूपक के आधार पर प्रस्तुत कर दी है।[6] यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि विश्वनाथ का अंकमुख-वर्णन शारदातनय के 'अंकमुख' के लक्षण[7]

---

१. त्रिधांकोऽङ्कावतारेण चूडयाङ्ककेमुखेन वा।
   अनया त्वार्यया अंकस्य त्रैविध्यमुच्यते ॥
   अभि० भा० भाग २, पृ० ४१७ (कोहल की उद्धृत पंक्तियाँ)

२. ना० शा० (गा० ओ० सी०) १९।११६ (चौ० २१।११६)।

३. भा० प्र० पृ० २१९ पं० ८-११।

४. भा० प्र० पृ० २१८ पं० ७-१२।

५. ना० द० १।२६ सूत्र २२।

६. यत्र स्यादंक एकस्मिन्नंकानां सूचनाऽखिला ॥
   तदंकमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत्। —सा० द० ६।५९-६०

७. सूत्रणं सकलांकानां ज्ञेयमंकमुखं बुधैः।
   यथा सौदामिनी दार्णि धारेह सिरिपव्वदे ॥
   अवलोकितया पृष्टकामन्दकयुत्तरेण च।
   समासतः श्मशानादिकृतं सर्वांकसूत्रणाम् ॥
   अत्र मुखं विश्लिष्टं यथोपरि श्लिष्यते त्रिया वाक्यैः।
   पुरुषस्य वै तदंक मुखमिति सन्तो ह्युपदिशन्ति ॥
   —भा० प्र० पृ० २१८ पं० ७-१२।

का अनुसरण करता है। शारदातनय के अनुसार ही विश्वनाथ ने भी अंकमुख का उदाहरण 'मालतीमाधव' के पात्र कामन्दकी की 'सौदामिनी' इत्यादि उक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार उपर्युक्त अर्थोपक्षेपकों की योजना रूपकों के वस्तु-विधान की निर्बाध गति-प्रवाह के हेतु अत्यन्त ही ग्राह्य एवं उपादेय होती है, क्योंकि यह निश्चित है कि रंगमंच पर अनेक वर्जित दृश्यों को अभिनीत करके प्रेक्षकों के सम्मुख प्रस्तुत करना न सम्भव ही है, और न उपयुक्त ही। अतः अनेक स्थलों पर अनेक तत्त्वों की, अनेक घटनाओं की सूचना दे देना अत्यन्त अपेक्षित हो जाता है। इसी अपेक्षा को दृष्टि-पथ में रखकर नाट्य-विधान में अर्थोपक्षेपकों की जो परिकल्पना की गई है, वह समीचीन ही है।

विभिन्न मतों की समीक्षा

दशरूपकों में से सर्वप्रधान नाटक के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ प्राप्त होती हैं—एक तो भरत की, दूसरी सुबन्धु की। भरत-परम्परा का अनुमोदन तो परवर्ती आचार्यों द्वारा अधिकांशतः किया गया है, परन्तु सुबन्ध की परम्परा यदि शारदातनय ने ग्रहण करके अपने भावप्रकाशन में सुरक्षित न रखी होती, तो वह अवश्य ही लुप्त एवं दुष्प्राप्य हो गई होती। नाटक के नायक के लिए नाट्यशास्त्र में एक विशेषण प्रयुक्त हुआ है—दिव्याश्रयोपेतम्।[1] अभिनवगुप्त के अनुसार इसका तात्पर्य 'दिव्य पुरुष' से है। परन्तु इसका खण्डन करते हुए काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) कहते हैं कि भरत का तात्पर्य दैवी-पुरुष से न होकर दैवी-सहायता से रहा होगा। अतः नाटक का नायक तो मानव ही होना चाहिए। शारदातनय भी नाटक का नायक मनुष्य (नृपति) को मानते हैं, ऐसा प्रतीत होता है।[2] उन्होंने सुबन्धु के पंचविधि नाटकों के लक्षणों का निरूपण करते हुए सुबन्धु द्वारा मान्य जिन न्यासादि सन्धियों का दिग्दर्शन कराया है, उसमें सर्वथा नवीनता परिलक्षित होती है। पिष्टपेषण से हटकर वे नवीनता के प्रति आकर्षित हुए, इसी कारण से सम्भवतः उन्होंने सुबन्धु की परम्परा को नाटक के विषय में ग्रहण करना अभीष्ट समझा होगा। नाटक के अंकों के क्रम-विन्यास के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात विश्वनाथ ने भी कही है। उनके अनुसार अंकों का क्रम-निर्धारण गोपुच्छ-शैली[3]

---

१. ना० शा० चौ० २०।१०।

२. भा० प्र० पृ० २२२ पं० १८-२०।

३. सा० द० ६।७-१०.

पर होना चाहिए, ताकि नाटक के अंक क्रमशः छोटे होते चले जाएँ। सागरनन्दी व नाट्यदर्पणकार ने नाटक के विषय में लक्षण व स्वरूप प्रतिपादित किया वह भरत-परम्परा के आधार पर है।[1]

द्वितीय रूपक-प्रकार 'प्रकरण' के भेदों के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों में मत वैभिन्य है। धनंजय एवं शारदातनय ने इसके तीन भेद माने हैं।[2] परन्तु नाट्यदर्पणकार एवं हेमचन्द्र प्रकरण के सात भेदों का प्रतिपादन करते हैं।[3] नाट्यदर्पणकार तो उन सात भेदों के भी तीन-तीन भेद करके कुल इक्कीस भेद प्रतिपादित करते हैं।[4]

उत्सृष्टिकांक को अधिकांशतः सभी आचार्य कभी-कभी 'अंक' कहते हुए भी उसे स्वतन्त्र रूपक स्वीकार करते हैं। किन्तु कीथ महोदय इसे नाटक के अन्तर्गत स्थित एक अंक मानते हैं।[5] धनिक के द्वारा इस मत का खण्डन बहुत पहले ही किया जा चुका है।[6]

वीथी में वीथ्यंगों के साथ लास्यांगों की योजना के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। भरत तो इस विषय में कुछ कहते ही नहीं। भोज के मतानुसार लास्यांगों का प्रयोग होना भी अपेक्षित है। परन्तु ऐसा करने पर वीथी भाण के समान संगीत-प्रधान रूपक हो जाता है, इसीलिए शारदातनय को संदेह है। शारदातनय के ही अनुसरण पर शिंगभूपाल भी इस विषय में संदेहारूढ़ हैं।

वृत्तियों के विषय में भी विद्वानों में कई प्रकार के मतभेद प्रचलित हैं। अभिनवगुप्त[7] व आनन्दवर्धन[8] के अनुसार अर्थवृत्ति तथा शब्द वृत्ति के भेद से द्विविध वृत्तियाँ होती हैं। अर्थवृत्ति में तो भरतसम्मत कैशिकी आदि चार वृत्तियाँ होती है और शब्द वृत्ति तीन होती हैं—उपनागरिका, परुषा व कोमला। उद्भट भारती व आरभटी वृत्तियों को स्वीकार करके सात्वती व कैशिकी को अस्वीकार करते

---

१. ना० द० १।५ सूत्र ४.
२. द० रू० ३।३९-४२; भा० प्र० पृ० २४२ पं० ३-४.
३. टाइप्स ऑफ संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ५३.
४. ना० द० २।३ सूत्र ११८.
५. संस्कृत-ड्रामा—कीथ, पृष्ठ २६८.
६. उत्सृष्टिकांकान्तर्गतांक व्यवच्छेदार्थम्। - द० रू० ३।७१ (अवलोक)
७. अ० भा० भाग ३, पृ० १०५.
८. ध्वन्यालोक ३।३३.

हुए उनके स्थान पर एक फल संविति वृत्ति मानते हैं और इस प्रकार उद्भट तीन वृत्तियाँ मानते हैं। प्रतिहारेन्दु राज के कथनानुसार उद्भट को परुषा, उपनागरिका व ग्राम्या नामक तीन वृत्तियाँ अभीष्ट थीं।[1]

उद्भट ने जो अर्थवृत्ति मानी है, उसका सत्वासत्व कथन करने में शारदातनय ने रुचि प्रदर्शित की है।[2] उद्भट के मतानुयायी अधिकांशतः पाँच वृत्तियों का उल्लेख करते हैं, क्योंकि वे भरत-निर्दिष्ट भारती आदि चारों वृत्तियाँ स्वीकार करते हुए उद्भट की फलसंविधि वृत्ति का भी प्रतिपादन कर देते हैं। इस विषय में धनंजय का नाम अग्रगण्य है, यद्यपि वे उद्भट की वृत्ति को किसी नाम से अभिहित नहीं करते। इसी आधार पर शारदातनय भी उद्भट पाँचवीं वृत्ति का उल्लेख करते हुए भी उसको कोई भी नाम प्रदान नहीं करते।[3]

भोज वृत्तियों की कोई निश्चित संख्या प्रतिपादित नहीं करते। शृंगारप्रकाश[4] में वे भरतनिर्दिष्ट चार वृत्तियों की गणना करके एक पाँचवीं (मिश्र-अथवा विभिश्र) वृत्ति का भी उल्लेख करके पाँच वृत्तियाँ स्वीकार करते हैं। इधर सरस्वती कण्ठाभरण[5] में वे भरत के अनुसार चार ही वृत्तियाँ प्रतिपादन करते हैं। जबकि इसी ग्रन्थ के अन्य स्थल पर वे भरत सम्मत चार वृत्तियों में 'मध्यमकैशिकी' एवं 'मध्यभारभटी' को भी समाविष्ट करके छः वृत्तियों का उल्लेख करते हैं।[6] यहीं पर भोज गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढ़ा, मधुरा, निष्ठुरा, श्लथा, कठोरा, कोमला, मिश्रा, परुषा, ललिता व मिता नामक द्वादश वृत्तियों की परिगणना करके भी उनकी पृथक सत्ता स्वीकार नहीं करते।[7] वे भौगोलिक आधार पर कर्णाटी आदि

---

१. अतस्तावद् वृत्तयो रसाभिव्यक्त्यनुगुणवर्णव्यवहारात्मिकाः,
प्रथममभिवीयन्ते। ताश्च तिस्त्रः परुषोपनागरिका ग्राम्यत्वभेदात्।
—उद्भटवृत्ति, पृ० ४.

२. औद्भटाः पंचमीमर्थवृत्तिं च प्रतिजानते॥
अर्थवृत्तेरभावस्तु विश्रान्तां पंचमीं परे।
—भा० प्र० पृ० १२ पं० ६-७.

३. भा० प्र० पृ० १२ पं० ६.
४. शृं० प्र० अध्याय १२.
५. स० कण्ठा० अध्याय ५.
६. वही, अध्याय २.
७. इतिद्वादशवा वृत्तिः कैश्चित् या कथितेह सा।
न गुणेभ्यः न वृत्तिभ्यः, पृथक्त्वेनावभासते॥ — सर० कण्ठा० २।८७.

द्वादश अनुप्रासवृत्तियों का भी कथन करते हैं। परन्तु इतने अधिक भेदों में उलझना निरर्थक है, जो अव्यवस्था को उत्पन्न करते हैं। सम्भवतः इसीलिए भोज के अन्य परवर्ती आचार्यों की भाँति शारदातनय को भी ये भेद प्रभावित न कर सके। उन्होंने भोज की 'विमिश्र' नामक वृत्ति को स्वीकार करना भी आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि उसमें अन्य चार वृत्तियों का मिश्रित रूप ही होता है, अन्य कोई नवीनता दिखाई नहीं देती। उद्भट की फलसंवित्ति वृत्ति को भी वे इसलिए अभीष्ट नहीं समझते कि यह ऐसी क्रिया नहीं है जिसे शारीरिक अनुभावों में अभिलक्षित किया जा सके। इसी आधार पर इस वृत्ति का खन्डन भट्टलोल्लट आदि कई आचार्य कर चुके हैं।

आचार्य मम्मट ने वृत्ति तथा रीति को अभिन्न माना है।[1] उनके अनुसार अनुप्रास दो प्रकार के होते हैं—छेक और वृत्ति। रसानुकूल वर्णों का रमणीय सन्निवेश ही वृत्ति है।[2] यह वृत्ति मम्मट ने त्रिविध मानी है—उपनागरिका, परुषा एवं कोमला।

किन्तु शारदातनय ने वृत्ति और रीति को भिन्न-भिन्न परिवेश में ही देखा है। वे दोनों अभिन्न नहीं हैं। उन्होंने उपनागरिकादि तीन वृत्तियों को स्वीकार न करके भरत सम्मत भारती, कैशिकी, सात्वती एवं भारभटी—इन चार वृत्तियों को ही समादृत किया है।

इस प्रकार दशरूपकों के लक्षण, उनकी संख्या, वृत्ति आदि विषयों के संदर्भ में शारदातनय के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों के विभिन्न मत प्रचलित रहे हैं, जिनमें शारदातनय का अपना दृष्टिकोण पर्याप्त रूप से प्रामाणिक, व्यवस्थित तथा ग्राह्य है। यही कारण है कि उनका सम्पूर्ण नाट्य-विधान सर्वांग-पूर्ण एवं भव्य है।

---

१. केषांचिदेता वैदर्भी-प्रमुखा रीतियो मताः। एतास्तिस्त्रो वृक्षयो वामनादीनां मते वैदर्भी गौडीया पांचात्याख्या रीतय उच्यन्ते। —का० प्र० ९।४।

२. वृत्तिर्नियत वर्णगतो रसविषयो व्यापारः। —का० प्र० उल्लास ९।

अध्याय १०

नाट्यशास्त्र को शारदातनय की देन

मूल्यांकन

हमारा यह विशाल संस्कृत-वाङ्मय विश्वसाहित्य में भव्य प्रासाद की भाँति आज भी जगमगा रहा है, जिसके सामने आज के विश्व का समस्त ज्ञान-गौरव श्रद्धा से सिर झुकाए बिना नहीं रह सकता। संस्कृत-वाङ्मय की विविध विधाओं में नाट्य-साहित्य का प्रमुखतम स्थान है। नाट्य साहित्य में विविध विषयों का सन्निवेश तत्कालीन इतिहास, साहित्य, संस्कृति एवं सभ्यता की विशिष्ट सामग्री प्रस्तुत करता है। इसके अध्ययन से तत्कालीन संस्कृति के स्वरूप, विकास, आदर्श आदि का समुचित ज्ञान होता है। नाट्यशास्त्र की एक विशिष्ट परम्परा रही है, उस परम्परा में आचार्य शारदातनय का विशेष योगदान रहा है। उनके प्रमुखतम ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' का आलोचनात्मक अध्ययन ही इस शोध-प्रबन्ध का लक्ष्य है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के विगत अध्यायों में शारदातनय के भावप्रकाशन का एक समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भावप्रकाशन के अध्ययन के पश्चात् उसके अनेक मौलिक तत्त्व उद्घाटित हुए हैं। नाट्यशास्त्र में भावप्रकाशन का कितना व्यापक महत्त्व है, विषय की दृष्टि से उसकी कितनी उपादेयता है, नाट्यशास्त्र में उसका क्या स्थान है, इत्यादि विविध विषयों के स्वरूप के दर्शन हमें प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य शारदातनय साक्षात् मां शारदा के वरद पुत्र, नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य थे। उनका जन्म तेरहवीं शताब्दी में हुआ था। उन्होंने अपने युग में व्याप्त नाट्यशास्त्र विषयक अनेक मत-मतान्तरों एवं विचारों को नवीन दृष्टि से प्रस्तुत कर अनुपम वैदुष्य का परिचय दिया है। उन्होंने इस ग्रन्थ में विविध नाट्यशास्त्रीय सम्प्रदायों का बहुत सुन्दर रूप में प्रतिपादन किया है।

प्रामाणिकता एवं उपादेयता की दृष्टि से यह ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र से किसी प्रकार भी कम नहीं है। सर्वलोकानुरंजिनी नाट्यकला के विषय में यहाँ जो विस्तृत अभिव्यक्ति हुई है, वह मानो जीवन के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का प्रतिरूप बनकर उपस्थित हो गयी है। इस ग्रन्थ में नाट्य-कला के अतिरिक्त संगीत आदि अन्य ललित-कलाओं का भी वैविध्यपूर्ण वर्णन उपलब्ध होता है। भरत के नाट्यशास्त्र से शारदातनय तक के मध्य के काल में अनेकानेक विद्वानों ने नाट्य, काव्य, संगीत, नृत्य आदि विषयों पर ग्रन्थों का प्रणयन किया किन्तु किसी में भी नाट्यशास्त्र 'पंचमवेद' जैसी चिन्ताधारा नहीं थी; उपर्युक्त नाट्य आदि सभी कलाओं का समष्टि रूप एक ही स्थान पर नहीं था। यदि इन सबका विलक्षण सामंजस्य कहीं सम्पादित हुआ, तो वह है 'भावप्रकाशन', जिसकी सुनियोजित शैली वेदों का स्मरण कराती है। अतः 'भावप्रकाशन' को ही 'पंचमवेद' का उत्तराधिकारी मान लिया जाए, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

शारदातनय का सर्वप्रथम योगदान रहा है 'नाट्योद्गम' के विषय में। इसके लिए 'भावप्रकाशन' में जो सुनियोजित परम्परा मानी गई है, उसका अपना विशिष्ट महत्व है। चारों वेदों से क्रमशः सम्वाद, अभिनय, गीत एवं रस को ग्रहण करके नाट्योद्भव की मान्यता तो भरत ने प्रतिपादित की थी, उसे समादृत करते हुए भी शारदातनय ने 'भगवान शिव' से नाट्य का आविष्कार माना है जबकि भरत एवं अनेक परवर्ती आचार्यों ने नाट्य का उद्गम ब्रह्मा से स्वीकार किया है। इस विषय में शारदातनय ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना-शक्ति का सुन्दर परिचय दिया है। ब्रह्मा से नाट्योत्पत्ति मानने का सिद्धान्त तो केवल वैदिक पृष्ठभूमि पर ही आधारित है, किन्तु इसे शिव से सम्बद्ध मानने से तो वैदिक एवं लौकिक—दोनों ही भावभूमियों का अलंकरण हो उठता है। शिव-पार्वती का ताण्डव-लास्य नाट्य का पूर्व प्रचलित स्वरूप है। शिव के नटराज-रूप से नाट्योद्गम जितना तार्किक एवं शाश्वत सत्य सिद्ध होता है उतना ब्रह्मा के रूप से नहीं।

भरत के अनुसार नहुष की प्रेरणा से भरत-पुत्र नाट्य-प्रयोग को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाए। किन्तु 'भावप्रकाशन' में भूमि पर नाट्यावतरण कराने का श्रेय 'मनु' को है, नहुष को नहीं। हमें यही उचित भी प्रतीत होता है, क्योंकि इस सृष्टि का आदि-जन्मदाता मनु को ही तो माना जाता है। यदि अपनी सृष्टि के लिए मनु ने नाट्य को भूलोक पर अवतरित करने का उद्योग किया हो, तो क्या आश्चर्य है ?

शारदातनय का एक विशेष योगदान है—नाट्य एवं दर्शन को गुम्फित कर देना। नाट्य-विषयक विभिन्न तत्वों को दार्शनिक-भूमि के परिप्रेक्ष्य में रखकर

अपनी सजग दृष्टि से परखा है। नाट्य-प्रयोग चिरन्तन आनन्द का प्रतीक होता है, क्योंकि उसमें अभिनय, संगीत आदि अनेक रंजनी कलाओं का प्रयोग होता है जिनका अवलोकन एवं अवगाहन करके सहृदय आत्म-दर्शन में लीन होकर सत्-चित्‌आनन्द से अनुप्राणित हो उठता है। इसी चिन्तनधारा में डूब कर शारदातनय ने राग, विद्या एवं कला आदि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के तत्वों को अपने ग्रन्थ में प्रतिष्ठित किया है। नाट्य-सम्बन्धी ऐसे गहन चिन्तन को अपने ग्रन्थ में महत्वपूर्ण स्थान देने के लिए शारदातनय निस्सन्देह प्रशंसा के पात्र हैं। उनका दार्शनिक दृष्टिकोण उनके विलक्षण एवं अनूठे व्यक्तित्व को मूर्तिमान कर देता है।

नाट्यपरक सामग्री के साथ काव्यशास्त्रीय विषयों का सम्मिलन शारदातनय की एक अन्य विशेषता है। उनकी सचेत दृष्टि काव्य-शास्त्रीय तत्वों का स्वाभाविक ग्रहण करती है। शारदातनय का मुख्य लक्ष्य 'भाव' एवं 'रस' पर केन्द्रीभूत होने के कारण उनकी सिद्धि के हेतु व्यंजना-शक्ति पर ध्यान जाना स्वाभाविक एवं अपेक्षित था। अतएव इस प्रसंग को प्राप्त करके शारदातनय ने शब्दशक्तियों का विशद संयोजन अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। यहाँ पर उन्होंने प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं का उपबृंहण-मात्र किया है। इस विषय में उनका दृष्टिकोण प्रायः समन्वयात्मक रहा है। उन पर अधिकतर मम्मट का प्रभाव जान पड़ता है। नाट्यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र-विषयक सामग्री का ऐसा सुभग-संयोग अन्यत्र मुखरित नहीं हुआ है।

'भावप्रकाशन' का विवेचनात्मक अध्ययन करते हुए एक नवीन तथ्य हमारे दृष्टिपथ में आया कि शारदातनय ने 'भाव-तत्त्व' को वह गरिमा-मण्डित स्थान प्राप्त कराया, जो उसे अब तक उपलब्ध नहीं हुआ था। यद्यपि 'रस' नाट्य का प्राण है, तथापि उस रस की प्राप्ति का साधन 'भाव' है। अतः साध्य रस का कारणीभूत भाग ही है। भाव के बिना रसाभिव्यक्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। इसीलिए शारदातनय ने भावों को रस-प्रक्रिया से पूर्व रखा है, जबकि भरत ने रस को भाव से पूर्व वर्णित किया है। किन्तु भाव की स्थिति हृदय में शाश्वत रूप से रहती है, अतः उसी के माध्यम से रसानुभूति सम्भव हो पाती है, इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता। कवि की जो मानसिक अवस्थाएं नटों के माध्यम से सहृदय सामाजिक के अन्तःकरण को अभिभूत कर देती हैं, वे 'भाव' कहलाती हैं। भरत ने भाव का विश्लेषण 'संवेदना' के आधार पर प्रस्तुत किया है, जबकि शारदातनय का भाव-विवेचन सुख-दुःख की संवेदना के साथ-साथ सांख्योपचित दार्शनिकधारा में भी प्रवहमान हुआ है। केवल संवेदन-आधार के द्वारा तो मनोवैज्ञानिक-तत्त्व का ही दिग्दर्शन हो पाता है, किन्तु उसमें दार्शनिक

चेतना का आस्वादन भारतीय आदर्श के गौरव को मण्डित कर देता है। सम्भवतः इसीलिए शारदातनय ने दार्शनिक-दर्पण में भाव का प्रतिबिम्ब देखा होगा।

यह निर्विवाद है कि भाव की जितनी अधिक प्रधानता एवं महत्ता शारदातनय ने प्रतिपादित की है, उतनी भरत एवं उनके परवर्ती आचार्यों में से किसी ने नहीं की। नाट्य का प्रमुख तत्त्व रस और उसका भी मूल भाव है। अतः उसे नाट्य-तत्त्वों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानना अतिशयोक्ति नहीं है। सम्भवतः इसी कारण शारदातनय भाव-वर्णन में इतने अधिक तत्पर हुए होंगे। यह तत्परता इतनी अधिक तीव्र हो उठी होगी कि उन्होंने अपने ग्रन्थ का नामकरण भी 'भाव' के ही आधार पर करना अभीष्ट समझा होगा। यदि यह बात नहीं होती, तो वे अपने ग्रन्थ का नाम 'भाव-प्रकाशन' के स्थान पर 'रस-प्रकाशन' अथवा अन्य कुछ भी रख सकते थे। यह बात यों भी स्पष्टतर हो जाती है कि उन्होंने भाव को ही सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व स्वीकार करने के कारण ग्रन्थ का प्रथम अधिकार 'भाव-निर्णयः' के रूप में आरम्भ करना श्रेयस्कार समझा है। यदि भाव न हो, तो वह स्थायी भाव ही नहीं होता; जो रसत्व के पद पर प्रतिष्ठित होता है। वे विभाव आदि भी नहीं होते, जो स्थायी भाव को रस के प्रकर्ष तक पहुँचाने में सहायक बन कर उपस्थित रहते हैं। भरत से पूर्व तथा परवर्ती विचारकों ने कभी भी भाव को रस, वस्तु, नेता आदि तत्त्वों से बढ़कर नहीं माना था, किन्तु शारदातनय को तो 'भाव' को लेकर ही ग्रन्थ का शुभारम्भ करना अभिप्रेय है। अतः नाट्य-परम्परा में उनकी यह भावविषयक सूक्ष्मावगाहिनी चिन्तनधारा सर्वथा मौलिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मान्य है।

नाट्य में रसपेशलता का सम्बन्ध भावात्मकता एवं अभिनयात्मकता से होता है। सम्पूर्ण नाट्य-प्रयोग का ध्येय सहृदय को रसास्वादन कराना ही तो होता है। नाट्य-रस का यह आस्वादन उस मनोरंजन की भाँति होता है, जिसका उपभोग जीवात्मा सांसारिक विषय-भोगों के द्वारा करता है। रसास्वादन के विषय में शारदातनय ने एक मौलिक चिन्तनधारा को प्रस्तुत किया है कि नाट्य-रस का आस्वादन भिन्न-भिन्न रुचियों-प्रवृत्तियों के व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से ही करते हैं। युवक व्यक्ति काम भावना का नाट्यरस में अन्वेषण करता है। धनाभिलाषी अर्थ-लाभ को खोजता है। नीति-कुशल समीक्षा में, शौर्यशाली शूरता में, विद्वान पुरुष तात्विक एवं सात्विक बातों में सन्तोष प्राप्त करता है। इसी प्रकार वृद्ध धर्म के विवेचन में, मूर्ख, बालक एवं नारियां हास्य एवं वेश-विन्यास आदि विषयों में रस प्राप्त करते हैं।[1]

---

१. भा० प्र० पृ० २७७ पं० १८-२२, पृ० २७८ पं० १.

रस के सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है कि भरत की रस-दृष्टि तो नाट्योन्मुखी रही है। उनके परवर्ती आचार्यों की विचारधारा रस के प्रति धीरे-धीरे काव्योन्मुखी होती चली गई। किन्तु शारदातनय ने दोनों दृष्टियों के महत्त्व को समझा है, इसीलिए उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने इन दोनों धाराओं का समन्वय करके 'रस' को सुसज्जित किया है। उनके इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण से उनके परवर्ती विद्वान प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके हैं।

भरत के रस-निष्पत्ति सिद्धान्त के जो व्याख्याता भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त आदि हुए हैं, उन सबके दृष्टिकोणों का शास्त्रीय विवेचन शारदातनय ने प्रस्तुत किया है, जिसमें यद्यपि मौलिकता का क्षेत्र नवीन सिद्धान्तों का उत्पादक नहीं है तथापि व्यवस्थापक है। विषय का विस्तार होने पर भी व्यवस्था का विद्यमान रहना एक महान् गुण है, जो भावप्रकाशन के अतिरिक्त अन्यत्र अधिक दृष्टिगोचर नहीं होता। यहाँ एक महत्वपूर्ण बात और है कि उन्होंने 'रस' का सर्वथा स्वतन्त्र रूप से वर्णन एवं महत्त्व स्थापित किया है। उसे किसी अन्य तत्त्व में अन्तर्भूत करने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी, उनके अनुसार काव्य की प्रत्येक विधा में रस का उत्कर्ष आवश्यक रूप से होना चाहिए। रस ही तो काव्य का जीवन है।

मम्मट तथा उनके अनुयायियों के विपरीत शारदातनय ने गुण, अलंकार, रीति आदि अन्य समस्त तत्वों को एक ओर रखा, तथा अपने ग्रन्थ में रस के उस सिद्धान्त को ही प्रतिपादित किया है, जो कि भरत एवं कोहल आदि के द्वारा स्वीकार किया गया था तथा आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनव, भोज एवं धनंजय के द्वारा जिसका संशोधन किया गया था। शारदातनय की ही भाँति उनके परवर्ती आलोचक भी रस-सिद्धान्त के समर्थक थे। शारदातनय ने रस का सम्पूर्ण विवेचन नाट्य को दृष्टि-पथ में रखकर तो किया ही है, साथ ही सम्पूर्ण काव्य-सृष्टि का रस-सिक्त पर्यालोचन भी किया है। इसके कथनों का महत्त्व परवर्ती साहित्य में इसलिए और भी बढ़ गया प्रतीत होता है कि इन्होंने पद्मभू, व्यास, वासुकि, नारद आदि अनेक आद्याचार्यों के मतों को उद्धृत किया है। इन्होंने श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र आदि रसों के अनेक विभाग करके रसास्वाद एवं रसाभास-सम्बन्धी मतों की स्थापना में भी नवीनता दिग्दर्शित की है।

नाट्य-भूमि में रस का पोषण करने के लिए नाटकीय पात्रों की योजना की जाती है। शारदातनय ने पात्रों का वैविध्यपूर्ण चित्रण किया है। यद्यपि उन्होंने भी अभिनवगुप्त की भाँति सहृदय प्रेक्षक को रस का आश्रय माना है, नट (पात्र) को नहीं; तथापि पात्रों की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि अमुक रस को सामाजिक के अन्तःकरण तक पहुँचने का मार्ग पात्रों से ही मिलता है। भरत की

भाँति शारदातनय ने भी पात्रों के चरित्र का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक-भूमि पर अलंकृत किया है। उन्होंने नायक-नायिका, उपनायक, विदूषक, विट, सखी, दूती आदि विभिन्न पात्रों को मानव-प्रकृति की विविधता के आधार पर गति दी है। इस विषय में वे भरत से प्रभावित हुए हैं, साथ ही अपनी मौलिक विचारशक्ति का भी परिचय दिया है ; जो परवर्ती आचार्यों को सदियों तक प्रभावित करती रही है। नायिका वर्णन के प्रसंग में उन्होंने 'गणित' के प्रति विशेष सहानुभूति रखी है, जो आज के समाज के लिए एक चुनौती है। उनकी उदार विचारधारा का ज्वलन्त उदाहरण है। अभी तक अधिकतम आचार्यों ने 'गणिका' की गणना कुछ हेय दृष्टि से की थी। किन्तु शारदातनय ने तो एक प्रकार से 'वैश्या' (अन्या) में 'स्वीया' से अधिक विशेषताओं का कथन किया है, क्योंति 'स्वीया' केवल भोग की अभिलाषिणी ही होती है ; जबकि 'अन्या' भोग के साथ-साथ धन की भी वांछा करती है। 'अन्या' की इस अवस्था के लिए समाज ही तो दोषी है। वह भी नारी-सुलभ अभिलाषाएँ लेकर ही इस संसार में जन्म लेती है। सम्भवतः यही दृष्टिकोण ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने तीन अवस्थाएँ—विरहोत्कन्ठिता, अभिसारिका एवं विप्रलब्धावर्णित की है। यह उनका सर्वथा मौलिक प्रयोग है जो निस्सन्देह उपादेय एवं ग्राह्य है।

नाटकीय-पात्रों के साथ 'अभिनय-तत्त्व' तो इस प्रकार जुड़ा हुआ है जैसे पुष्पों में सुगन्ध स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है। पात्रों की जो विभिन्न चेष्टाएँ होती हैं, उनसे अभिनय को बल मिलता है। आंगिक, वाचिक आदि अभिनयों के स्वरूप के विषय में शारदातनय भरत से सहमत जान पड़ते हैं। अपने शील एवं स्वभाव के अनुसार पात्र विविध अभिनयों का प्रदर्शन करते हुए भाव एवं रस को पुष्ट करते हैं, साथ ही परमानन्द की अनुभूति कराते हुए जीवन के बाह्यांतर जगत को शाश्वत सत्य से भर देते हैं।

पात्र योजना का विवेचन करते हुए हमने देखा है कि भरत की पात्र-योजना सर्वथा नाट्योन्मुखी थी। किन्तु धीरे-धीरे यह नाट्योन्मुखी दृष्टि रसोन्मेषी होती गई। शारदातनय ने अपने पूर्वकाल की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों को सूक्ष्म-निरीक्षण द्वारा समझा है। फलस्वरूप उन्होंने अपने पात्र-विधान की सर्जना में रसोत्कर्ष का विशेष ध्यान रखा है, क्योंकि रस ही नाट्य है एवं नाट्य ही रस है। अतः नाट्य के प्रत्येक तत्व का परम उश्द्देय रस की चरम अनुरंजना ही होना चाहिए। शारदातनय की इस विचारधारा के महत्व को विश्वनाथ, विद्यानाथ, शिंगभूपाल, भानुमिश्र एवं रूपगोस्वामी आदि अनेक विद्वानों ने समझा है।

इतिवृत-विवेचन के समय भी हमने शारदातनय की गम्भीर प्रतिभा के दर्शन किए हैं। पात्रों का अभिनय नाट्य के 'इतिवृत्त' के आधार पर अभिनीत होता है। इतिवृत्त नाट्य का शरीर कहलाता है। आत्मा को जिस प्रकार निवास के लिए शरीर की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार नाट्य की आतमा 'रस' को भी विद्यमान रहने के लिए इतिवृत्त रूपी नाट्य-शरीर की अपेक्षा रहती हैं। अतएव इतिवृत्त की रचना भी नाट्य में 'रस' की भाँति महत्वपूर्ण होती है। शारदातनय इस तथ्य से भलीभांति परिचित जान पड़ते हैं, तभी तो उन्होंने नाट्यवस्तु के विस्तृत क्षेत्र में परिभ्रमण किया है। फल-प्राप्ति के औचित्य को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथावस्तु का निर्देश किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने भरत के अनुसार ही पंचविध अर्थप्रकृतियों, पंच अवस्थाओं एवं पंचसंधियों का विस्तृत चिन्तन निरूपित किया है। फल-प्राप्ति के हेतु किया गया नायक का पुरुषार्थ इन्हीं अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं एवं सन्धियों द्वारा प्रसूत होता चलता है अतः नाट्य-प्रयोग में इन तत्वों का विधान अत्यन्त सुनियोजित होना चाहिए। शारदातनय ने चौंसठ सन्ध्यंगों एवं इक्कीस सन्ध्यान्तरों का विशद वर्णन किया है, साथ ही नाट्य में उनकी उपादेयता भी स्वीकार की है। किन्तु उनका यह दृष्टिकोण भी रहा है कि इनमें से जो अंग कथावस्तु एवं रस के पोषक हों, उनकी उसी अनुपात मे नाट्य में सुयोजना कर लेनी चाहिए; शेष का अनावश्यक प्रवेश कर देने से कोई लाभ नहीं होता। इसी विचारधारा का अनुमोदन करने के कारण ही शारदातनयकृत वस्तु-विवेचन सैद्धान्तिक होने के साथ-साथ व्यावहारिक भी है।

शारदातनय-कृत विविध निरूपणों पर समीक्षात्मक दृष्टि डालते हुए हमने एक पारदर्शिता का अनुभव किया है। उसी से ज्ञात होता है कि शारदातनय रंगशाला की विधाओं के धुरन्धर ज्ञाता थे। उन्होंने नाट्य की उपरंजक अन्य ललित कलाओं यथा—संगीत, नृत्य, नृत्त आदि का भी भव्य-विधान अपने ग्रन्थ में किया है। संगीत का नाट्य से स्वाभाविक सम्बन्ध है। गीत, वाद्य आदि की योजना के बिना नाट्य सर्वांग-सुन्दर नहीं माना जा सकता। गीत तो नाट्य का प्राणाधायक तत्व है तथा बिना वाद्य-वृन्द के गीत नीरस है। अतः ये सब ही एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। संगीत ही वह तत्व है जो नाट्य के अनुकूल रस की भावभीनी सृष्टि सम्पूर्ण वातावरण में व्याप्त कर देता है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि शारदातनय ने संगीत जैसे सरस, सुकोमल विषय का मूल दार्शनिक परिवेश में खोजा है। यह उनका मौलिक एवं सफल प्रयास है। उनसे पूर्ववर्ती एवं परवर्ती ग्रन्थों में संगीत को किसी ने भी दार्शनिक भूमि में नहीं देखा था। केवल संगीत एवं केवल नाट्य विषय पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा, किन्तु

नाट्य एवं संगीत का ऐसा सुखद संयोग कहीं भी दिग्दर्शित नहीं होता। अतः निस्सन्देह शारदातनय की सराहना होनी चाहिए।

नाट्य में गीत-वाद्य आदि के अतिरिक्त नृत्य एवं नृत्त की भी परियोजना का अपना अनूठा महत्व है। इसीलिए शारदातनय ने नाट्य के उपकारक के रूप में नृत्य एवं नृत को रखा है। उन्होंने ताण्डव एवं लास्य का सर्वांगीण निर्वचन किया है। ताण्डव एवं लास्य नाट्य के पूर्वरूप रहे हैं। शारदातनय ने नाट्य की उत्पत्ति भी शिव से मानी है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उन्होंने ताण्डव एवं लास्य का भेद-प्रभेदों सहित व्यवस्थित विवेचन किया है। नाट्यप्रयोग की प्रकृति एवं वातावरण, उद्धत तथा कोमल होने पर क्रमशः ताण्डव एवं लास्य की परि-योजना होती है।

संगीत-तत्व की इस चर्चा के सन्दर्भ में एक बात कहना भी अभीष्ट है कि यद्यपि भरत एवं उनके परवर्ती अनेक नाट्यशास्त्रियों एवं संगीत-ग्रन्थकारों ने संगीत में स्वरों की स्थापना के लिए बाईस श्रुतियां स्वीकार की हैं, तथापि शारदातनय ने शरीर की चौबीस नाड़ियों के आधार पर श्रुतियों की संख्या भी चौबीस ही स्वीकार की है तथा इस प्रकार अपनी मौलिक परिकल्पना का परिचय तो दिया ही है, साथ ही इससे उनके आयुर्वेद-विषयक ज्ञान का भी दिग्दर्शन स्वतः ही हो गया है।

विभिन्न विषयों को लेकर उन्हें वर्णन करने की विधि जो शारदातनय ने अपनाई है, वह भी ध्यान देने योग्य है। किसी भी विषय को लेकर उसका निरूषण करते समय शारदातनय पूर्वपरम्परा के आलोचकों के मतों को भी प्रस्तुत करने के लिए सदैव सजग रहते हैं। ऐसा करते हुए उन्होंने बहुत ध्यानपूर्वक उन समस्त मतों के सूक्ष्म अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया है। ऐसी उदार शैली को अपनाने के लिए शारदातनय प्रशंसा के पात्र हैं।

शारदातनय ने भरत-निर्दिष्ट नाटक, प्रकरण आदि दशरूपकों एवं नाटिका का तो प्रतिपादन किया ही है, साथ ही बीस उपरूपकों का भी निरूपण किया है। उपरूपकों के वर्णन में शारदातनय ही हमें सबसे अधिक सचेत प्रतीत हुए हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित की गई उपरूपकों की संख्या सर्वाधिक है। उन्होंने इन उपरूपकों को ही 'नृत्यभेद' कहा है।

शारदातनय-कृत नाट्य-प्रयोग के विविध प्रकारों का भी हमने सर्वेक्षण किया है। इस विषय में उनका प्रौढ़ विवेचन परवर्ती युग के लिए सर्वथा स्पष्ट एवं ग्राह्य है। नाट्य-प्रयोग में अनेक नाट्य-प्रयोक्ताओं यथा—सूत्रधार, नान्दी

पाठक, नट, शैलूव, पादिरपार्श्विक, कुशीलव आदि की आवश्यकता होती है। इन सबका विवेचन जितना विस्तार से भावप्रकाशन में हुआ है, वैसा अन्यत्र सहज ही उपलब्ध नहीं होता है। नाट्य-प्रयोग के लिए विविध नाट्य-मण्डपों की आवश्यकता होती है। शारदातनय ने चतुरस्र आदि जिन नाट्यमण्डपों का उल्लेख किया है, उसे तो भरत से प्रभावित कहा जा सकता है। किन्तु इनके अतिरिक्त शारदातनय ने 'वृत्त' नामक जिस नाट्य-मण्डप के विधान का निर्देश किया है, वह नूतन-कल्पना का द्योतक है।

इस प्रकार शारदातनय का सम्पूर्ण नाट्य-विधान अनेक नवीनताओं से ओतप्रोत है, जो भारतीय नाट्यशास्त्र के लिए अपूर्व देन सिद्ध हो सकता है। नाट्य-सम्बन्धी कोई भी ऐसा विषय शेष नहीं रह जाता, जिसका प्रतिपादन करना शारदातनय की लेखनी से छूट गया हो; अपितु उन्होंने तो नाट्यपरक सामग्री के अतिरिक्त प्रसंग-वश काव्यशास्त्र, संगीतशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र विषयक सामग्री का भी आकलन एवं विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका 'भावप्रकाशन' एक ऐसा ग्रन्थ है जो नाट्य के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ व्यावहारिक पक्ष का भी वैज्ञानिक विवेचन प्रतिपादित करता है और इसीलिए वह आज के वैज्ञानिक युग में नाट्यशास्त्रियों को सहज उपादेयता का सन्देश देता है।

इस प्रकार हमने अपने शोध-प्रबन्ध में आचार्य शारदातनय एवं उनके ग्रन्थ भावप्रकाशन को समझने का प्रयत्न किया है, जिसमें हमें भरत जैसी व्यापकता एवं गरिमा के सुभग दर्शन हुए हैं। भावप्रकाशन में पूर्वकथित वस्तुओं का जो प्रतिपादन हुआ है उस पर भी एक नूतन चमक का आवरण परिलक्षित होता है, फिर मौलिक उद्भावनाओं का तो कहना ही क्या ? शारदातनय की चेतना ने अपनी परिनिष्ठित भाषा-शैली में सदा एक गम्भीर वातावरण की सृष्टि की है जिसमें आनन्दात्मक कवित्व के भी दर्शन होते चलते हैं। महान् से महान् आचार्यों की मान्यताओं का समावेश उन्होंने अपने ग्रन्थ में सहज ही में कर लिया है। इससे उनके अपने व्यक्तित्व की मुखरता एवं प्रगल्भता को कोई ठेस नहीं पहुँची है अपितु इससे यह स्पष्ट होता है कि उनमें साम्प्रदायिक पक्षपात लेशमात्र भी नहीं था। जहाँ जिसकी जो बात रुचे, उसे अपने ढंग से कह देना आपत्तिजनक नहीं होता। और फिर उसको व्यवस्थित रूप देते हुए अपने मौलिक निर्णयों का प्रतिपादन करना तो मानो 'सोने में सुहागा' है। ऐसी ही अनौखी बानगी के दर्शन हमने 'भावप्रकाशन' में किए हैं, जिससे शारदातनय 'आचार्यत्व' की प्रतिष्ठित पदवी पर सुशोभित हो उठते हैं।

'भावप्रकाशन' के विवेचनात्मक अध्ययन में हमें शारदातनय की जिन अभूतपूर्व विशेषताओं का परिचय प्राप्त हुआ है, उनमें से प्रमुख हैं—वक्तव्य की अद्‌भुत गरिमा, सुस्पष्टता, विषयावगाहिता, गम्भीरता, प्रवाहात्मकता, समन्वयात्मकता, चेतना की नवीनता, सूक्ष्मरूपात्मकता, उपलब्धियों की प्रचुरता, दार्शनिक शालीनता, गौरवान्वित, प्रगल्भता, सर्वांगीणता, परनिष्ठता एवं मौलिकता आदि। शारदातनय को वह युग मिला था, जब विभिन्न-सम्प्रदायों की विविध मान्यताएँ अव्यवस्थित-सी चतुर्दिक भ्रमण कर रहीं थीं। उपर्युक्त वर्णित अपनी समस्त विशेषताओं के बय पर ही शारदातनय ने उन समस्त मान्यताओं की परिमार्जना अपने ग्रन्थ में व्यवस्थित की, जिसने नाट्‌यशास्त्रीय परम्परा में 'भावप्रकाशन' के लिए अक्षुण्ण महत्त्व का सृजन किया। इस ग्रन्थ का विवेचन करते हुए हमने शारदातनय के पारदर्शी व्यक्तित्व में से उनके विविध रूपों के दर्शन किए हैं यथा—उनका प्रगल्भ आचार्यत्व, उनका सरस कवि-हृदय तथा उनका अद्‌भुत दार्शनिक रूप आदि।

आज का अधिकांश विद्यार्थी प्राचीनकाल की भाँति प्रौढ़ गुण-ग्राही न रह कर अपेक्षाकृत कोमल-बुद्धि हो गया है। अतः वह नाट्‌यशास्त्र एवं काव्यशास्त्र-विषयक प्राचीन महामहिम ग्रन्थों का अनुशीलन करने की अपेक्षा किसी सुबोध एवं सारगर्भित रचना की कामना करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शारदातनय का 'भावप्रकाशन' निस्सन्देह नितान्त उपयोगी एवं ग्राह्य सिद्ध हो सकता है, इसमें किंचदपि सन्देह नहीं है। वर्तमान युग की मांग के अनुरूप, संस्कृत-वाङ्मय के ऐसे सजग प्रहरी के लिए शत-शत नमन है।

—:०:—

सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची

संस्कृत ग्रन्थ

१. अग्निपुराण : व्यास, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, १९५७।

२. अथर्ववेद संहिता : सायण भाष्य सहित सं० पण्डित शंकर पाण्डुरंग, निर्णय सागर, बम्बई, १८९५।

३. अभिधावृत्ति मातृका : मुकुल भट्ट।

४. अभिनय दर्पण : नन्दिकेश्वर, अनु० देवदत्त शास्त्री, इलाहाबाद, १९५६।

५. अभिनव भारती (भाग १-४) : अभिनवगुप्तपादाचार्य, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़, बड़ौदा, १९३४, १९५४, १९५६, १९६४।

६. अभिनव भारती (हिन्दी) : भाष्यकार—आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६०।

७. अभिनवराग-मंजरी : श्री विष्णु नारायण भातखण्डे।

८. अभिज्ञान शाकुन्तलम् : राघव भट्ट कृत टीका, निर्णय सागर, बम्बई १९१३

९. अमरकोष : अमरसिंह, सरस्वती प्रेस, मुरादाबाद, वि० सं० १९८४।

१०. अलंकार कौस्तुभम् : श्री विश्वेश्वर पण्डित, निर्णय सागर, बम्बई, १८९८।

११. अलंकार शेखर : केशव मिश्र, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़, १९१५।

१२. अलंकारसर्वस्वम् : रुय्यक, काव्यमाला संस्करण, १९३९।

१३. अलंकारसर्वस्वम् : सम्पादक—गिरिजाप्रसाद द्विवेदी, निर्णय सागर, बम्बई, १९३९।

१४. अव्यक्तोपनिषद्।

१५. उज्ज्वल नीलमणि : रूप गोस्वामी, सम्पादक—महामहिम पण्डित दुर्गाप्रसाद, काव्यमाला सीरीज़ नं० ९५, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३२।

१६. एकावली : विद्यानाथ।

१७. ऐतरेय ब्राह्मण : निर्णयसागर, बम्बई, शक सं० १८३३।

१८. औचित्य-विचारचर्चा : आचार्य क्षेमेन्द्र, काव्यमाला संस्करण, १६२६ ।

१६. औचित्य विचार चर्चा : क्षेमेन्द्र, व्याख्याकार—श्री ब्रजमोहन झा, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १६६४ ।

२०. ऋग्वेद : वैदिक संशोधन मण्डल, पूना ।

२१. ऋक्संहिता : सायण भाष्य, गणपतकृष्णाजी मुद्रायंत्रालय, बम्बई, शक १८१०

२२. कामसूत्र : वात्स्यायन (जयमंगला टीका सहित), चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी ।

२३. काव्यादर्श : दण्डी, चौ० सं० सी० काशी, १६५८ ।

२४. काव्यादर्श : दण्डी, (कुसुम प्रतिमा टीका) मेहरचन्द लक्ष्मण प्रसाद खन्ना, लाहौर, १६६० विक्रमी ।

२५. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १६३८ ।

२६. काव्यानुशासन : वाग्भट्ट (द्वितीय), निर्णय सागर, बम्बई, १६१५ ।

२७. काव्यप्रकाश : मम्मट (झलकीकर की टीका), भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १६३३ ।

२८. काव्यप्रकाश : मम्मट (आचार्य विश्वेश्वर की टीका), ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, ज्ञानमण्डल ग्रन्थमाला-६३, १६६० ।

२६. काव्यप्रकाश : भट्गोपाल की टीका, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज़ ।

३०. काव्यमीमांसा : राजशेखर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना ।

३१. काव्यालंकार : भामह, सम्पादक—डा० बल्देव उपाध्याय, चौ० सं० सी० काशी, १६२८ ।

३२. काव्यालंकार : भामह, व्याख्याकार—देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पटना, १६६२ ।

३३. काव्यालंकार : रुद्रट, निर्णय सागर, बम्बई, १६३३ ।

३४. काव्यालंकार-सारसंग्रह : उद्भट, गा० ओ० सी०, १६३१ ।

३५. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : वामन, काव्यमाला संस्करण, १८६५ t

३६. कुट्टनीमतम् : दामोदरगुप्त, अनु० अत्रिदेव विद्यालंकार, काशी, १६६१ ।

३७. कौशीतकी ब्राह्मण : सम्पादक—ए० बी० कीथ, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थ-माला, १६११ ।

३८. चन्द्रालोक : जयदेव, चौ० सं० सी०, १६३२ ।

३६. छान्दोग्योपनिषद् : श्रीमद्रंगरामानुज मुनि, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला-६३, १६१० ।

४०. छान्दोग्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर ।

४१. छान्दोग्योपनिषद् : पं० जीवानंद विद्यासागर, कलकत्ता, १८७७।

४२. तन्त्र वार्त्तिक।

४३. तैत्तिरीयोपनिषद्, कलकत्ता।

४४. दशरूपक : धनंजय, चौखम्बा विद्याभवन. वाराणसी, विद्याभवन संस्कृत-ग्रन्थमाला-७, सं० २०१९ वि० सन् १९६२।

४५. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १९११।

४६. ध्वन्यालोक : सम्पादक—पं० बदरीनाथ शर्मा, चौ० सं० सी० हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला नं० ६४, १९५३, सम्वत् २०१०।

४७. ध्वन्यालोक-लोचन : अभिनवगुप्त, निर्णयसागर, बम्बई, १९११।

४८. नाटक चन्द्रिका, : रूपगोस्वामी, चौ० सं० ग्रन्थमाला नं० ९७, १९६४।

४९. नाट्य-दर्पण (हिन्दी) : रामचन्द्र-गुणाचन्द, यूनीवर्सिटी प्रेस, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६१।

५०. नाटकलक्षण रत्नकोष : सागरनन्दी (रूचिपति की टीका)

५१. नाट्यशास्त्र : भरत, सम्पादक—पं० बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९३९।

५२. नाट्यशास्त्र : भरत, काव्यमाला संस्करण।

५२. नाट्यशास्त्र : भरत, गा० ओ० सी०।

५३. निरुक्त : यास्क, गुरुमण्डल ग्रन्थमाला, कलकत्ता, १९५३।

५५. निर्वाणोपनिषद्।

५६. न्यायदर्शन (वात्स्यायन) : गौतम श्री सुदर्शनाचार्य शास्त्री, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, कोट, बम्बई।

५७. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली : विश्वनाथ पंचानन भट्टाचार्य (टीकाकार—श्री ज्वाला प्रसाद गौड़), प्रकाशिका—सरयूदेवी, डी० ३४/१८५, गणेश महल, वाराणसी, १९६०।

५८. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली : व्याख्या—श्री धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९५३।

५९. न्याय-वार्तिक : उद्योतकार।

६०. पारस्कर-गृह्यसूत्र।

६१. प्रतापरुद्र यशोभूषण : विद्यानाथ, बम्बई, १९०९।

६२. बालरामायण : राजशेखर, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८४।

६३. बृहद्देशी : मतंग, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली।

६४. बृह्वचोपनिषद्।

६५. भरतकोष : प्रो० रामकृष्ण कवि, पूना १९६१।

६६. भरतार्णव । नन्दिकेश्वर, सं० के० वासुदेव शास्त्री, सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजौर, १९५७ ।

६७. भारतीय नाट्यपरम्परा और अभिनयदर्पण : वाचस्पति गैरोला, संवर्त्तिका प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६७ ।

६८. भावप्रकाशन : शारदातनय, गा० ओ० सी० नं० ४५, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, १९६८ ।

६९. मत्स्य पुराण : गीता प्रेस गोरखपुर ।

७०. मन्दारमरन्द चम्पू : श्रीकृष्ण कवि, सं० केदारनाथ शर्मा, संशोधक : वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२४ ।

७१. महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

७२. महाभाष्य : पतंजलि (कैयट कृत व्याख्या) नागेश कृत टीका, निर्णय सागर ।

७३. मानसोल्लास : सोमेश्वर, गा० ओ० सी० नं० २८ ।

७४. मालविकाग्निमित्रम् : कालिदास, चौ० सं० सी० ।

७५. यजुर्वेद : सं० स्वामी विश्वेश्वरानन्द एवं स्वामी नित्यानन्द, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०८, १९२९ ।

७६. याज्ञवल्क्य-स्मृति : मिताक्षरा टीका, निर्णय सागर, बम्बई, १९२६ ।

७७. योग-सूत्र : पतंजलि, भारती विद्याप्रकाशन, वाराणसी ।

७८. रघुवंश : कालिदास (मल्लिनाथ टीका), निर्णय सागर, बम्बई १९२९ ।

७९. रस गंगाधर : पण्डितराज जगन्नाथ, निर्णय सागर, बम्बई १९३९ ।

८०. रस गंगाधर : संस्कृत व्याख्याकार—श्री बदरीनाथ झा, हिन्दी व्याख्याकार—श्री मदनमोहन झा, चौ० विद्याभवन, १९५५ ।

८१. रस चन्द्रिका : पं० विश्वेश्वर पाण्डेय, सम्पादक—पं० विष्णु प्रसाद भण्डारी चौ० सं० सी०, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला नं० ५३, १९२६ ।

८२. रस तरंगिणी : भानुमिश्र, श्री वेंकटेश्वर—स्टीम मुद्रण यंत्रालय, सम्वत् १९७१, शक १८३६ ।

८३. रसमंजरी : भानुमिश्र, सम्पादक—रामशास्त्री तैलंग, चौखम्बा प्रकाशन, बनारस संस्कृत सीरीज़ नं० ८३, सन् १९०४ ।

८४. रस मंजरी : भानुमिश्र, सं० पण्डित नरहरि शास्त्री, श्री हरिकृष्ण निबन्ध भवन बनारस सिटी, १९२९ ।

८५. रसार्णव सुधाकर : शिंगभूपाल, सं० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़, १९१६ ।

८६. रसार्णव सुधाकर : शिंगभूपाल, संशोधक—डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय, सागर, १९६९ ।

८७. राग विबोध : सोमनाथ।
८८. राजतरंगिणी : कल्हण, सम्पादक—एम० ए० स्टेन, बम्बई १८६२।
८६. रूपकाष्टक : गा० ओ० सी० नं० ८।
६०. वक्रोक्ति जीवितम् : कुन्तक, सं० सुशील कुमार डे, कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज, १६२६।
६१. वनदुर्गोपनिषद्।
६२. वाक्यपदीय : भर्तृहरि (पुष्पराज हेलाराज की टीका) वाराणसी, १६०५।
६३. वाक्यपदीय (ब्रह्म काण्ड) : भर्तृहरि, चौ० सं० सी०, १६३७।
६४. वाग्भटालंकार : भाग्भट्ट (प्रथम)।
६५. विक्रमोर्वशीयम् : कालिदास, निर्णय सागर, बम्बई, १६४२।
६६. विद्युल्लता : श्री वाणीविलास संस्कृत सीरीज़ नं० १५, श्रीरंगम्।
६७. विष्णुधर्मोत्तरपुराण : सम्पादिका—प्रियबाला शाह, गा० ओ० सी०, बड़ौदा, १६६१।
६८. विष्णु पुराण : अनु० श्री मुन्नीलाल गुप्त, गीता प्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २००६।
६६. वैयाकरण सिद्धान्त लघु मंजूषा : चौखम्बा प्रकाशन।
१००. वृत्तिवार्त्तिक : अप्यय दीक्षित।
१०१. वृत्तिदीपिका : श्रीकृष्ण भट्ट, सं० गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला नं० २६, गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस, १६३०।
१०२. वृहदारण्यकोपनिषद : गीता प्रेस, गोरखपुर।
१०३. शतपथ ब्राह्मण : वाजस्नेयि माध्यन्दिन (सायण भाष्य सहित), लक्ष्मी वेंकटेश्वर-स्टीम प्रेस, बम्बई, सन् १६४०, शक १८८२।
१०४. शतपथ ब्राह्मण : सायण भाष्य सहित, सत्या प्रेस, कलकत्ता, सम्वत् १६६५ सन् १६०८।
१०५. शब्द कल्पद्रुम (प्रथम से पंचम काण्ड तक) : राजा राधाकान्तदेव बहादुर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६६१।
१०६. शक्ति वार्त्तिक।
१०७. शाबर भाष्य : शबर स्वामी।
१०८. शिल्परत्न : त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज़।
१०६. शिव-पुराण : श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, खेतवाड़ी, बम्बई।
११०. शिवोपनिषद्।
१११. श्लोक-वार्त्तिक : कुमारिल भट्ट।
११२. शांखायन आरण्यक : सं० पीटर्सन, बम्बई संस्कृत सीरीज़, १८८८।

११३. श्रीमद्वाल्मीकि रामायण : महर्षि वाल्मीकि, गीता प्रेस, गोरखपुर, प्रथम मंस्करण, सम्वत् २०१७ ।
११४. श्रृंगार प्रकाश, प्रथम भाग (प्रथम से अष्टम प्रकाश तक) : भोज, सं० जी० आर० जोस्येर, कोरोनेशन प्रेस, मैसूर, १९५५ ।
११५. श्रृंगार प्रकाश, द्वितीय भाग (नवम से चतुर्दश प्रकाश तक) : भोज, स० जी० आर० जोस्येर, कोरोनेशन प्रेस, मैसूर, १९६३ ।
११६. सरस्वती कण्ठाभरण : भोज, स० पण्डित केदारनाथ शर्मा तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, काव्यमाला स० ९४, निर्णय सागर, बम्बई, १९३४ ।
११७. सागर कौमुदी ।
११८. साहित्यदर्पण (हिन्दी) : विश्वनाथ सं० डा. सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, विद्या भवन सस्कृत ग्रन्थमाला नं० २६, १९५७ ।
११९. साहित्य-मीमांसा : रुय्यक ।
१२०. सिद्धान्त कौमुदी : भट्टोजी दीक्षित, निर्णय सागर, बम्बई, १९४२ ।
१२१. सिद्धान्त कौमुदी : भट्टोजी दीक्षित : वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९२६ ।
१२२. सुरथोत्सव : सोमेश्वर ।
१२३. संगीत दर्पण : दामोदर पण्डित ।
१२४. संगीत मकरन्द : नारद ।
१२५. संगीत रत्नाकर (भाग १) : शार्ंगदेव, सं० पण्डित एस० सुब्रह्मणयम शास्त्री, अडयार लाइब्रेरी नं० ३०, १९४३ ।
१२६. संगीत रत्नाकर (भाग २) शार्ंगदेव, स० पं० एस० सुब्रह्मणयम शास्त्री, अडयार लाइब्रेरी ।
१२७. संगीत रत्नाकर (भाग ३) शार्ंगदेव, सम्पादक पण्डित एस० सुब्रह्मणयम शास्त्री, अडयार लाइब्रेरी ।
१२८. संगीत रत्नाकर (भाग ४) : शार्ंगदेव, स० पण्डित एस० सुब्रह्मणयम शास्त्री, अडयार लाइब्रेरी नं० ८६, १९५३ ।
१२९. संगीत रत्नाकर : शार्ंगदेव, आनन्द शर्मा सीरीज़ ।
१३०. संगीत सुधाकर : राजा हरिपाल, मद्रास एम० एस० आर० नं० ३०८२ ।
१३१. स्वरमेलकलानिधि : रामामात्य ।
१३२. हरिभक्ति रसामृतसिंधु : रूपगोस्वामी ।
१३३. हरिवंश पुराण : श्री जिनसेन सूरि, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, हीरबाग, बम्बई ।
१३४. हर्षचरितम् : बाणभट्ट ।

१३५. त्रिविक्रम महानारायणोपनिषद् ।

१३६. त्रिवेणिका : आशाधर भट्ट, स० गोपीनाथ कविराज, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला नं० १४, गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस, १९२५ ।

पाण्डुलिपियाँ :

१. काव्यादर्श : सोमेश्वर, जैसलमेर भण्डार (गा० ओ० सी० नं० २१) ।

२. रसरत्न दीपिका : अल्लराज, बड़ौदा ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट लाइब्रेरी, पाण्डुलिपि प्रति नं० ११३३० ।

हिन्दी ग्रन्थ :

१. काव्यदर्पण : विद्यावाचस्पति पण्डित रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना-४, १९६० ।

२. काव्यप्रदीप : पं० रामबहोरी शुक्ल, चौखम्बा प्रकाशन ।

३. काव्यात्म मीमांसा : डा० जयन्त मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन ।

४. काव्यालोक : पं० रामदहिन मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन ।

५. भरत और भारतीय नाट्यकला : सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७० ।

६. भरत का संगीत-सिद्धान्त : आचार्य बृहस्पति, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, हिन्दी समिति ग्रन्थमाला - २८, १९५९ ।

७. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त : प्रो० राजवंश सहाय 'हीरा', चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी-१, १९६७ ।

८. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन : डा० प्रेमस्वरूप गुप्त, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, १९६२ ।

९. रुद्रट प्रणीत काव्यालंकार : डा० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, माडल टाउन, दिल्ली-९, १९६५ ।

पत्रिका :

'भारतीय साहित्य' (पत्रिका) अंक १-२, क० मुंशी हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्व विद्यालय, आगरा, सन् १९६९ ।

लेख का शीर्षक—'संगीत परम्परा और भरतार्णव' लेखक—डा० पारसनाथ द्विवेदी, आगरा कालेज, आगरा ।

अंग्रेजी के ग्रन्थ :

1. Bhoja's Srngara Prakash : V. Raghvan, Karnatak Publishing House, Bombay, 1940.
2. Contributions to the History of the Hindu Drama : M. M. Ghosh, Firma K. L. Mukhopadhyaya, Calcutta, 1958.
3. History of Indian Literature : A. M. Winternitz, (English Translation) Calcutta University, Calcutta.
4. History of Sanskrit Literature : S. K. De, Calcutta University, Calcutta, 1947.
5. History of Sanskrit Poetics (In Two Volumes) : S. K. De, Calcutta, 1960.
6. History of Sanskrit Poetics : P. V. Kane., Motilal Banarasidas Varanasi, 1961.
7. Religion and Psychology.
8 Sanskrit Drama : A. B. Keith., Oxford University Press, 1924.
9. Sanskrit-English Dictionary : M. A. Williams., Oxford, London, 1951.
10. Select Inscriptions, bearing on Indian Civilization : Dr. D. C. Sercar, Calcutta, 1942.
11. Seven Words in Bharat, What they signify : K. M. Varma, Orient Longman's, 1958.
12. Some Concepts of the Alamkara Shastra : V. Raghvan, Adyar Library, Adyar, 1942.
13. The Indian Theatre : Prof. C. B. Gupta, Motilal Banarasidas, Varanasi, 1954.
14. The Number of Rasas : V. Raghvan, Adyar Library, Adyar, 1940.
15. Theory of Rasa in Sanskrit Drama : Hari Ram Misra, Vindyachal Prakashan Chhatarpur (M. P.) 1964.
16. Types of Sanskrit Drams : Mankad, University Prakashan Mandir, D. Karavadu., 1930.

अंग्रेजी के निबन्ध पत्र-पत्रिकाएँ, विषय सूचियाँ एवं पाण्डुलिपियाँ
(Essays, Journals, Catalogues & MSS)

1. A Catalogue of Government Oriental MSS Library, Madras, Vol. 22.
2. A Catalogue of Sanskrit MSS in the Private Libraries of Gujarat : Dr. Whoolar.
3. A MS No. 7978 in the Library of the Oriental Research Institute of Baroda.
4. Journal of Andhra Historical Research Society : Prof. Ram-Krishna (I, II, III Editions).
5. Journal of Asiatic Society, London. 1911.
6. Journal of Baroda Central Library. No. 8.
7. Journal of Royal Asiatic Society, Bengal.
   The title – 'The Shakta Pithas.'
   Author – Dr. D. C. Sarcar. 1948.
8. Journal of Oriental Research, Madras.

——